प्राचीन भारत

कक्षा 11 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

रामशरण शर्मा

जून 1999
आषाढ़ 1921
PD 75T SC

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 1999

सर्वाधिकार सुरक्षित

☐ प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फ़ोटोप्रतिलिपि, रिकार्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।

☐ इस पुस्तक को बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय, या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।

☐ इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

प्रकाशन सहयोग

पूरन चंद *प्रोफेसर एवं अध्यक्ष* प्रकाशन प्रभाग
एम.जी. भगत *संपादक* कल्याण बैनर्जी *उत्पादन अधिकारी*
शशि चड्ढा *संपादन सहायक* अरुण चितकारा *सहायक उत्पादन अधिकारी*
गोविंद राम *संपादन सहायक* जहान लाल *उत्पादन सहायक*

आवरण : कल्याण बैनर्जी

मुखावरण: नागार्जुनाकोंड से प्राप्त तीसरी सदी की एक शिला पट्टी जिसमें एक स्तूप को दिखाया गया है।

पश्चावरण: मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक सील

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

प्राक्कथन

दस वर्षों तक आम शिक्षा देने के बाद उच्चतर माध्यमिक स्तर के दो वर्षों की शिक्षा का उद्देश्य छात्र को अपनी रुचि के कुछ विषयों के अध्ययन की शुरुआत के लिए अवसर प्रदान करना है। इस स्तर का लक्ष्य छात्र को उच्च अध्ययन के लिए तैयार करना है, जिससे कुछ चुने हुए क्षेत्रों में वह अपना अध्ययन जारी रख सके। लेकिन कुछ लोग अपनी औपचारिक शिक्षा यहीं पर छोड़ देते हैं, उनके लिए इस स्तर की शिक्षा का उद्देश्य है–काम की व्यावहारिक दुनिया में कदम रखने में उनकी मदद करना।

स्कूल शिक्षा के प्रथम दस वर्षों में इतिहास आम शिक्षा में समेकित पाठ्यक्रम का एक हिस्सा होता है। इन कक्षाओं में इसका उद्देश्य भारतीय इतिहास और विश्व इतिहास की प्रमुख धाराओं से विद्यार्थी को परिचित कराना होता है। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पहुँचकर (कक्षा 11 तथा 12 में) छात्र विषय का व्यवस्थित अध्ययन आरंभ करता है और उसका विषय विशेष की गहराई से परिचय होता है। इसका अर्थ यह है कि इस स्तर पर वस्तुगत दृष्टि से अतीत के अध्ययन के लिए छात्र में अभिवृत्ति विकसित करने में मदद मिलती है। ज्ञान के कई क्षेत्रों और उद्देश्यों पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में बल दिया गया है, जो इतिहास के अध्ययन से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। भारत की सांस्कृतिक विरासत की समझ को बढ़ावा देना, अंधविश्वास तथा दकियानूसी विचारों से लड़ना तथा मानवीय और प्रगतिशील दृष्टिकोण को बढावा देना शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में हैं और इतिहास शिक्षण के भी ये आधारभूत उद्देश्य हैं।

प्राचीन भारत के इतिहास से संबंधित इस पाठ्यपुस्तक का पूर्व संस्करण एक संपादक-मंडल के तत्वावधान में प्रोफेसर रामशरण शर्मा ने तैयार किया था। इस सपादक-मंडल के सदस्य थे– प्रोफेसर सतीश चन्द्र (अध्यक्ष), प्रोफेसर रामशरण शर्मा, प्रोफेसर वरुण दे, प्रोफेसर एम. जी.एस. नारायणन, प्रोफेसर एस.एच. खान तथा प्रोफेसर अर्जुन देव (संयोजक)। इस पुस्तक को 1977 में पहली बार प्रकाशित किया गया था। 1980 में इसका एक संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अपनाए जाने और परिषद् द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा पाठ्यचर्या और विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम के बनाए जाने के बाद प्रोफेसर शर्मा ने इस पुस्तक का नया संशोधित संस्करण तैयार किया जिसका प्रथम प्रकाशन 1990 में हुआ। तत्पश्चात् 1990 के संस्करण के हिंदी, अंग्रेजी तथा उर्दू में कई पुनर्मुद्रण हो चुके हैं। प्रोफेसर रामशरण शर्मा ने अब प्रस्तुत संस्करण तैयार किया है जिसके लिए परिषद् उनके प्रति आभार प्रकट करती है। प्रोफेसर शर्मा ने विशेषज्ञों, अध्यापकों, छात्रों तथा आम पाठकों द्वारा दिए गए सुझावों और टिप्पणियों को तथा इतिहास में हाल के वर्षों में हुए शोध कार्य को ध्यान में रख कर इस संस्करण को तैयार किया है।

इस पुस्तक में प्रागैतिहासिक काल से लेकर लगभग आठवीं शताब्दी तक के प्राचीन भारत का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। राजवंशों के इतिहास के विस्तार में जाने की जगह इस पुस्तक में प्राचीन भारत में सभ्यता और संस्कृति के आरंभ, विकास और प्रसार के पीछे सक्रिय शक्तियों और कारकों पर खासतौर से जोर देने की कोशिश की गई है। सभ्यता के विभिन्न पक्षों का आरंभ और प्रसार, भारत में हुई एक विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के विकास तथा राज्यों की संरचना का स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है। सांस्कृतिक विकास के भौतिक पहलुओं के आविर्भाव और प्रसार पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। इस पुस्तक में प्राचीन काल में भारतीय समाज में हुए विकास की प्रमुख अवस्थाओं को रेखांकित करने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक प्राचीन भारत के लोगों द्वारा राजनीति, कला, साहित्य, दर्शन, धर्म तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में किए गए योगदान पर विशेष बल देती है।

इस संस्करण के प्रकाशन में हर स्तर पर सहायता के लिए मैं अपनी सहयोगी कुमारी मिली राय तथा श्री महेश कुमार सिंह के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने बहुत ही परिश्रम, निष्ठा तथा योग्यतापूर्वक इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को तैयार करने में सहयोग किया। साथ ही उन्होंने पुस्तक के प्रकाशन के समय विभिन्न स्तरों पर अपना योगदान दिया और इस पुस्तक की अनुक्रमणिका भी पूरी तरह तैयार की। मैं अपने सहयोगी प्रोफेसर अर्जुन देव तथा प्रोफेसर इंदिरा अर्जुन देव के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने न केवल इस संस्करण को अंतिम रूप देने और प्रकाशन में अपना योगदान दिया है बल्कि उन्होंने पहले के संस्करणों को अंतिम रूप देने और प्रकाशन में भी अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। हम भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की कु. अरुंधती बनर्जी और श्री ए.के. घोष के विशेष रूप से आभारी हैं। कु. बनर्जी ने इस पुस्तक में दिए गए चित्रों के चयन में और श्री घोष ने इस पुस्तक के रेखाचित्र तथा मानचित्र बनाकर हमारी सहायता की है। हम भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के आभारी हैं जहाँ से हमें इस पाठ्यपुस्तक में दिए गए चित्र उपलब्ध हुए हैं। मापन तथा मूल्यांकन विभाग ने इस पुस्तक के अभ्यास के प्रश्नों को बनाने में हमारी मदद की है। डॉ. कमरुद्दीन (अवकाश प्राप्त) का इसमें विशेष सहयोग मिला है। हम उन उसके प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

यह पुस्तक परिषद् द्वारा प्रकाशित उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए इतिहास की पुस्तकों की शृंखला का एक भाग है। भारत के इतिहास के मध्य काल, आधुनिक काल तथा समकालीन विश्व इतिहास पर भी परिषद् द्वारा पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के किसी भी पक्ष पर टिप्पणियों और सुझावों का राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् स्वागत करेगी।

अशोक कुमार शर्मा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

कृतज्ञता ज्ञापन

प्रस्तुत पुस्तक के इस संस्करण को तैयार करने और अद्यतन बनाने में मुझे प्रोफेसर सीताराम राय और डा. अंजनी कुमार से सहायता मिली है। प्रोफेसर इंदिरा अर्जुन देव और प्रोफेसर अर्जुन देव ने पांडुलिपि का अवलोकन किया। कु. मिली राय और महेश कुमार सिंह ने पांडुलिपि को अंतिम रूप देने और उसके प्रकाशन में विभिन्न स्तरों पर सहायता प्रदान की। मैं इन सब विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

– रामशरण शर्मा

विषय-सूची

प्राक्कथन iii

कृतज्ञता-ज्ञापन v

चित्रों की सूची xi

मानचित्रों की सूची xiv

अध्याय 1 **प्राचीन भारतीय इतिहास का महत्त्व** 1
अनेकता में एकता–वर्तमान में अतीत की प्रासंगिकता

अध्याय 2 **प्राचीन भारतीय इतिहास के आधुनिक लेखक** 5
उपनिवेशवादियों के विचार और योगदान–राष्ट्रवादियों की दृष्टि और योगदान–अराजनैतिक इतिहास की ओर मोड़

अध्याय 3 **स्रोतों के प्रकार और इतिहास का निर्माण** 11
भौतिक अवशेष–सिक्के–अभिलेख–साहित्यक स्रोत–विदेशी विवरण–ऐतिहासिक दृष्टि–इतिहास का निर्माण

अध्याय 4 **भौगोलिक ढाँचा** 25

अध्याय 5 **प्रस्तर-युग : आदिम मानव** 36
पुरापाषाण (पेलिअॅलिथिक) युग : आखेटक और खाद्य-संग्राहक –पुरापाषाण युग की अवस्थाएँ–मध्यपाषाण (मिसोलिथिक) युग: आखेटक और पशुपालक–प्राचीनतम कलाकृतियाँ–नवपाषाण (नियोलिथिक) युग : खाद्य उत्पादक

अध्याय 6 **ताम्रपाषाण कृषक संस्कृतियाँ** 46
ताम्रपाषाण युग की बस्तियाँ–ताम्रपाषाण अवस्था का महत्त्व–ताम्रपाषाण संस्कृतियों की दुर्बलताएँ–ताम्र-निधियाँ और गैरिक मृद्भांड अवस्था

अध्याय 7 **हड़प्पा संस्कृति : कांस्य युग सभ्यता** 58
भौगोलिक विस्तार–नगर-योजना और संरचनाएँ–कृषि–पशुपालन–शिल्प और तकनीकी ज्ञान–व्यापार–राजनीतिक संगठन–धार्मिक प्रथाएँ–सिन्धु घाटी के पुरुष देवता–वृक्षों और पशुओं की पूजा–हड़प्पाई लिपि–माप-तौल–मृद्भांड–मुहरें

(सीलें)–प्रतिमाएँ–मृण्मूर्तिकाएँ (टेराकोटा फिगरिन)–उद्भव, उत्थान और अवसान–हड़प्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था

अध्याय 8 **आर्यों का आगमन और ऋग्वैदिक युग** 77
मूल निवास-स्थान और पहचान–जनजातीय संघर्ष–भौतिक जीवन–जनजातीय राज्यव्यवस्था–कबीला और परिवार–सामाजिक वर्गीकरण–ऋग्वैदिक देवता

अध्याय 9 **उत्तर वैदिक अवस्था : राज्य और वर्ण व्यवस्था की ओर** 86
उत्तर वैदिक काल (1000-600 ई.पू.) में आर्यों का विस्तार–चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.)–लौहावस्था संस्कृति और उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था–राजनीतिक संगठन–सामाजिक संगठन–देवता, अनुष्ठान और दर्शन

अध्याय 10 **जैन और बौद्ध धर्म** 98
उद्भव के कारण–वर्धमान महावीर और जैन सम्प्रदाय–जैन धर्म के सिद्धांत–जैन धर्म का प्रसार–जैन धर्म का योगदान–गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म–बौद्ध धर्म के सिद्धांत–बौद्ध धर्म की विलक्षणताएँ और इसके प्रसार के कारण–बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण–बौद्ध धर्म की उपादेयता और प्रभाव

अध्याय 11 **जनपद-राज्य और प्रथम मगध साम्राज्य** 111
महाजनपद–मगध साम्राज्य की स्थापना और विस्तार–मगध की सफलता के कारण

अध्याय 12 **ईरानी और मकदूनियाई आक्रमण** 118
ईरानी आक्रमण–सम्पर्क के परिणाम–सिकन्दर का आक्रमण –सिकन्दर के आक्रमण के परिणाम

अध्याय 13 **बुद्ध काल में राज्य और वर्ण-समाज** 123
भौतिक जीवन–प्रशासन पद्धति–सेना और कराधान–गणतांत्रिक प्रयोग–सामाजिक वर्गीकरण और विधि व्यवस्था

अध्याय 14 **मौर्य युग** 134
चन्द्रगुप्त मौर्य–साम्राज्य का संगठन–अशोक (273-232 ई.पू.) –अशोक के अभिलेख–कलिंग युद्ध का प्रभाव–आन्तरिक नीति

और बौद्ध धर्म–इतिहास में अशोक का स्थान

अध्याय 15 **मौर्य शासन का महत्त्व** 142
राजकीय नियंत्रण–आर्थिक नियंत्रण–ललितकला और वास्तुकला–मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

अध्याय 16 **मध्य एशिया से संपर्क और उनके परिणाम** 153
हिन्द-यूनानी–शक–पार्थियाई या पहल्व–कुषाण–मध्य एशिया से सम्पर्कों के प्रभाव–भवन और मृद्भांड–उत्कृष्ट अश्वारोही सेना–व्यापार और खेती–राज्य व्यवस्था–भारतीय समाज में नए तत्व–धार्मिक विकास–बौद्ध महायान सम्प्रदाय का उद्भव–कला की गान्धार और मथुरा शैली–साहित्य और विद्या–विज्ञान और प्रौद्योगिकी

अध्याय 17 **सातवाहन युग** 168
राजनीतिक इतिहास–भौतिक संस्कृति के पहलू–सामाजिक संगठन–प्रशासनिक ढाँचा–धर्म–वास्तुकला–भाषा

अध्याय 18 **सुदूर दक्षिण में इतिहास का आरंभ** 176
महापाषाणिक (मेगालिथिक) पृष्ठभूमि–राज्य का बनना और सभ्यता का उदय–तीन आरम्भिक राज्य–धन और तलवार–सामाजिक वर्गों का उदय–ब्राह्मण संस्कृति का आरम्भ–तमिल भाषा और संगम साहित्य–संगम ग्रन्थों में सामाजिक विकास की झलक

अध्याय 19 **मौर्योत्तर युग में शिल्प, व्यापार और नगर** 186
शिल्प–विदेश व्यापार–मुद्रा अर्थव्यवस्था–शहरी बस्तियाँ

अध्याय 20 **गुप्त साम्राज्य का उद्भव और विकास** 196
पृष्ठभूमि–चन्द्रगुप्त प्रथम (319-334 ई.)–समुद्रगुप्त (335.380 ई.)–चन्द्रगुप्त द्वितीय (380-412 ई.)–गुप्त साम्राज्य का पतन

अध्याय 21 **गुप्त काल का जीवन** 203
प्रशासन-पद्धति–व्यापार और कृषिमूलक अर्थव्यवस्था की प्रवृत्तियाँ–सामाजिक गतिविधि–बौद्ध धर्म की अवस्था–भागवत सम्प्रदाय का उद्भव और विकास–कलाएँ–साहित्य–विज्ञान और प्रौद्योगिकी

अध्याय 22 **पूर्वी भारत में सभ्यता का प्रसार** 216
सभ्यता के लक्षण–उड़ीसा और पूर्वी एवं दक्षिणी मध्य प्रदेश–बंगाल–असम–रचनात्मक काल

अध्याय 23 **हर्ष और उसका काल** 223
हर्ष का राज्य–प्रशासन–हुआन सांग का विवरण–बौद्ध धर्म और नालन्दा

अध्याय 24 **प्रायद्वीप में नए राज्यों के गठन और ग्राम-विस्तार** 228
नई अवस्था–दकन और दक्षिण भारत के राज्य–पल्लव-चालुक्य संघर्ष–मन्दिर–किसानों पर कर-भार–ग्रामीण विस्तार–सामाजिक ढाँचा

अध्याय 25 **दर्शन का विकास** 239
सांख्य-योग–न्याय–वैशेषिक–मीमांसा–वेदान्त–जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टि

अध्याय 26 **भारत का एशियाई देशों से सांस्कृतिक सम्पर्क** 243

अध्याय 27 **प्राचीन से मध्यकाल की ओर** 248
सामाजिक संकट और भूमि संबंधी परिवर्तन–भूस्वामियों का उदय–नई कृषि-अर्थव्यवस्था–व्यापार का ह्रास और प्राचीन नगरों का पतन–वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन–सांस्कृतिक विकास–भक्ति और तन्त्र सम्प्रदाय

अध्याय 28 **सामाजिक परिवर्तनों का अनुक्रम** 256
जनजातीय और पशुचारण अवस्था–कृषि और उच्च वर्गों का उद्भव–उत्पादन और शासन की वर्णमूलक व्यवस्था–सामाजिक संकट और भूस्वामी वर्ग का उदय–सारांश

अध्याय 29 **विज्ञान और सभ्यता की विरासत** 263
धर्म–वर्णव्यवस्था–दार्शनिक पद्धतियाँ–शिल्प और प्रौद्योगिकी–राजतंत्र–विज्ञान और गणित–आयुर्विज्ञान–भूगोल–कला और साहित्य

ग्रन्थ सूची 270

अनुक्रमणिका 276

चित्रों की सूची

अध्याय 5

1. पुरापाषाण युग के औजार : हस्त-कुठार, विदारणी और खंडक 36
2. बीरभान (पश्चिम बंगाल) तथा तिन्नेवेल्ली (तमिलनाडु) से प्राप्त मध्यपाषाण युग के औज़ार 39
3. नवपाषाण युग के औजार 39
4. बुर्ज़होम के गड्ढों वाले घर 41
5. बुर्ज़होम से प्राप्त नवपाषाण कालीन हड्डी के औज़ार 42

अध्याय 6

6. अहार (राजस्थान) से प्राप्त श्वेत चित्रित काले-लाल रंग के मिट्टी के बर्तन (लगभग 1500 ई.पू.) 46
7. नवदाटोली (मालवा) से प्राप्त मिट्टी के बर्तन (लगभग 1500 ई.पू.) 49
8. जोरवे (महाराष्ट्र) से प्राप्त लाल और काले रंग से चित्रित मिट्टी के बर्तन (लगभग 1200 ई.पू.) 50
9. इनामगांव : मकानों की समाकृतिक पुनर्रचना 51
10. गंगा-यमुना दोआब से प्राप्त तांबे के औज़ार 54

अध्याय 7

11. कालीबंगा में उत्खनित स्थलों का एक दृश्य 58
12. हड़प्पा नगर योजना 60
13. मोहेंजोदड़ो का विशाल स्नानागार 61
14. हड़प्पा के अनाज के कोठार का समाकृतिक प्रक्षेप 62
15. मोहेंजोदड़ो की ढकी नालियाँ 64
16. मोहेंजोदड़ो में मिली मातृदेवी की मूर्ति 67
17. मोहेंजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की मुहर 68
18. लोथल से प्राप्त मिट्टी का बर्तन 70
19. मोहेंजोदड़ो की एक मुहर जिस पर कूबड़ वाले बैल की आकृति बनी है 70
20. काली बंगा में मिली मुहरें 71

अध्याय 9

21. चित्रित धूसर मृद्भांड 86
22. अतरंजी खेड़ा में चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.) स्तर से प्राप्त लौह सामग्रियाँ 88

अध्याय 10

23. पंचमार्क सिक्के 100

अध्याय 14

24. रुम्मिनदेई स्तंभ का अभिलेख 138

अध्याय 15

25. लौरिया-नंदनगढ़ का अशोक स्तंभ 145
26. रामपुरवा का वृषभ-शीर्ष 145
27. मौर्य काल की एक मृण्मूर्ति 146
28. बराबर पहाड़ियों में स्थित लोमश ऋषि की गुफा का एक दृश्य 147
29. रोपड़ में प्राप्त छल्लेदार कुएँ 148

अध्याय 16

30. हिन्द-यूनानी सिक्के 153
31. तक्षशिला के निकट कलवान से प्राप्त पहली सदी ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख 155
32. कनिष्क के सिक्के 158
33. विदिशा के निकट हिलियोदोरस का स्तम्भ 160
34. प्राचीन नगर तक्षशिला के अवशेषों का हवाई चित्र 161
35. गांधार शैली में बुद्ध 163
36. मथुरा से प्राप्त मूर्ति 163
37. सांची का स्तूप 164
38. भरहुत का पट्टचित्र 165
39. चांदी के सिक्के 165

अध्याय 17

40. कार्ले का चैत्य 174
41. अमरावती में बुद्ध के चरण-चिह्नों की पूजा 174

42. नागार्जुनकोंड में बुद्ध का उपदेश 174

अध्याय 18

43. महापाषाणी कब्र 177
44. ईस्वी संवत् की आरंभिक शताब्दियो में निर्मित हाथी-दांत पर पच्चीकारी के नमूने 180

अध्याय 19

45. तेर (जिला ओस्मानाबाद) में मिली मृण्मूर्ति 193
46. नागार्जुनकोंड में स्टेडियम के अवशेष 193

अध्याय 20

47. इलाहाबाद के स्तंभ पर समुद्रगुप्त का अभिलेख 198
48. चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्के 199

अध्याय 21

49. देवगढ़ की नर-नारायण की मूर्ति 208
50. गुप्तकाल में बना सांची का मंदिर 210
51. सारनाथ में बुद्ध की मूर्ति 210
52. अहिच्छत्र (जिला बरेली) में यमुना की मूर्ति 211
53. मथुरा में बुद्ध की मूर्ति 211
54. अजंता में अप्सरा का चित्र 212
55. दिल्ली में लौह-स्तम्भ 214

अध्याय 23

56. नालंदा में एक स्तूप का ध्वंसावशेष 226
57. बादामी का गुफा-मंदिर 230
58. महाबलिपुरम् के रथ-मंदिर 234
59. कांची का कैलाशनाथ मंदिर 234

अध्याय 26

60. अफ़गानिस्तान के बामियान में मिली बुद्ध की मूर्ति 244
61. बोरोबूदुर मंदिर का विहंगम दृश्य 245

मानचित्रों की सूची

1. भारत : प्राकृतिक 28
2. भारत : वार्षिक वर्षा 31
3. भारत : तांबे, लौह-अयस्क और सोने के निक्षेप 33
4. नवपाषाण युग स्थल 43
5. ताम्रपाषाण कालीन स्थल 48
6. हड़प्पा सभ्यता 63
7. भारत में चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.) संस्कृति का वितरण 89
8. महाजनपद 112
9. उत्तरी काले पालिशदार मृदभांडों (एन.बी.पी.डब्ल्यू.) का वितरण 124
10. अशोक का साम्राज्य 137
11. मध्य एशियाई संपर्क 154
12. भारत 150 ई. के लगभग 169
13. भारत – लगभग 200 ई.पू. से 300 ई. 187
14. प्राचीन व्यापार मार्ग 189
15. गुप्त साम्राज्य चौथी शताब्दी के अंत में 200
16. दकन और दक्षिण भारत (300 ई.-750 ई.) 229

अध्याय 1

प्राचीन भारतीय इतिहास का महत्त्व

प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इससे हम जानते हैं कि मानव-समुदायों ने हमारे देश में प्राचीन संस्कृतियों का विकास कब, कहाँ और कैसे किया। यह बतलाता है कि उन्होंने कृषि की शुरुआत कैसे की जिससे कि मानव का जीवन सुरक्षित और सुस्थिर हुआ। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के निवासियों ने किस तरह प्राकृतिक संपदाओं की खोज की और उनका उपयोग किया, तथा किस प्रकार उन्होंने अपनी जीविका के साधनों की सृष्टि की। हम यह भी जान पाते हैं कि उन्होंने खेती, कताई, बुनाई, धातुकर्म आदि की शुरुआत कैसे की, कैसे जंगलों की सफाई की, और कैसे ग्रामों, नगरों तथा अन्ततः राज्यों की स्थापना की।

कोई समुदाय तब तक सभ्य नहीं समझा जाता जब तक वह लिखना न जानता हो। आज भारत में जो विभिन्न प्रकार की लिपियाँ प्रचलन में हैं उन सबका विकास प्राचीन लिपियों से हुआ। हमारी आज की भाषाओं का भी वही हाल है। हमारी वर्तमान भाषाओं की जड़ें अतीत में हैं और वे कई युगों में विकसित हुई हैं।

अनेकता में एकता

प्राचीन भारत का इतिहास बड़ा रोचक है क्योंकि भारत अनेकानेक मानव-प्रजातियों का संगम रहा है। प्राक्-आर्य, हिंद-आर्य, यूनानी, शक, हूण और तुर्क आदि अनेक प्रजातियों ने भारत को अपना घर बनाया। हर प्रजाति ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था, शिल्पकला, वास्तुकला और साहित्य के विकास में यथाशक्ति अपना-अपना योग दिया। ये सभी समुदाय और इनके सारे सांस्कृतिक वैशिष्ट्य नीरक्षीरवत् इस तरह मिल गए कि आज उनमें से किसी को हम उनके मूल रूप में साफ-साफ पहचान भी नहीं सकते हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति की विलक्षणता यह रही है कि इसमें उत्तर और दक्षिण के, तथा पूर्व और पश्चिम के, सांस्कृतिक उपादान समेकित हो गए हैं। आर्य सांस्कृतिक उपादान उत्तर के वैदिक और संस्कृतमूलक संस्कृति के अंग हैं तो प्राक् आर्यजातीय उपादान दक्षिण की द्रविड़ और तमिल संस्कृति से आए हैं। लेकिन द्रविड़ और संस्कृतेतर भाषाओं के बहुत-सारे शब्द उन वैदिक ग्रन्थों में भी पाए जाते हैं जिनका काल 1500-500 ई. पू. के

बीच बताया जाता है; ये शब्द प्रायद्वीपीय एवं वैदिकेतर भारत से संबद्ध भावनाओं, संस्थाओं, उत्पादनों और निवासों के द्योतक हैं। इसी प्रकार, पालि और संस्कृत के बहुत शब्द जो गंगा के मैदानों में विकसित भावनाओं और संस्थाओं के द्योतक हैं, वे लगभग 300 ई. पू.-600 ई. के **संगम** नाम से प्रसिद्ध प्राचीनतम तमिल ग्रन्थों में मिलते हैं। इसमें भारत के पूर्वांचल ने भी, जहाँ प्राक्-आर्य जातियाँ बसी हुई हैं, अपना योगदान किया है; यहाँ के लोग मुंडा या कोल भाषाएँ बोलते हैं। भाषा वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि हिंद-आर्य भाषाओं में फाहा, नौका, खंती (डिगिंग स्टिक) आदि के सूचक बहुत शब्द मिलते हैं। वे मुंडा भाषाओं से लिए गए हैं। यद्यपि छोटानागपुर के पठार में बहुत-से मुंडा परिसर हैं, फिर भी मुंडा संस्कृति का पुरावशेष उतना नहीं है जितना द्रविड़ संस्कृति का। द्रविड़ भाषा के भी अनेक शब्द हिंद-आर्य भाषाओं में पाए जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि वैदिक भाषा में जो ध्वन्यात्मक और शब्दात्मक परिवर्तन लक्षित होते हैं उनकी व्याख्या मुंडा प्रभाव के आधार पर जितनी की जा सकती है उतनी ही द्रविड़ प्रभाव के आधार पर।

भारत प्राचीन काल से ही विविध धर्मों का प्रांगण रहा है। प्राचीन भारत में हिंदू, जैन और बौद्ध धर्मों का उदय हुआ, परंतु इन सभी धर्मों और संस्कृतियों का पारस्परिक सम्मिश्रण और प्रभाव-प्रति-प्रभाव इस प्रकार हुआ कि लोग भले ही भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते, भिन्न-भिन्न धर्मों को मानते और भिन्न-भिन्न सामाजिक रीति-रिवाजों पर चलते हों, पर सारे देश में सभी की एक सामान्य जीवन पद्धति है। हमारे देश में विविधताओं के बावजूद भीतर से गहरी एकता झलकती है।

प्राचीन भारत के लोग एकता के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने इस विशाल उपमहाद्वीप को एक अखंड देश समझा। सारे देश को भरत नामक एक प्राचीन वंश के नाम पर **भारतवर्ष** (अर्थात् भरतों का देश) नाम दिया गया और इस के निवासियों को **भरत संतति** कहा गया। हमारे प्राचीन कवियों, दार्शनिकों और शास्त्रकारों ने इस देश को अखंड इकाई के रूप में देखा। हिमालय से समुद्र तक फैली इस भूमि की उन्होंने सार्वभौम (सकल देशव्यापी) राजा के द्वारा शासित क्षेत्र के रूप में कल्पना की है। हिमालय से कन्याकुमारी तक, पूर्व में ब्रह्मपुत्र की घाटी से पश्चिम में सिन्धु-पार तक अपना राज्य फैलाने वाले राजाओं का व्यापक रूप से यशोगान किया गया है। ऐसे राजा **चक्रवर्तीन्** कहलाते थे। देश में इस प्रकार की राजनीतिक एकता कम से कम दो बार प्राप्त हुई थी। ईसा-पूर्व तीसरी सदी में अशोक ने अपना साम्राज्य सुदूर दक्षिणांचल को छोड़ सारे देश में फैलाया। फिर ईसा की चौथी सदी में समुद्रगुप्त की विजय-पताका गंगा की घाटी से तमिल देश के छोर तक पहुँची। सातवीं सदी में चालुक्य राजा पुलकेशिन् ने हर्षवर्धन को हराया जो संपूर्ण उत्तर भारत का अधिपति माना जाता था। राजनीतिक एकता के अभाव की स्थिति में भी, सारे देश में राजनीतिक ढाँचा कमो-बेश एक-जैसा रहा। विजेताओं और सांस्कृतिक नेताओं के मन में भारत का भान अखंड भूमि के रूप में ही हुआ है। भारत की इस एकता को विदेशियों ने भी सकारा है। वे सर्वप्रथम सिंधु तटवासियों के संपर्क में आए और इसलिए उन्होंने पूरे देश को ही सिंधु या इंडस नाम दे दिया। हिंद शब्द संस्कृत के

सिन्धु से निकला है और कालक्रमेण यह देश इंडिया के नाम से मशहूर हुआ जो इसके यूनानी पर्याय के बहुत निकट है; यह फारसी और अरबी भाषाओं में हिंद नाम से विदित हुआ।

देश में भाषात्मक और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने के लिए निरंतर प्रयास होते रहे हैं। ईसा-पूर्व तीसरी सदी में प्राकृत देश भर की संपर्क-भाषा (लिंगुआ फ्रैंका) का काम करती थी। सारे देश के प्रमुख भागों में अशोक के शिलालेख प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में लिखे गए थे। बाद में वह स्थान संस्कृत ने लिया और देश के कोने-कोने में राजभाषा के रूप में प्रचलित हुई। यह सिलसिला ईसा की चौथी सदी में आकर गुप्तकाल में और भी मजबूत हुआ। यद्यपि गुप्तकाल के बाद देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, फिर भी राजकीय दस्तावेज संस्कृत में ही लिखे जाते रहे।

यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन महाकाव्य **रामायण** और **महाभारत** तमिलों के प्रदेश में भी वैसे ही आह्लाद और भक्ति-भाव से पढ़े जाते थे जैसे काशी और तक्षशिला की पण्डित मण्डलियों में। इन दोनों महाकाव्यों की रचना मूलतः संस्कृत में हुई थी। बाद में इन्हें विभिन्न स्थानीय भाषाओं में भी प्रस्तुत किया गया। परंतु भारत के सांस्कृतिक मूल्य और चिंतन चाहे जिस किसी भी रूप में प्रस्तुत किये जाएँ, उनका सारतत्व सारे देश में एक-सा रहा है।

भारतीय इतिहास की यह विशेषता है कि यहाँ एक विचित्र प्रकार की सामाजिक व्यवस्था उदित हुई है। उत्तर भारत में वर्ण-व्यवस्था या जाति प्रथा का जन्म हुआ जो सारे देश में व्याप्त हो गई। प्राचीन काल में जो लोग बाहर से आए वे भी किसी-न-किसी वर्ण/जाति में मिल गए। वर्णव्यवस्था ने ईसाइयों और मुसलमानों को भी प्रभावित किया। धर्म परिवर्तन करने वाले लोग किसी-न-किसी जाति के थे, और वे हिंदू धर्म को छोड़ नए धर्म में दीक्षित हो जाने पर भी पूर्व की अपनी जाति के कुछ रीति-रिवाजों पर पूर्ववत् चलते रहे।

वर्तमान में अतीत की प्रासंगिता

आधुनिक काल में हम जिन समस्याओं का सामना कर रहे हैं उन के संदर्भ में भारत के अतीत का अध्ययन विशेष सार्थक सिद्ध होता है। कुछ लोग प्राचीन संस्कृति और सभ्यता को फिर से लौटाने के लिए आवाज उठा रहे है, और भारत के उज्ज्वल अतीत के गुणगान में भावविभोर हो जाते हैं। उन्हें कला-कौशल की प्राचीन वस्तुओं के संरक्षण की उतनी चिंता नहीं है। वास्तव में वे समाज और संस्कृति का पुराना प्रतिमान स्थापित करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में अतीत को ठीक से समझना निहायत जरूरी है। बेशक, भारत के लोगों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति की, पर केवल अतीत की प्रगति के बल पर ही हम आज के ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों का मुकाबला नहीं कर सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीय समाज अन्यायग्रस्त था। वर्णों पर निचले, विशेषतः शूद्रों और चाण्डालों पर, जिस तरह से अपात्रताएँ थोप दी गई थीं वह आज के विचार में बड़ा ही खेदजनक है। अगर पुरानी जीवन पद्धति में परिवर्तन न लाया जाए तो स्वभावतः वे सारी विषमताएँ भी सर उठाएँगी ही। भारत में सभ्यता के विकास की धारा इन सामाजिक भेदभावों की

वृद्धि के साथ-साथ बही है। प्रकृतिमूलक और मानवमूलक कठिनाइयों पर विजय पाने में हमारे पूर्वजों को जो सफलता मिली है उससे हमें भविष्य के लिए प्रेरणा मिलती हैं, पर अतीत को पुनः लौटाने का अर्थ होगा उन सामाजिक विषमताओं को कायम रखना जिनके कारण हमारा देश चिरकाल से दुर्दशाग्रस्त रहा है। इसलिए सही ढंग से अतीत का मर्म समझना आवश्यक है।

प्राचीन, मध्य और उत्तरकाल की बहुत-सी रूढ़ियाँ वर्तमान काल में भी हमारा पीछा करती आई हैं। पुराने लोकाचार, मान्यताएँ, सामाजिक रीति-रिवाज और धार्मिक कर्मकाण्ड विधियाँ लोगों के मन में इतनी गहराई तक पहुँची हुई हैं कि इनसे छुटकारा पाना आसान नहीं है। दुर्भाग्यवश ये पुराने दुराग्रह व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के विकास में भीतर से अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस तरह की बातों को उपनिवेशीय परिस्थिति में जान-बूझकर बढ़ावा दिया जाता रहा। जब तक समाज से अतीत के ऐसे दुराग्रहों को दूर नहीं कर देंगे तब तक भारत तीव्र गति से आगे नहीं बढ़ सकेगा। जातिवाद और संप्रदायवाद हमारे देश को जनतान्त्रिक रास्ते से एकता कायम रखते हुए आगे बढ़ने देने में बाधा डाल रहे हैं। जातीय व्यवधान और पूर्वाग्रह पढ़े-लिखे लोगों के मन में भी शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा को घुसने नहीं देतीं और अपने सामान्य हित में हमें एकताबद्ध नहीं होने देतीं। महिलाओं को नागरिक अधिकार भले ही मिल गए हों, लेकिन समाज में युगों से दबी रहने के कारण वे अपनी भूमिका निभाने में समर्थ नहीं हुई हैं। निम्न वर्ण के लोगों का भी यही हाल है। प्राचीन भारत के अध्ययन से हम तह में पैठ कर पता लगा सकेंगे कि इन दुराग्रहों की जड़ें कहाँ हैं, हम उन कारणों को ढूँढ़ निकाल सकेंगे जिन पर जाति-प्रथा और महिला की पराधीनता टिकी हुई है और संकीर्ण संप्रदायवाद को बढ़ावा मिल रहा है।

अतः प्राचीन भारत का इतिहास केवल उन्हीं लोगों के लिए प्रासंगिक नहीं है जो जानना चाहते हैं कि अतीत का वह उज्ज्वल स्वरूप क्या है जिसे कुछ लोग फिर से लौटाना चाहते हैं, बल्कि उन लोगों के लिए भी है जो देश की प्रगति में बाधा डालने वाले तत्वों को पहचानना चाहते हैं।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :
   मानव-प्रजाति, संस्कृतमूलक संस्कृति, वर्ण, 'अनेकता में एकता', चक्रवर्तिन्।
2. बताएँ कि प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन आज के भारत को समझने के लिए किस प्रकार उपयोगी है।
3. क्या आप समझते हैं कि अतीत को परिवर्तित करना वाँछनीय है? बताएँ क्यों, या क्यों नहीं।
4. प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में विभिन्न संस्कृतियों के मिलकर एक होने के उदाहरण दें।

अध्याय 2

प्राचीन भारतीय इतिहास के आधुनिक लेखक

उपनिवेशवादियों के विचार और योगदान

यद्यपि शिक्षित भारतीयों ने हस्तलिखित महाकाव्यों, पुराणों और जीवनचरितों जैसे ग्रंथों के रूप में अपने पारंपरिक इतिहास को सँजोये रखा, तथापि प्राचीन भारत के इतिहास में आधुनिक ढंग से अनुसंधान अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में आकर आरंभ होता है। ब्रिटेन वालों ने जब यहाँ शासन कायम किया तब उन्हें औपनिवेशिक प्रशासन के हित में इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। जब 1765 में बंगाल और बिहार ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में आया तब शासकों को हिंदुओं के उत्तराधिकार की न्याय-व्यवस्था करने में कठिनाई का अनुभव हुआ। अत: 1776 में सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाने वाली **मनुस्मृति** का अंग्रेजी अनुवाद **ए कोड ऑफ जेन्टू लॉज** के नाम से कराया गया। हिंदुओं के दीवानी न्याय-कार्य में पंडित लोग और मुसलमानों के दीवानी न्याय-कार्य में मौलवी लोग ब्रिटिश जजों के साथ लगा दिए गए। प्राचीन कानूनों और रीति-रिवाजों को समझने के लिए प्रयास आरंभ हुआ, जो व्यापक रूप से अठारहवीं सदी तक चलता रहा, और इसी के परिणाम-स्वरूप 1784 में कलकत्ता में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल नामक शोध संस्था की स्थापना हुई। इसकी स्थापना ईस्ट इंडिया कंपनी के सर विलियम जोन्स (1746-1794) नामक सिविल सर्वेंट ने की जिन्होंने 1789 में **अभिज्ञानशाकुंतलम्** नामक नाटक का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जबकि हिंदुओं के परम प्रसिद्ध धार्मिक ग्रंथ **भगवद्गीता** का अंग्रेजी अनुवाद 1785 में विल्किन्स ने किया। 1804 में बंबई में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई, और 1823 में लंदन में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन स्थापित हुई। विलियम जोन्स ने यह प्रतिपादित किया कि मूलत: यूरोपीय भाषाएँ संस्कृत और ईरानी भाषाओं से बहुत ही मिलती हैं। इस तथ्य की खोज ने जर्मनी, फ्रांस, रूस आदि यूरोपीय देशों में भारतीय विद्या के अध्ययन में गहरी रुचि जगाई। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में इंग्लैंड तथा कई अन्य यूरोपीय देशों में संस्कृत के आचार्य-पद (चेयर्स) स्थापित हुए।

भारतीय विद्या के अध्ययन को सबसे अधिक बढ़ावा दिया जर्मनी के सपूत एफ. मैक्स मूलर (1823-1902) ने, जिनका अधिकांश जीवन इंग्लैंड में बीता। 1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश शासकों की आँखें खोल दीं। उन्हें महसूस हो गया

कि जिन विदेशी लोगों पर उन्हें शासन करना है उनके रीति-रिवाजों और सामाजिक व्यवस्थाओं का उन्हें गहन ज्ञान प्राप्त करना होगा। इसी तरह क्रिश्चियन मिशनों के धर्म-प्रचारकों ने भी हिंदू धर्म की दुर्बलताओं को जानना आवश्यक समझा ताकि वे धर्मपरिवर्तन करा सकें और इसके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत बना सकें। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मैक्स मूलर के संपादकत्व में विशाल मात्रा में प्राचीन धर्मग्रन्थों का अनुवाद किया गया। ये अनुवाद **सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट** सीरीज में कुल मिलाकर पचास खंडों में, जिनमें कई खंडों के अनेक भाग भी हैं, प्रकाशित हुए। यद्यपि इस सीरीज में कुछ चीनी और ईरानी ग्रंथ भी शामिल किए गए, पर वास्तव में प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथ ही प्रमुख हैं।

उपर्युक्त अनुवादों की प्रस्तावनाओं में और उनके आधार पर लिखी गई पुस्तकों में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारत के इतिहास और समाज के स्वरूप के बारे में कई सामान्य निष्कर्ष स्थापित किए हैं। उनका मत है कि प्राचीन भारत के लोगों को इतिहास का, विशेषत: काल और तिथिक्रम का बोध नहीं था। उन्होंने यह भी कहा है कि भारत के लोग स्वेच्छाचारी शासन के आदी रहे हैं, और वे आध्यात्मिक या पारलौकिक समस्याओं में ही डूबे रहे और ऐहलौकिक समस्याओं की चिंता नहीं करते थे। जाति-प्रथा या वर्णव्यवस्था को सामाजिक भेदभाव का भारी कुचक्र माना गया। पाश्चात्य विद्वानों ने दृढ़तापूर्वक कहा कि भारतवासियों को न तो राष्ट्रीय भावना का एहसास था, न किसी प्रकार के स्वशासन का अनुभव।

ऐसे बहुत सारे निष्कर्ष विन्सेन्ट आर्थर स्मिथ (1843-1920) की पुस्तक **अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया** में प्रकाशित हैं। उन्होंने प्राचीन भारत का यह पहला सुव्यवस्थित इतिहास 1904 में तैयार किया। उन्होंने यह पुस्तक उपलब्ध स्रोतों के गहन अध्ययन के आधार पर लिखी और इसमें राजनीतिक इतिहास को प्रधानता दी। यह लगभग पचास वर्षों तक पाठ्यपुस्तक का काम देती रही और आज भी विद्वान लोग इसका उपयोग करते हैं। इतिहास के प्रति स्मिथ की दृष्टि साम्राज्यवादी थी। इंडियन सिविल सर्विस के निष्ठावान सदस्य के रूप में उन्होंने भारत में विदेशियों की भूमिका को उजागर किया। उनकी पुस्तक के एक-तिहाई भाग में केवल सिकन्दर का आक्रमण वर्णित है। इसमें भारत को स्वेच्छाचारी शासन वाला देश कहा गया है, जिसे ब्रिटिश शासन की स्थापना से पहले कभी राजनीतिक एकता का अनुभव नहीं हुआ था। उन्होंने लिखा है "वस्तुत: भारतीय इतिहासकारों का सरोकार शासन के एक मात्र स्वरूप तानाशाही से ही है।"

सारांश यह कि ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की जो व्याख्या की है उसका लक्ष्य था भारत के चरित्र और उपलब्धियों को नीचा दिखाना और विदेशी शासन को न्यायोचित ठहराना। इनमें कई निष्कर्ष कुछ-कुछ मान्य भी प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, चीनियों की तुलना में भारतवासियों ने तिथिक्रम का कोई प्रबल बोध नहीं दिखाया है, हालाँकि आरंभिक अवस्था में कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का काल-निर्देश गौतम बुद्ध की मृत्यु से किया हुआ मिलता है। फिर भी इन इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित निष्कर्ष या तो भ्रांत हैं या अत्युक्तिपूर्ण। ऐसे निष्कर्ष तो ब्रिटिश तानाशाही को कायम रखने की अच्छी प्रचार-सामग्री का

काम दे सकते थे। भारत में एकछत्र या एकाधिकारी शासन की परंपरा थी ऐसा कहकर उन्होंने अपनी उस शासन-पद्धति को न्यायोचित ठहराया जिसमें सभी शक्तियाँ वायसरॉय के हाथों में रहती थी। इसी तरह, यदि भारत के लोग केवल परलोक की समस्याओं में डूबे रहते थे, तो उनके ऐहलौकिक जीवन की देखभाल ब्रिटिश उपनिवेशाधिकारी लोग नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? भारतवासी जिन्हें अतीत में स्वशासन का कभी अनुभव ही नहीं रहा, भला वर्तमान काल में अपना शासन आप कैसे कर पाएँगे? ऐसे सभी निष्कर्षों की भीतरी नीयत यही दिखाना था कि भारतवासी अपना शासन आप करने में असमर्थ हैं।

राष्ट्रवादियों की दृष्टि और योगदान

ये सारी बातें भारत के विद्वानों के लिए, विशेष कर उनके लिए जो पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए थे, भारी चुनौती बनकर आई। वे एक ओर उपनिवेशवादियों द्वारा इतिहास को तोड़-मरोड़ कर भारत की अतीत की छवि धूमिल किए जाने से चिढ़े हुए थे तो दूसरी ओर भारत के पतनोन्मुख सामंती समाज और इंग्लैंड के फूलते-फलते पूँजीवादी समाज के बीच घोर वैषम्य देखकर दुःखी थे। बहुतेरे विद्वान दृढ़ संकल्प के साथ मैदान में उतरे। उनका मिशन भारतीय समाज को सुधारना ही नहीं था, बल्कि यह भी था कि भारत के प्राचीन इतिहास का इस प्रकार पुनर्निर्माण किया जाए कि उससे समाज को सुधारने में, और इससे भी बढ़कर, स्वराज्य प्राप्त करने में सहारा मिले। ऐसा करने में अधिकतर इतिहासकार तो हिंदू पुनर्जागरण की लहर में प्रवाहित हुए, किंतु ऐसे विद्वानों की भी कमी न थी जो तर्कनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ रुख अपनाए रहे। इस द्वितीय कोटि में आते हैं राजेन्द्र लाल मित्र (1822-1891) जिन्होंने कई वैदिक मूलग्रंथ प्रकाशित किए और इंडो-एरियन्स नाम की पुस्तक लिखी। प्राचीन परंपरा के परम प्रेमी लाल ने प्राचीन समाज को तर्कनिष्ठ दृष्टि से देखा और एक जबरदस्त पुस्तिका लिखकर यह सिद्ध किया कि प्राचीन काल में लोग गोमांस खाते थे। कुछ अन्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अपनी विशेषताओं के बावजूद वर्णव्यवस्था श्रम-विभाजन पर आश्रित उस वर्ग प्रथा से मूलतः भिन्न नहीं है जो यूरोप के प्राक्-औद्योगिक और प्राचीन समाजों में पाई गई है।

महाराष्ट्र में रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (1837-1925) और विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े (1869-1926), दो समर्पित महापंडित निकले जिन्होंने देश के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए विभिन्न स्रोतों को बटोरा। आर. जी. भंडारकर ने सातवाहनों के दकन के इतिहास का और वैष्णव एवं अन्य संप्रदायों के इतिहास का पुनर्निर्माण किया। आप महान समाज-सुधारक थे और आपने शोधों से विधवा-विवाह का समर्थन किया और जाति-प्रथा एवं बाल-विवाह की कुप्रथा का खंडन किया। वी. के. राजवाड़े, विशुद्ध अनुसंधान की धुन में संस्कृत की पांडुलिपियों और मराठा इतिहास के स्रोतों की खोज करते हुए महाराष्ट्र में गांव-गांव घूमे और ये स्रोत बाईस खंडों में प्रकाशित हुए। उन्होंने लिखा तो अधिक नहीं, किंतु 1926 में उन्होंने मराठी में विवाह-प्रथा का जो इतिहास लिखा वह सदा चोटी पर रहेगा क्योंकि वह वैदिक तथा अन्य शास्त्रों के ठोस आधार पर खड़ा है

और उस में भारत में विवाह के विकास के विभिन्न प्रक्रमों को लेखक ने गहरी पैठ के साथ बतलाया है। पांडुरंग वामन काणे (1880-1972) संस्कृत के प्रकांड पंडित और समाज-सुधारक हुए। उन्होंने विद्वत्ता की चली आ रही परंपरा को आगे बढ़ाया। उनका विशाल कीर्तिस्तंभ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जो वर्तमान सदी में पाँच खंडों में प्रकाशित हुआ है, सामाजिक नियमों और आचारों का विश्वकोश है। इसके सहारे हम प्राचीन भारत में सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन कर सकते हैं।

भारतीय विद्वानों ने राज्यव्यवस्था (पॉलिटी) और राजनीतिक इतिहास का गंभीर अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि भारत का अपना राजनीतिक इतिहास है और भारतवासियों को प्रशासन की अच्छी जानकारी थी। इस विषय में श्रेय के अधिकारी हैं पुरालेखविद् देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर (1875-1950) जिन्होंने अशोक पर तथा प्राचीन भारत की राजनीतिक संस्थाओं पर कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है हेमचन्द्र रायचौधरी (1892-1957) ने। आपने भारत (महाभारत) काल से अर्थात ईसा-पूर्व दसवीं सदी से लेकर गुप्त साम्राज्य के अंत तक प्राचीन भारत के इतिहास का पुनर्निर्माण किया। आप चूँकि यूरोपीय इतिहास के अध्यापक थे इसलिए आपने इस पुस्तक में कुछ नए तरीकों और तुलनात्मक दृष्टि को अपनाया है। आपने काल-विभाजन की समस्या का विवेचन तो नहीं किया, लेकिन आपका प्राचीन भारत का इतिहास ईसा की छठी- सदी तक आकर समाप्त हुआ है। प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में वी.ए. स्मिथ के योगदान को सराहते हुए भी रायचौधरी ने उक्त ब्रिटिश विद्वान की कई बातों में आलोचना की है। आपके लेख त्रुटिहीन विद्वत्ता के द्योतक हैं, किंतु जहाँ आप अशोक की शान्ति-नीति की आलोचना करते हैं वहाँ घोर ब्राह्मणवाद का आग्रह प्रकट हो जाता है। हिंदू पुनर्जागरणवाद का इससे भी अधिक पुट आर. सी. मजूमदार (1888-1980) के लेखों में मिलता है, जो बहुत लिखने वाले थे और अनेक खंडों में प्रकाशित हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल के महासंपादक थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अधिकांश लेखकों ने दक्षिण भारत पर समुचित ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए महान् इतिहासविद् के. ए. नीलकंठ शास्त्री (1892-1975) ने भी अपने ए हिस्ट्री ऑफ एन्शिएन्ट इंडिया में इसी मार्ग का अनुसरण किया। परंतु उन्होंने ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया लिखकर इस त्रुटि का परिमार्जन कर लिया। उनकी शैली तो कसी हुई है पर लेख प्रांजल हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य उसी तरह विश्वसनीय हैं जिस तरह रायचौधरी के। लेकिन उन्होंने दक्षिण भारत की राज्य व्यवस्था और समाज के स्वरूप के बारे में अपने जो सामान्य निष्कर्ष दिए हैं उन पर बहुत-से विद्वानों ने शंका की है। नीलकंठ शास्त्री ने ब्राह्मणों की सांस्कृतिक उत्कृष्टता प्रतिपादित की है और इस बात को भी उजागर किया है कि पूर्वकालीन भारतीय समाज में अच्छी समरसता थी। उनके नेतृत्व में दक्षिण भारत के राजवंशीय इतिहास पर कई प्रबंध पुस्तकें लिखी गई हैं।

1960 तक अधिकाधिक भारतीय विद्वान राजनीतिक इतिहास की ओर आकृष्ट रहे, और उन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों के राजवंशों की ऐतिहासिक गरिमा भी बखानी; जिन्होंने अखिल भारतीय स्तर पर इतिहास लिखा वे भी राष्ट्रीय भावना से

प्रभावित रहे। जहाँ वी.ए. स्मिथ ने अपने इतिहास में सिकन्दर के आक्रमण को लगभग एक-तिहाई स्थान दिया वहाँ भारतीय विद्वानों ने इस विषय को बहुत ही कम स्थान दिया। प्रत्युत उन्होंने सिकन्दर के साथ पोरस की बातचीत को तथा भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त को सेल्यूकस के हाथ से चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा मुक्त कराने की बात को विशेष महत्त्व दिया है। के.पी. जायसवाल (1881 - 1937) और ए. एस. अल्तेकर (1898-1959) जैसे कुछ विद्वानों ने देश को शकों और कुषाणों के शासन से मुक्त कराने में भारतीय राजवंशों की भूमिका बढ़ा-चढ़ाकर दिखाई, और इस बात को नजरअंदाज़ कर दिया कि मध्य एशियाई तथा कुछ अन्य कबीले भारतीय जीवन के अविभाज्य अंग हो गए थे और भारत से संपत्ति लूटकर अपने मूल देश नहीं ले गए।

फिर भी के.पी. जायसवाल का सबसे बड़ा श्रेय यह है कि भारतीय स्वैरतन्त्र (तानाशाही) की कपोल-कल्पना का उन्होंने ही अंत किया। 1910-12 के बीच ही उन्होंने कई लेख प्रकाशित करके यह सिद्ध किया कि प्राचीन काल में यहाँ गणराज्यों का अस्तित्व था, जो अपना शासन आप चलाते थे। उनके मंतव्य 1924 में हिन्दू पॉलिटी नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। यद्यपि जायसवाल पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने प्राचीन संस्थाओं पर आधुनिक राष्ट्रीय भावना की कलई चढ़ा दी है और उन्होंने गणतंत्रीय प्रशासन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उस पर यू. एन. घोषाल (1886-1969) सहित बहुत-से लेखकों ने आपत्ति की है, फिर भी गणतान्त्रिक प्रयोग की प्रथा के बारे में उनकी मूल धारणा व्यापक रूप से मान ली गई है और उनकी अग्रणी कृति हिंदू पॉलिटी (संप्रति छठे संस्करण में) क्लासिक रचना मानी जाती है।

अराजनैतिक इतिहास की ओर मोड़

ब्रिटिश इतिहासकार संस्कृतविद् ए. एल. बैशम (1914-1986) ने प्रश्न उठाया कि प्राचीन भारत को आधुनिक दृष्टिकोण से देखना कहाँ तक उचित है। उनके पिछले लेखों से प्रकट होता है कि कुछ नास्तिक संप्रदायों के भौतिकवादी दर्शन में उनकी गहरी रुचि थी। बाद में उन्होंने यह विचार रखा कि अतीत का अध्ययन औत्सुक्यवश और आनंद के लिए होना चाहिए। उनकी पुस्तक वंडर दैट वाज इंडिया (1951) प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विभिन्न पक्षों का सुव्यवस्थित सर्वेक्षण है और उन दृष्टिदोषों से रहित है जिनसे वी. ए. स्मिथ आदि ब्रिटिश लेखकों की कृतियाँ ग्रस्त हैं।

बैशम की यह पुस्तक राजनीतिक इतिहास की ओर से अराजनीतिक इतिहास की ओर भारी मोड़ दिखलाती है। यही मोड़ डी. डी. कोसंबी (1907-1966) की पुस्तक एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री (1957) में लक्षित होता है। उनके विचार एन्शिएन्ट इंडियन कल्चर एंड सिविलाइजेशन : ए हिस्टोरिकल आउटलाइन (1965) के द्वारा अधिक फैले। कोसंबी ने भारतीय इतिहास को नया रास्ता दिखलाया। वे अपना विवेचन इतिहास की उस भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार करते हैं जो कार्ल मार्क्स के लेखों से निकाली जाती है। आप प्राचीन भारतीय समाज, अर्थतंत्र और संस्कृति के इतिहास को उत्पादन की शक्तियों और संबंधों के विकास के अभिन्न अंग के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम आपने ही अपनी पुस्तक में जनजातियों और वर्गों की प्रक्रियाओं

की दृष्टि से सामाजिक और आर्थिक विकास की अवस्थाओं का सर्वेक्षण किया। आपकी आलोचना बैशम सहित अनेक विद्वानों ने की है, लेकिन आपकी पुस्तक का उपयोग फिर भी व्यापक रूप से होता रहा है।

पिछले पचीस वर्षों के बीच, प्राचीन भारत पर काम करने वाले विद्वानों की कार्य-प्रणालियों और दिशा-निर्धारणों में महान् परिवर्तन हुआ है। वे अब सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं पर अधिक जोर देते हैं और उनका संबंध राजनीतिक गतिविधियों से जोड़ने का प्रयास करते हैं। वे मूलग्रंथों के भीतरी स्तरीकरण (stratification) को देखते हैं और उनके पारंपरिक स्वरूप को पुरातात्विक एवं नृवैज्ञानिक साक्ष्यों से मिलाते हैं। ये सभी ऐतिहासिक अध्ययन के शुभ लक्षण हैं। दुर्भाग्यवश कुछ लेखक धर्म की भूमिका को अधिक महत्त्व देने लगे हैं और ऐसा समझने लगे हैं कि जो कुछ भी अच्छे हैं उन सभी का उद्भव भारत में हुआ है। पश्चिम के लेखक तो अब इस बात पर जोर नहीं देते हैं कि सभी अच्छी वस्तुएँ भारत में बाहर से आई, किंतु उनमें कुछ लोग यह मानते हैं कि धार्मिक धारणाएँ, कर्मकांड, जाति (वर्ण), बन्धुत्व और रूढ़ि ये ही भारतीय इतिहास की मुख्य शक्तियाँ हैं। वे तरह-तरह के विभाजनकारी तत्वों को उछालते हैं जो गतिरोध का कारण पैदा करते हैं। वे समाज की स्थिरता और निरंतरता की समस्या को गौर से देखते हैं। लगता है कि वे अनोखे और पुरातन तत्वों में रस लेते हैं और चाहते हैं कि वे तत्व यों ही बने रहें। इस तरह की दृष्टि का तो यही आशय होता है कि भारतीय समाज न बदला और न बदला जा सकता है। इसका अर्थ होता है कि विकास की दौड़ में पिछड़ा रहना भारतीय चरित्र का अभिन्न अंग है।

इस प्रकार अंध देशभक्त और परिमार्जित उपनिवेशवादी दोनों ही अतीत के अध्ययन का प्रयोग भारत की प्रगति रोकने के लिए करते हैं। अतः यह परमावश्यक है कि प्राचीन भारत को संतुलित और वस्तुनिष्ठ ढंग से देखा जाए।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें
   भारतीय विद्या, संस्कृतविद्, 'उत्पादन की शक्तियाँ और संबंध'।
2. प्राचीन भारतीय इतिहास में उपनिवेशवादी इतिहासकारों के मतों का मूल्यांकन करें; मूल्यांकन के क्रम में उनके मतों के विशिष्ट उदाहरण दें।
3. प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में राष्ट्रवादी इतिहासकारों के योगदान का विवेचन करें।
4. निम्नलिखित विषय पर एक वादविवाद आयोजित करें :
   प्राचीन भारत के इतिहास में उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा की गई भ्रान्तियों को आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने दूर किया है।

अध्याय 3

स्रोतों के प्रकार और इतिहास का निर्माण

भौतिक अवशेष

प्राचीन भारत के निवासियों ने अपने पीछे अनगिनत भौतिक अवशेष छोड़े हैं। दक्षिण भारत में पत्थर के मन्दिर और पूर्वी भारत में ईंटों के विहार आज भी धरातल पर देखने को मिलते हैं और उस युग का स्मरण कराते हैं जब देश में भारी संख्या में भवनों का निर्माण हुआ। परंतु इन भवनों के अधिकांश अवशेष सारे देश में बिखरे अनेकानेक टीलों के नीचे दबे हुए हैं। टीला धरती की सतह के उस उभरे हुए भाग को कहते हैं जिसके नीचे पुरानी बस्तियों के अवशेष रहते हैं। यह कई प्रकार का हो सकता है : एकल-संस्कृतिक, मुख्य-संस्कृतिक और बहु-संस्कृतिक। एकल-संस्कृतिक टीलों में सर्वत्र एक ही संस्कृति दिखाई देती है। कुछ टीले केवल चित्रित धूसर मृदभांड अर्थात पेन्टेड ग्रे वेअर (पी.जी. डब्ल्यू) संस्कृति के द्योतक हैं, कुछ सातवाहन संस्कृति के, और कुछ कुषाण संस्कृति के। मुख्य-संस्कृतिक टीलों में एक संस्कृति की प्रधानता रहती है और अन्य संस्कृतियाँ जो पूर्व काल की भी हो सकती हैं और उत्तर काल की भी, विशेष महत्त्व की नहीं होती। बहु-संस्कृतिक टीलों में उत्तरोत्तर अनेक संस्कृतियाँ पायी जाती हैं जो कभी-कभी एक दूसरे के साथ-साथ चलती हैं। **रामायण** और **महाभारत** की भाँति, खोदे गए टीले का उपयोग हम संस्कृति के भौतिक और अन्य पक्षों के क्रमिक स्तरों को उजागर करने के लिए कर सकते हैं।

टीले की खुदाई दो तरह से की जा सकती है- अनुलंब या क्षैतिज। अनुलंब उत्खनन का अर्थ है सीधी खड़ी लम्बवत् खुदाई करना जिससे कि विभिन्न संस्कृतियों का कालक्रमिक ताँता उद्घाटित हो। यह सामान्यत: स्थल के कुछ भाग में ही सीमित रहता है। क्षैतिज उत्खनन का अर्थ है सारे टीले की या उसके बृहत भाग की खुदाई। इस तरह की खुदाई से हम उस स्थल की काल विशेष की संस्कृति का पूर्ण आभास पा सकते हैं।

अधिकांश स्थलों की अनुलंब खुदाई होने के कारण उनसे हमें भौतिक संस्कृति का अच्छा-खासा कालानुक्रमिक सिलसिला मिल जाता है। क्षैतिज खुदाइयाँ खर्चीली होने के कारण बहुत कम की गई हैं। फलस्वरूप उत्खननों से प्राचीन भारतीय इतिहास की अनेक अवस्थाओं के भौतिक जीवन का पूर्ण और समग्र चित्र नहीं मिल पाता।

जिन टीलों का उत्खनन हुआ है उनके भी पुरावशेष विभिन्न अनुपातों में ही सुरक्षित हैं। सूखी जलवायु के कारण पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पश्चिमोत्तर भारत के पुरावशेष अधिक सुरक्षित बने रहे, परंतु मध्य गंगा के मैदान और डेल्टाई क्षेत्रों की नम और आर्द्र जलवायु में लोहे के औजार भी संक्षारित हो जाते हैं और कच्ची मिट्टी से बने भवनों के अवशेषों को खोजना कठिन होता है। नम और जलोढ़ क्षेत्रों में तो पक्की ईंटों और पत्थर के भवनों के काल में आकर ही हमें उत्कृष्ट और प्रचुर अवशेष मिल पाते हैं।

पश्चिमोत्तर भारत में हुए उत्खननों से ऐसे नगरों का पता चलता है जिनकी स्थापना लगभग 2500 ई. पू. में हुई थी। इसी प्रकार उत्खननों से हमें गंगा की घाटी में विकसित भौतिक संस्कृति के बारे में भी जानकारी मिली है। इससे पता चलता है कि उस समय के लोग जिस प्रकार की बस्तियों में रहते थे उनका ढ़ांचा कैसा था, वे किस प्रकार के मृदभांड उपयोग में लाते थे, किस प्रकार के घरों में रहते थे, भोजन में किन अनाजों का इस्तेमाल करते थे और किस प्रकार के औज़ारों या हथियारों का उपयोग करते थे। दक्षिण भारत के कुछ लोग मृत व्यक्ति के शव के साथ औज़ार, हथियार, मिट्टी के बरतन आदि चीजें भी कब्र में गाड़ते थे और इसके ऊपर एक घेरे में बड़े-बड़े पत्थर खड़े कर दिए जाते थे। ऐसे स्मारकों को **महापाषाण (मेगालिथ)** कहते हैं, हालाँकि सभी महापाषाण इस श्रेणी में नहीं आते। इनकी खुदाई करने से हमें जानकारी मिली है कि लौह युग की शुरुआत होने पर दकन के लोग किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे। जिस विज्ञान के आधार पर पुराने टीलों का क्रमिक स्तरों में विधिवत् उत्खनन किया जाता है और प्राचीन काल के लोगों के भौतिक जीवन के बारे में जानकारी मिलती है उसे **पुरातत्व (आर्किऑलॉजि)** कहते हैं।

उत्खनन और अन्वेषण के फलस्वरूप प्राप्त भौतिक अवशेषों का विभिन्न प्रकार से वैज्ञानिक परीक्षण किया जाता है। रेडियो कार्बन काल निर्धारण की विधि से यह पता लगाया जाता है कि वे किस काल के हैं। रेडियो कार्बन या कार्बन 14 (C^{14}) कार्बन का रेडियोधर्मी (रेडियोएक्टिव) समस्थानिक (आइसोटोप) है जो सभी प्राणवान वस्तुओं में विद्यमान होता है। सभी रेडियोधर्मी पदार्थों की तरह इसका एक निश्चित/समान गति से क्षय होता है। जब कोई वस्तु जीवित रहती है तो C^{14} के क्षय की प्रक्रिया के साथ हवा और भोजन की खुराक से उस वस्तु में C^{14} का समन्वय भी होता रहता है। परंतु जब वस्तु निष्प्राण हो जाती है तब इसमें विद्यमान C^{14} के क्षय की प्रक्रिया समान गति से जारी रहती है लेकिन यह हवा और भोजन से C^{14} लेना बंद कर देती है। किसी प्राचीन वस्तु में विद्यमान C^{14} में आई कमी को माप कर उसके समय का निर्धारण किया जा सकता है। यह इसलिए संभव है क्योंकि C^{14} का क्षय एक निश्चित गति से होता है, जैसा पहले बताया जा चुका है। यह ज्ञात है कि C^{14} का आधा जीवन 5568 वर्षों का होता है। रेडियोधर्मी पदार्थ का आधा जीवन वह काल/समय होता है जिसमें उस वस्तु की आधी रेडियोधर्मी धारिता लुप्त हो जाती है। इस प्रकार अगर कोई वस्तु 5568 वर्षों पहले निष्प्राण हो गई तो उसकी C^{14} धारिता उस समय की तुलना में आधी रह जाएगी जब वह जीवित थी और अगर वह 11,136 वर्ष पहले निष्प्राण हुई तो उसके C^{14} की धारिता उस समय की तुलना में चौथाई रह जाएगी जब वह जीवित थी।

पौधों के अवशेषों का परीक्षण कर विशेषत: पराग के विश्लेषण द्वारा जलवायु और वनस्पति का इतिहास जाना जाता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि राजस्थान और कश्मीर में कृषि का प्रचलन लगभग 7000-6000 ई. पू. में भी था। धातु की शिल्पवस्तुओं की प्रकृति और घटकों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है और उसके परिणाम से यह पता चलता है कि वे जगहें कहाँ हैं जहाँ से ये धातुएँ प्राप्त की गई हैं और इनसे धातु विज्ञान के विकास की अवस्थाओं का पता लगाया जाता है। पशुओं की हड्डियों का परीक्षण कर उनकी पहचान की जाती है, और उनके पालतू होने तथा तरह-तरह के काम में लाने का पता लगाया जाता है।

सिक्के

अनेक सिक्के और अभिलेख धरातल पर भी मिले हैं, पर इनमें से अधिकांश जमीन को खोदकर निकाले गए हैं। सिक्कों के अध्ययन को **मुद्राशास्त्र (न्यूमिस्मेटिक्स)** कहते हैं। आजकल की तरह प्राचीन भारत में कागज़ की मुद्रा का प्रचलन नहीं था, पर धातुधन या धातुमुद्रा (सिक्का) चलता था। पुराने सिक्के तांबे, चांदी, सोने और सीसे के बनते थे। पकाई गई मिट्टी के बने सिक्कों के साँचे बड़ी संख्या में मिले हैं। इनमें से अधिकांश साँचे कुषाण काल के अर्थात ईसा की आरम्भिक तीन सदियों के हैं। गुप्तोत्तर काल में ये साँचे लगभग लुप्त हो गए।

प्राचीन काल में आज जैसी बैंकिंग प्रणाली नहीं थी, इसलिए लोग अपना पैसा मिट्टी और काँसे के बरतनों में बड़ी हिफ़ाज़त से जमा रखते थे ताकि मुसीबत के दिनों में उस बहुमूल्य निधि का उपयोग कर सकें। ऐसी अनेक निधियाँ, जिनमें न केवल भारतीय सिक्के हैं बल्कि रोमन साम्राज्य जैसी विदेशी टकसालों में ढाले गए सिक्के भी हैं, देश के अनेक भागों में मिली हैं। ये निधियाँ अधिकतर कलकत्ता, पटना, लखनऊ, दिल्ली, जयपुर, मुंबई और मद्रास के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। बहुत से भारतीय सिक्के नेपाल, बंगलादेश, पाकिस्तान और अफगानिस्तान के संग्रहालयों में भी देखने को मिलते हैं। चूंकि ब्रिटेन ने भारत पर लंबे अरसे तक शासन किया, इसलिए ब्रिटिश अधिकारी भी अपने निजी तथा सार्वजनिक संग्रहालयों में बहुत-सारे भारतीय सिक्के ले गए। प्रमुख राजवंशों के सिक्कों की सूचियाँ तैयार कर प्रकाशित की गई हैं। कलकत्ता के इंडियन म्यूज़ियम, लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम आदि के सिक्कों की ऐसी सूचियाँ उपलब्ध हैं। परंतु बहुत-सारे सिक्कों की सूचियाँ बनाना और प्रकाशित करना अब भी बाकी ही है।

हमारे आरंभिक सिक्कों पर तो कुछेक प्रतीक मिलते हैं, पर बाद के सिक्कों पर राजाओं और देवताओं के नाम तथा तिथियाँ भी उल्लिखित मिलती हैं। इन सिक्कों के उपलब्धि स्थानों से यह ज्ञात होता है कि इलाके में इन सिक्कों का प्रचलन था। इस प्रकार प्राप्त सिक्कों के आधार पर कई राजवंशों के इतिहास का पुनर्निर्माण संभव हुआ है, विशेषत: उन हिंद-यवन शासकों के इतिहास का जो उत्तरी अफगानिस्तान से भारत पहुँचे और जिन्होंने ईसा-पूर्व दूसरी और पहली सदियों में यहाँ शासन किया।

चूँकि सिक्कों का काम दान-दक्षिणा, खरीद-बिक्री, और वेतन-मज़दूरी के भुगतान में पड़ता था, इसलिए सिक्कों से आर्थिक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। राजाओं से अनुमति लेकर व्यापारियों और स्वर्णकारों की श्रेणियों (व्यापारिक संघों) ने भी अपने कुछ सिक्के चलाए थे। इससे शिल्पकारी और व्यापार की उन्नतावस्था सूचित होती है। सिक्कों के सहारे बड़ी मात्रा में लेन-देन संभव हुआ और व्यापार को बढ़ावा मिला। सबसे अधिक सिक्के मौर्योत्तर कालों में मिलें हैं जो विशेषत: सीसे, पोटिन, ताँबे, काँसे, चाँदी, और सोने के हैं। गुप्त शासकों ने सोने के सिक्के सबसे अधिक जारी किए। इन सब से पता चलता है कि व्यापार वाणिज्य, विशेषत: मौर्योत्तर काल में और गुप्त काल के अधिक भाग में, खूब ही बढ़ा। इसके विपरीत गुप्तोत्तर काल के बहुत कम सिक्के मिले हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि उन दिनों व्यापार वाणिज्य शिथिल हो गया था।

सिक्कों पर राजवंशों और देवताओं के चित्र, धार्मिक प्रतीक और लेख भी अंकित रहते हैं, और ये सभी तत्कालीन कला और धर्म पर प्रकाश डालते हैं।

अभिलेख

सिक्कों से भी कहीं अधिक महत्त्व के हैं अभिलेख। इनके अध्ययन को **पुरालेखशास्त्र (एपिग्रेफी)** कहते हैं, और इनकी तथा दूसरे पुराने दस्तावेजों की प्राचीन तिथि के अध्ययन को **पुरालिपिशास्त्र (पेलिअॅग्रेफी)** कहते हैं। अभिलेख मुहरों, प्रस्तरस्तंभों, स्तूपों, चट्टानों और ताम्रपत्रों पर मिलते हैं, तथा मंदिर की दीवारों और ईंटों या मूर्तियों पर भी।

समग्र देश में आरंभिक अभिलेख पत्थरों पर खुदे मिलते हैं। किंतु ईसा के आरंभिक शतकों में इस काम में ताम्रपत्रों का प्रयोग आरंभ हुआ। तथापि पत्थर पर अभिलेख खोदने की परिपाटी दक्षिण भारत में भारी मात्रा में जारी रही। दक्षिण भारत में मंदिर की दीवारों पर भी स्थायी स्मारकों के रूप में भारी संख्या में अभिलेख खोदे गए हैं।

सिक्कों की तरह अभिलेख भी देश के विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। सबसे अधिक अभिलेख मैसूर में मुख्य पुरालेखशास्त्री के कार्यालय में संगृहीत हैं। आरंभिक अभिलेख प्राकृत भाषा में हैं और ये ई. पू. तीसरी सदी के हैं। अभिलेखों में संस्कृत भाषा ईसा की दूसरी सदी से मिलने लगती हैं, और चौथी-पाँचवीं सदी में इसका सर्वत्र व्यापक प्रयोग होने लगा। तब भी प्राकृत का प्रयोग समाप्त नहीं हुआ। अभिलेखों में प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग नौवीं-दसवीं सदी से होने लगा। मौर्य, मौर्योत्तर और गुप्त काल के अधिकांश अभिलेख **कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम्** नामक ग्रंथ माला में संकलित करके प्रकाशित किए गए हैं। परंतु गुप्तोत्तर काल के अभिलेख अभी तक इस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से संकलित नहीं हुए हैं। दक्षिण भारत के अभिलेखों की स्थानक्रमिक सूचियाँ प्रकाशित हुई हैं। फिर भी 50,000 से भी अधिक अभिलेख, जिन में अधिकांश दक्षिण भारत के हैं, प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हड़प्पा संस्कृति के अभिलेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। ये संभवत: ऐसी किसी भावचित्रात्मक लिपि में लिखे गए हैं जिसमें विचारों और वस्तुओं को चित्रों के रूप में व्यक्त किया जाता था। अशोक के शिलालेख ब्राह्मी लिपि में हैं। यह लिपि बाएँ से दाएँ लिखी जाती थी। उन के कुछ शिलालेख खरोष्ठी लिपि में भी हैं जो दाएं से बाएँ

लिखी जाती थी, लेकिन पश्चिमोत्तर भाग के अलावा भारत में भिन्न प्रदेशों में ब्राह्मी लिपि का ही प्रचार रहा। पाकिस्तान और अफगानिस्तान के अशोक के शिलालेखों में यूनानी और आरामाइक लिपियों का भी प्रयोग हुआ है। गुप्तकाल के अंत तक देश की प्रमुख लिपि ब्राह्मी ही रही। यदि ब्राह्मी और इसकी विभिन्न शैलियों का भली-भाँति ज्ञान हो जाए तो कोई भी पुरालेखविद् ईसा की आठवीं सदी तक के अधिकांश पुरालेखों को पढ़ सकता है। परंतु इसके बाद इस लिपि की प्रादेशिक शैलियों में भारी अंतर आ गया और इन्हें अलग-अलग नाम दे दिए गए।

सबसे पुराने अभिलेख हड़प्पा संस्कृति की मुहरों पर मिलते हैं। ये लगभग 2500 ई. पू. के हैं। इनका पढ़ना अब तक संभव नहीं हुआ है। सबसे पुराने अभिलेख जो पढ़े जा चुके हैं वे हैं, ई. पू. तीसरी सदी के अशोक के शिलालेख। चौदहवीं सदी में फिरोज़शाह तुगलक को अशोक के दो स्तंभलेख मिले थे, एक मेरठ में और दूसरा हरियाणा के टोपरा नामक स्थान में। उसने इन्हें दिल्ली मंगवाया और अपने राज्य के पंडितों से पढ़वाने का प्रयास किया, पर कोई भी पंडित पढ़ नहीं पाया। अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में अंग्रेजों ने इन्हें पढ़ने की कोशिश की तो उन्हें भी इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इन अभिलेखों को पढने में सर्वप्रथम 1837 में सफलता मिली जेम्स प्रिन्सेप को, जो उस समय बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में ऊँचे पद पर थे।

अभिलेखों के अनेक प्रकार हैं। कुछ अभिलेखों में अधिकारियों और जनता के लिए जारी किए गए सामाजिक, धार्मिक तथा प्रशासनिक राज्यादेशों और निर्णयों की सूचनाएँ रहती हैं। अशोक के शिलालेख इसी कोटि के हैं। दूसरी कोटि में वे आनुष्ठानिक अभिलेख आते हैं जिन्हें बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि संप्रदायों के अनुयायियों ने भक्तिभाव से स्थापित स्तंभों, प्रस्तरफलकों, मंदिरों और प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण कराया है। तीसरी कोटि में वे प्रशस्तियाँ आती है जिनमें राजाओं और विजेताओं के गुणों और कीर्तियों का बखान तो रहता है, पर उनकी पराजयों और कमज़ोरियों का कोई ज़िक्र नहीं होता। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति इस कोटि का उदाहरण है। इन सभी के अलावा, बहुत-सारे ऐसे दान-पत्र मिलते हैं जिनमें न केवल राजाओं और राजपुत्रों द्वारा बल्कि शिल्पियों और व्यापारियों द्वारा भी मुख्यतः धर्मार्थ पैसा, मवेशी, भूमि आदि के दान अभिलिखित हैं।

मुख्यतः राजाओं और सामंतों द्वारा किए गए भूमिदान के अभिलेख विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि इनमें प्राचीन भारत की भूव्यवस्था और प्रशासन के बारे में उपयोगी सूचनाएँ मिलती हैं। ये अभिलेख अधिकतर ताम्रपत्रों पर उकेरे गए हैं। इनमें भिक्षुओं, ब्राह्मणों, मंदिरों, विहारों, जागीरदारों और अधिकारियों को दिए गए गांवों, भूमियों और राजस्व के दानों का विवरण रहता है। ये विभिन्न भाषाओं में लिखे मिलते हैं, जैसे प्राकृत, संस्कृत, तमिल, तेलुगु आदि।

साहित्यिक स्रोत

यद्यपि प्राचीन भारत के लोगों को लिपि का ज्ञान 2500 ई. पू. में भी था, परंतु हमारी प्राचीनतम उपलब्ध पाण्डुलिपियाँ ईसा की चौथी सदी के पहले की नहीं हैं और ये भी मध्य एशिया से प्राप्त हुई

हैं। भारत में पाण्डुलिपियाँ, भोजपत्रों और तालपत्रों पर लिखी मिलती हैं, परंतु मध्य एशिया में जहाँ भारत से प्राकृत भाषा फैल गई थी, ये पाण्डुलिपियाँ मेषचर्म तथा काष्ठफलकों पर भी लिखी गई हैं। इन्हें हम भले ही अभिलेख कह दें परंतु हैं ये एक प्रकार की पाण्डुलिपियाँ हीं। उन दिनों मुद्रण कला का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए ये पाण्डुलिपियाँ मूल्यवान समझी जाती थीं। वैसे तो समूचे भारत में संस्कृत की पुरानी पाण्डुलिपियाँ मिली हैं परंतु इनमें से अधिकतर दक्षिण भारत, कश्मीर और नेपाल से प्राप्त हुई हैं। आजकल अधिकांश अभिलेख संग्रहालयों में और पाण्डुलिपियाँ पुस्तकालयों में संचित-सुरक्षित है।

अधिकांश प्राचीन ग्रंथ धार्मिक विषयों पर हैं। हिंदुओं के धार्मिक साहित्य में **वेद, रामायण, महाभारत, पुराण** आदि आते हैं। यह साहित्य प्राचीन भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर काफी प्रकाश डालता है। किंतु देश और काल के संदर्भ में इसका उपयोग करना बड़ा ही कठिन है। **ऋग्वेद** को 1500-1000 ई. पू. के लगभग का मान सकते हैं। लेकिन **अथर्ववेद, यजुर्वेद, ब्राह्मणों, आरण्यकों** और **उपनिषदों** को 1000-500 ई. पू. के लगभग का माना जाएगा। प्रायः सभी वैदिक ग्रंथों में क्षेपक मिलता है जो सामान्यतः आदि या अंत में रहता है। यों ग्रन्थ के बीच में भी क्षेपक का पाया जाना कोई असाधारण बात नहीं है। **ऋग्वेद** में मुख्यतः देवताओं की स्तुतियाँ हैं, परंतु बाद के वैदिक साहित्य में स्तुतियों के साथ-साथ कर्मकाण्ड, जादूटोना और पौराणिक आख्यान भी हैं। हाँ, उपनिषदों में हमें दार्शनिक चिंतन मिलते हैं।

वैदिक मूलग्रंथ का अर्थ समझ में आए इसके लिए वेदांगों अर्थात् वेद के अंगभूत शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक था। ये वेदांग हैं **शिक्षा** (उच्चारण-विधि), **कल्प** (कर्मकांड), **व्याकरण, निरूक्त** (भाषाविज्ञान), **छन्द** और **ज्योतिष**। इनमें से प्रत्येक शास्त्र के चतुर्दिक प्रचुर साहित्य विकसित हुए हैं। यह साहित्य गद्य में नियम रूप में लिखा गया है। संक्षिप्त होने के कारण ये नियम **सूत्र** कहलाते हैं। सूत्रलेखन का सबसे विख्यात उदाहरण है पाणिनि का व्याकरण जो 400 ई. पू. के आस-पास लिखा गया था। व्याकरण के नियमों का उदाहरण देने के क्रम में पाणिनि ने अपने समय के समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर अमूल्य प्रकाश डाला।

महाभारत, रामायण और प्रमुख पुराणों का अन्तिम रूप से संकलन 400 ई. के आसपास हुआ प्रतीत होता है। इनमें **महाभारत**, जो व्यास की कृति माना जाता है, संभवतः दसवीं सदी ई. पू. से चौथी सदी ई. तक की स्थिति का आभास देता है। पहले इसमें केवल 8800 श्लोक थे और इसका नाम **जय** था जिसका अर्थ है विजय संबंधी संग्रह ग्रंथ। बाद में यह बढ़कर 24,000 श्लोक का हो गया और **भारत** नाम से प्रसिद्ध हुआ क्योंकि इसमें प्राचीनतम वैदिक जन भरत के वंशजों की कथा है। अंततः इसमें एक लाख श्लोक हो गए और तदनुसार यह **शतसाहस्री संहिता** या **महाभारत** कहलाने लगा। इसमें कथोपकथाएँ हैं, वर्णन हैं और उपदेश भी हैं। इसकी मूल कथा, जो कौरवों और पांडवों के युद्ध की है, उत्तर वैदिक काल की हो सकती है। इसके विवरणात्मक अंश का उपयोग वेदोत्तर काल के संदर्भ में किया जा सकता है, और

उपदेशात्मक अंश का सामान्यतः मौर्योत्तर काल और गुप्तकाल के संदर्भ में। इसी प्रकार, वाल्मीकि रामायण में मूलतः 6000 श्लोक थे, जो बढ़कर 12,000 श्लोक हो गए और अन्ततः 24,000 श्लोक। यद्यपि यह महाकाव्य महाभारत की अपेक्षा अधिक ठोस है, तथापि इसमें भी कुछ ऐसे उपदेशात्मक भाग हैं जो बाद में जोड़ दिए गए हैं। इसकी रचना संभवतः ईसा-पूर्व पाँचवी सदी में शुरू हुई। तब से यह पाँच अवस्थाओं से गुज़र चुकी है और इसकी पाँचवी अवस्था तो ईसा की बारहवीं सदी में आई है। मिलाजुलाकर इसकी रचना महाभारत के बाद हुई प्रतीत होती है। वैदिक काल के बाद कर्मकाण्ड-साहित्य की भरमार मिलती है। राजाओं के द्वारा और तीन उच्च वर्णों के धनाढ्य पुरुषों द्वारा अनुष्ठेय सार्वजनीन यज्ञों के विधि-विधान **श्रौतसूत्रों** में दिए गए हैं, और इन्हीं में राज्याभिषेक के कई आडंबरपूर्ण अनुष्ठान भी वर्णित हैं। इसी तरह जातकर्म (जन्मानुष्ठान), नामकरण, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि घरेलू या पारिवारिक अनुष्ठानों का विधि विधान **गृह्यसूत्रों** में पाया जाता है। **श्रौतसूत्र** और **गृह्यसूत्र** दोनों ईसा-पूर्व 600-300 के आसपास के हैं। यहाँ **शुल्वसूत्र** भी उल्लेखनीय हैं जिनमें यज्ञवेदी के निर्माण के लिए विविध प्रकार के मापों का विधान है। ज्यामिति और गणित का अध्ययन वहीं से आरंभ होता है।

जैनों और बौद्धों के धार्मिक ग्रंथों में ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं का उल्लेख मिलता है। प्राचीनतम बौद्ध ग्रंथ **पालि** भाषा में लिखे गए थे। यह भाषा मगध यानी दक्षिण बिहार में बोली जाती थी। इन ग्रंथों को अंततः संकलित तो किया गया श्रीलंका में, ईसा-पूर्व दूसरी सदी में, पर इनके धर्म शिक्षात्मक अंश बुद्ध के समय की स्थिति बताते हैं। इन ग्रंथों में हमें न केवल बुद्ध के जीवन के बारे में, बल्कि उनके समय के मगध, उत्तर बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई शासकों के बारे में भी जानकारी मिलती है। बौद्धों के धार्मिकेतर साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण और रोचक हैं गौतम बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ। ऐसा विश्वास था कि गौतम के रूप में जन्म लेने से पहले बुद्ध 550 से भी अधिक पूर्व-जन्मों से गुजरे थे और इनमें से कई जन्मों में उन्होंने पशु के जीवन पाए थे। पूर्व-जन्मों की वे कथाएँ **जातक** कहलाती हैं और प्रत्येक जातक-कथा एक प्रकार की लोक-कथा है। ये जातक ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी से दूसरी सदी ई. सन् तक की सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर बहुमूल्य प्रकाश डालते हैं। प्रसंगवश ये कथाएँ बुद्धकालीन राजनीतिक घटनाओं की भी जानकारी देती हैं।

जैन ग्रंथों की रचना प्राकृत भाषा में हुई थी। ईसा की छठी सदी में गुजरात के वलभी नगर में इन्हें अन्तिम रूप से संकलित किया गया था। फिर भी इन ग्रंथों में ऐसे अनेक अंश हैं जिनके आधार पर हमें महावीर कालीन बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायता मिलती है। जैन ग्रंथों में व्यापार और व्यापारियों के उल्लेख बार-बार मिलते हैं।

लौकिक साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। विधि-ग्रंथों को उसी कोटि में रखा जा सकता है। उन ग्रंथों में **धर्मसूत्र, स्मृतियाँ** और टीकाएँ पड़ती हैं और इन तीनों को मिलाकर **धर्मशास्त्र** कहा जाता है। धर्मसूत्रों का संकलन 500-200

ई. पू. में हुआ था। मुख्य स्मृतियाँ ईसा की आरम्भिक छह सदियों में संहिताबद्ध की गईं। इन में विभिन्न वर्णों, राजाओं और पदाधिकारियों के कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। इनमें संपत्ति के अर्जन, विक्रय और उत्तराधिकार के नियम सहित विवाह के विधान भी दिए गए हैं, तथा चोरी, हमला, हत्या, व्यभिचार आदि के लिए दंड विधान किया गया है।

कौटिल्य का **अर्थशास्त्र** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधिग्रंथ है। यह पंद्रह अधिकरणों या खंडों में विभक्त है जिनमें दूसरा और तीसरा अधिक पुराने हैं। लगता है कि इन अधिकरणों की रचना विभिन्न लेखकों ने की है। इस ग्रंथ को वर्तमान रूप ईसवी सन् के आरंभ में दिया गया, परंतु इसके प्राचीनतम अंश मौर्यकालीन समाज और अर्थतंत्र की झलक देते हैं। इसमें प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र तथा अर्थव्यवस्था के अध्ययन के लिए महत्त्व की सामग्री मिलती है।

हमें, भास, शूद्रक, कालिदास और बाणभट्ट की रचनाएँ भी प्राप्त हैं। इनका साहित्यिक मूल्य तो है ही, इनमें लेखकों के अपने-अपने समय की स्थितियाँ भी प्रतिबिम्बित हैं। कालिदास ने काव्य और नाटक लिखे, जिनमें सबसे प्रसिद्ध है **अभिज्ञानशाकुंतलम्**। इन महान सर्जनात्मक कृतियों में गुप्तकालीन उत्तरी और मध्य भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है।

इन संस्कृत स्रोतों के अलावा, कुछ प्राचीनतम तमिल ग्रंथ भी हैं जो संगम साहित्य में संकलित हैं। राजाओं द्वारा संरक्षित विद्या केन्द्रों में एकत्र होकर कवियों और भाटों ने तीन-चार सदियों में इस साहित्य का सृजन किया था। ऐसी साहित्यिक सभा को **संगम** कहते थे, इसलिए समूचा साहित्य **संगम** साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कहा जाता है कि इन कृतियों का संकलन ईसा की आरंभिक चार सदियों में हुआ, हालाँकि इनका अन्तिम संकलन छठी सदी में हुआ जान पड़ता है।

संगम साहित्य के पद्य 30,000 पंक्तियों में मिलते हैं, जो आठ **एट्टतोकै** अर्थात् संकलनों में विभक्त है। पद्य सौ-सौ के समूहों में संगृहीत हैं, जैसे **पुरनानूरु** (बाहर के चार शतक) आदि। मुख्य समूह दो हैं: **पटिनेडिकल पट्टिनेनकील कणक्कु** (अठारह निम्न संग्रह) और **पत्त पाट्ट** (दस गीत)। पहला दूसरे से पुराना माना जाता है, इसलिए लौकिक इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। संगम ग्रंथ बहुस्तरीय है, परंतु संप्रति शैली और विषय-वस्तु के आधार पर उनका स्तर-निर्धारण नहीं किया जा सकता है। जैसा कि आगे बताया गया है, इन के स्तरों का पता सामाजिक विकास की अवस्थाओं के आधार पर ही लगाया जा सकता है।

संगम ग्रंथ वैदिक ग्रंथों से, खासकर **ऋग्वेद** से, भिन्न प्रकार के हैं। ये धार्मिक ग्रंथ नहीं हैं। इनके मुक्तकों और प्रबन्धकाव्यों की रचना बहुत-सारे कवियों ने की है, जिनमें बहुत-से नायकों (वीरपुरुषों) और नायिकाओं का गुणगान है। इस प्रकार ये लौकिक कोटि के हैं। ये आदिम कालीन गीत नहीं हैं, बल्कि इनमें परिष्कृत साहित्य का दर्शन होता है। अनेक काव्यों में योद्धा, सामंत या राजा का नामतः उल्लेख करके उनके

वीरतापूर्ण कार्यों का सविस्तार वर्णन किया गया है। उसके द्वारा भाटों को दिए गए दानों की प्रशंसा की गई है। ये काव्य दरबारों में पढ़े जाते होंगे। इनकी तुलना होमर-युग के वीरगाथा काव्यों से की जा सकती है, क्योंकि इनमें भी युद्धों और योद्धाओं के वीर-युग का चित्रण है। इन ग्रंथों का उपयोग ऐतिहासिक प्रयोजन से करना आसान नहीं है। शायद इन काव्यों में उल्लिखित व्यक्तिवाचक नाम, उपाधि, वंश, क्षेत्र, युद्ध आदि आंशिक रूप से ही यथार्थ हैं। संगम ग्रंथों में उल्लिखित चेर राजाओं के नाम दानकर्ता के रूप में ईसा की पहली और दूसरी सदी के दानपत्रों में भी आए हैं।

संगम ग्रंथों में बहुत-से नगरों का उल्लेख मिलता है। इनमें उल्लिखित कावेरीपट्टनम् का समृद्धिपूर्ण अस्तित्व पुरातात्विक साक्ष्य से समर्थित हुआ है। इनमें यह भी बताया गया है कि यवन लोग अपने-अपने पोतों पर आते, सोना देकर गोल मिर्च खरीदते और स्थानीय लोगों को सुरा और दासियाँ पहुँचाते थे। यह व्यापार हम केवल लैटिन और ग्रीक लेखों से ही नहीं, बल्कि पुरातात्विक साक्ष्यों से भी जानते हैं। ईसा की आरंभिक सदियों में प्रायद्वीपीय तमिलनाडु के लोगों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के अध्ययन के लिए संगम साहित्य हमारा एकमात्र प्रमुख स्रोत है। व्यापार और वाणिज्य के बारे में इससे जो जानकारी मिलती है उसकी विदेशी विवरणों और पुरातात्विक प्रमाणों से भी पुष्टि होती है।

विदेशी विवरण

विदेशी विवरणों को देशी साहित्य का अनुपूरक बनाया जा सकता है। पर्यटक बनकर या भारतीय धर्म को अपना कर अनेक यूनानी, रोमन और चीनी यात्री भारत आए और अपनी आंखों देखे भारत के विवरण लिख छोड़े। ध्यान देने योग्य बात है कि भारतीय स्रोतों में सिकंदर के हमले की कोई जानकारी नहीं मिलती। उसके भारतीय कारनामों के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए हमें पूर्णतः यूनानी स्रोतों पर आश्रित रहना पड़ता है।

यूनानी लेखकों ने 326 ई. पू. में भारत पर हमला करने वाले सिकंदर महान के समकालीन के रूप में सन्द्रोकोत्तस के नाम का उल्लेख किया है। यह सिद्ध किया गया है कि यूनानी विवरणों का यह सन्द्रोकोत्तस और चन्द्रगुप्त मौर्य, जिनके राज्यारोहण की तिथि 322 ई. पू. निर्धारित की गई है, एक ही व्यक्ति थे। यह पहचान प्राचीन भारत के तिथिक्रम के लिए सुदृढ़ आधारशिला बन गई। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में दूत बनकर आए मेगास्थनीज की इंडिका उन उद्धरणों के रूप मे ही सुरक्षित है जो अनेक प्रख्यात लेखकों की रचनाओं में आए हैं। इन उद्धरणों को एक साथ मिलाकर पढ़ने पर न केवल मौर्य शासन व्यवस्था के बारे में ही बल्कि मौर्यकालीन सामाजिक वर्गों और आर्थिक क्रियाकलापों के बारे में भी मूल्यवान जानकारी मिलती है। इंडिका आँखें मूँद कर मान ली गई या अतिरंजित बातों से मुक्त नहीं है, पर ऐसी बातें तो अन्यान्य प्राचीन विवरणों में भी पाई जाती हैं।

ईसा की पहली और दूसरी सदियों के यूनानी और रोमन विवरणों में भारतीय बंदरगाहों के उल्लेख मिलते हैं, और भारत तथा रोमन साम्राज्य के बीच

होने वाले व्यापार की वस्तुओं की भी चर्चा मिलती है।

यूनानी भाषा में लिखी गई पेरिप्लुस ऑफ द एरिथ्रियन सी और टोलेमी की ज्योग्राफी नामक पुस्तकों में भी प्राचीन भूगोल और वाणिज्य के अध्ययन के लिए प्रचुर महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। इनमें पहली पुस्तक 80 और 115 ई. के बीच किसी समय किसी अज्ञात लेखक ने लिखी, जिसने लाल सागर, फ़ारस की खाड़ी और हिंद महासागर में होने वाले रोमन व्यापार का वृत्तांत दिया है। दूसरी पुस्तक 150 ई. के आसपास की मानी जाती है। प्लिनी की नेचुरलिस हिस्टोरिका ईसा की पहली सदी की है। यह लैटिन भाषा में है और हमें भारत और इटली के बीच होने वाले व्यापार की जानकारी देती है।

चीनी पर्यटकों में प्रमुख हैं- फा-हियान और ह्वेन सांग। दोनों बौद्ध थे और बौद्ध तीर्थों का दर्शन करने तथा बौद्ध धर्म का अध्ययन करने भारत आए थे। फा-हियान ईसा की पाँचवीं सदी के प्रारंभ में आया था और ह्वेन सांग सातवीं सदी के दूसरे चतुर्थांश में। फा-हियान ने गुप्तकालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला है, तो ह्वेन सांग ने इसी प्रकार की जानकारी हर्षकालीन भारत के बारे में दी है।

ऐतिहासिक दृष्टि

प्राचीन भारतीयों पर आरोप लगाया गया है कि उनमें ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव था। यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने वैसा इतिहास नहीं लिखा जैसा आजकल लिखा जाता है, और न वैसा ही लिखा जैसा यूनानियों ने लिखा है, फिर भी, हमें पुराणों में एक प्रकार का इतिहास अवश्य मिलता है। पुराणों की संख्या अठारह है; अठारह पारंपरिक पद है। विषयवस्तु की दृष्टि से पुराण विश्वकोश जैसे हैं, पर इनमें गुप्त काल के आरंभ तक का राजवंशीय इतिहास आया है। इनमें घटना के स्थलों का उल्लेख है और कभी-कभी घटना के कारणों और परिणामों का विवेचन भी किया गया है, परंतु यथार्थ में ये घटनाएँ विवरण लिखे जाने के काफी पहले हो चुकी थीं। इन पुराणों के लेखक परिवर्तन की धारणा से अनभिज्ञ नहीं थे, जो इतिहास का सारतत्व होती हैं। पुराणों में चार युग बताए गए हैं- कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इनमें हर युग अपने पिछले युग से घटिया बताया गया है और कहा गया है कि एक युग के बाद जब दूसरा युग आरंभ होता है तब नैतिक मूल्यों और सामाजिक मानदण्डों का अधःपतन होता है। काल और स्थान जो इतिहास के महत्त्वपूर्ण तत्व है उसका महत्त्व इनमें बताया गया है। कई प्रकार के संवत्, जिनके निर्देश के साथ घटनाएँ अभिलिखित होती थीं, प्राचीन भारत में ही शुरू हुए। विक्रम संवत् का आरम्भ 57 ई. पू. में हुआ, शक संवत् का 78 ई. में और गुप्त संवत् का 319 ई. में। उत्कीर्ण अभिलेखों में घटनाओं का उल्लेख काल और स्थान के संदर्भ के साथ किया गया है। तीसरी सदी ई. पू. के दौरान अशोक के शिलालेखों में काफी ऐतिहासिक दृष्टि लक्षित होती है। अशोक ने 37 वर्ष राज किया। उनके शिलालेखों में उनके राज्य काल के आठवें से लेकर सत्ताइसवें वर्ष तक की घटनाएँ वर्णित हैं। अभी तक उनके जो शिलालेख मिले हैं उनसे उनके राज्यकाल के केवल नौ वर्षों की घटनाओं का पता चलता है। भविष्य

में और अभिलेखों के मिलने पर उनके राज्यकाल के शेष वर्षों की घटनाओं का भी पता चल सकता है। इसी तरह ईसा की पहली सदी में कलिंग के खारवेल ने हाथीगुंफा अभिलेख में अपने जीवन की बहुत सी घटनाओं का ज़िक्र वर्षवार किया है।

भारत के लोगों ने जीवनचरितात्मक रचनाओं में ऐतिहासिक दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है। इसका सुंदर उदाहरण है **हर्षचरित**, जिसकी रचना बाणभट्ट ने ईसा की सातवीं सदी में की। यह लगभग जीवनचरित के ढंग का गद्यकाव्य है और अलंकारों से इतना जटिल है कि परवर्ती नकलचियों को निराश होना पड़ा। इसमें हर्षवर्धन के आरंभिक जीवन का वृत्तांत है। अत्युक्तियों की भरमार के होते हुए भी यह हर्ष के दरबार की चहल-पहल और अपने युग के सामाजिक और धार्मिक जीवन का विलक्षण आभास देता है। बाद में कई और भी **चरित** लिखे गए। संध्याकार नंदी के **रामचरित** (बारहवीं सदी) में बताया गया है कि कैवर्त्त जाति के किसानों और पाल वंश के राजा रामपाल के बीच किस तरह लड़ाई हुई और किस तरह रामपाल विजयी हुए। विल्हण के **विक्रमांकदेवचरित** में कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य पंचम् (1076-1127) के पराक्रमों का वृत्तांत है। बारहवीं-तेरहवीं सदी में गुजरात में तो कई सेठों के भी चरित (जीवनी) लिखे गए। इस तरह की ऐतिहासिक रचनाएँ दक्षिण भारत में भी हुई होंगी, लेकिन अभी तक ऐसा एक ही वृत्तांत प्रकाश में आया है। इसका नाम है **मूषिकवंश**, इसकी रचना अतुल ने ग्यारहवीं सदी में की। इसमें मूषिक राजवंश का वृत्तांत है जिसका शासन उत्तरी केरल में था। परंतु आरंभिक ऐतिहासिक लेखन का सबसे अच्छा उदाहरण है **राजतरंगिणी** (राजाओं की धारा), जिसकी रचना कल्हण ने बारहवीं शताब्दी में की। यह कश्मीर के राजाओं के चरितों का संग्रह है। दरअसल यह पहली कृति है जिसमें आज के अर्थ में इतिहास के बहुत कुछ लक्षण विद्यमान हैं।

इतिहास का निर्माण

अब तक प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक दोनों तरह के बहुत सारे पुरास्थलों की खुदाई और छानबीन की जा चुकी है, परंतु प्राचीन भारतीय इतिहास की मुख्य धारा में उसके परिणामों को स्थान नहीं मिल पाया है। भारत में सामाजिक विकास किन-किन अवस्थाओं से गुज़रा है इसका बोध तब तक नहीं हो सकता जब तक प्रागैतिहासिक पुरातत्व के परिणामों की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा। इतिहासकालीन पुरातत्व भी उतने ही महत्त्व का है। यद्यपि प्राचीन इतिहास के काल के 150 से भी अधिक पुरास्थलों की खुदाई हो चुकी है तथापि प्राचीन कालों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के अध्ययन में उन खुदाइयों की प्रासंगिता का विवेचन सामान्य पुस्तकों में नहीं किया गया है। यह काम परम आवश्यक है; प्राचीन भारत के नगरीय इतिहास के संदर्भ में तो यह और भी जरूरी है। अब तक अधिकांशतः बौद्ध और कुछेक ब्राह्मणिक स्थलों के ही महत्त्व रेखांकित किए गए हैं, किंतु यह आवश्यक है कि धार्मिक इतिहास के अध्ययन में आर्थिक और सामाजिक पक्षों पर ध्यान दिया जाए।

प्राचीन इतिहास अभी तक मुख्यतः देशी या विदेशी साहित्यिक स्रोतों के आधार पर ही रचा

गया है। सिक्कों और अभिलेखों की कुछ भूमिका अवश्य रही है, किंतु अधिक महत्त्व ग्रंथों को ही दिया गया है। अब नये-नये तरीकों की ओर ध्यान देना है। हमें एक ओर वैदिक युग और दूसरी ओर चित्रित धूसर मृदभांड (पी.जी. डब्ल्यू) तथा अन्य पुरातात्विक सामग्रियों के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित करना है। इसी तरह, प्रारंभिक पालि ग्रन्थों का संबंध उत्तरी काला पालिशदार मृदभांड (एन. बी. पी. डब्ल्यू) पुरातत्व के साथ जोड़ना होगा और, संगम साहित्य से प्राप्त सूचनाओं को उन सूचनाओं के साथ मिलाना है जो प्रायद्वीपीय भारत को आरंभिक महापाषाणीय पुरातत्व से जोड़ता है।

पुराणों में दी गई लंबी-लंबी वंशावलियों की अपेक्षा पुरातात्विक साक्ष्य को कहीं अधिक मूल्य दिया जाना चाहिए। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार, अयोध्या के राम का काल 2000 ई. पू. के आस-पास भले ही मान लें, पर अयोध्या में की गई खुदाई और व्यापक छानबीन से तो यही सिद्ध होता है कि उस काल के आस-पास वहाँ कोई बस्ती थी ही नहीं। इसी तरह **महाभारत** में कृष्ण की भूमिका भले ही महत्त्वपूर्ण हो, पर मथुरा में पाए गए 200 ई. पू. से 300 ई. तक के बीच के अभिलेखों और मूर्तिकला कृतियों से उनके अस्तित्व की पुष्टि नहीं होती है। इसी तरह की कठिनाइयों के कारण, **महाभारत** और **रामायण** के आधार पर कल्पित महाकाव्य-युग (एपिक एज) की धारणा त्यागनी होगी, हालाँकि अतीत में प्राचीन भारत पर लिखी गई लगभग सभी सर्वेक्षण-पुस्तकों में इसे एक अध्याय बनाया गया है। अवश्य ही **रामायण** और **महाभारत** दोनों में सामाजिक विकास के विभिन्न चरण ढूँढे जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि ये महाकाव्य सामाजिक विकास की किसी एक अवस्था के द्योतक नहीं हैं, इनमें अनेक बार परिवर्तन हुए हैं जैसा कि इस अध्याय में पहले बताया जा चुका है।

कई अभिलेखों की उपेक्षा अब तक यह कहकर की जाती रही है कि उनका ऐतिहासिक मूल्य नाममात्र है। "ऐतिहासिक मूल्य" का अर्थ यह मान लिया गया है ऐसी कोई जानकारी जो राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए अपेक्षित हो। पौराणिक अनुश्रुतियों की अपेक्षा अभिलेख निश्चय ही अधिक विश्वसनीय हैं। जैसे, अनुश्रुति का सहारा सातवाहनों के आरंभ को पीछे ढकेलने में लिया जाता है, जबकि अभिलेखीय आधार पर उनका आरंभ काल ईसा-पूर्व पहली सदी है। अभिलेखों में किसी राजा का शासन-काल, उसकी विजय, और उसका राज्य-विस्तार ये बातें मिल सकती हैं पर साथ ही राज्यतंत्र, समाज, अर्थतंत्र और धर्म के विकास की प्रवृत्तियाँ भी तो दिखाई दे सकती हैं। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में अभिलेखों का सहारा केवल राजनीतिक या धार्मिक इतिहास के प्रसंग में ही नहीं लिया गया है। अभिलेखीय अनुदान पत्रों का महत्त्व केवल वंशावलियों और विजयावलियों के लिए ही नहीं है, बल्कि और भी विशेष रूप से ऐसी जानकारी के लिए है कि किन-किन नए राज्यों का उदय हुआ और सामाजिक तथा भूमि व्यवस्था में, विशेषतः गुप्तोत्तर काल में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं। इसी तरह सिक्कों का सहारा केवल हिंद-यवनों, शकों, सातवाहनों और कुषाणों के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए ही नहीं लेना है बल्कि व्यापार और नगरीय जीवन के

इतिहास की झलक पाने के लिए भी लिया जाना आवश्यक है।

साराश यह है कि इतिहास निर्माण के लिए ग्रंथों, सिक्कों, अभिलेखों, पुरातत्व आदि से निकली सारी सामग्री का ध्यान से संकलन होना परमावश्यक है। बताया जा चुका है कि इसमें विभिन्न स्रोतों के आपेक्षिक महत्त्व की समस्या खड़ी होती है। जैसे, सिक्के, अभिलेख, और पुरातत्व उन मिथक से अधिक मूल्यवान हैं जो हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में मिलते हैं। पौराणिक मिथक प्रचलित मानकों का समर्थन करते हैं, लोकाचार को वैध बताते हैं, और जातियों या अन्य सामाजिक वर्गों में संगठित लोगों के विशेषाधिकारों और अपात्रताओं को न्यायोचित ठहराते हैं, परंतु उनमें वर्णित घटनाओं को यों ही सही नही मान लिया जा सकता है। अतीत के प्रचलनों की व्याख्या उनके वर्तमान अवशेषों से, या आदिम जनों के अध्ययन से प्राप्त अंतर्दृष्टि से भी की जा सकती है। कोई भी ठोस ऐतिहासिक पुनर्निर्माण अन्य प्राचीन समाजों में होने वाली हलचल से आँखें नहीं मूंद सकता। तुलनात्मक दृष्टि को अपनाने से प्राचीन भारत में पाई जाने वाली किसी बात को "विरल" या "अभूतपूर्व" मान लेने का दुराग्रह दूर हो सकता है और अध्येताओं को ऐसी प्रवृत्तियाँ भी दिखाई दे सकती हैं जो अन्य देशों के प्राचीन समाजों की प्रवृत्तियों से मिलती-जुलती हों।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें

   भौतिक संस्कृति, मुद्राशास्त्र, पुरालेख, पुरालिपि, अनुलंब और क्षैतिज उत्खनन, महापाषाण, पुरातत्व, अभिलेख, लौकिक साहित्य।

2. प्राचीन वस्तुओं का काल-निर्धारण किस प्रकार किया जाता है? समझाएँ कि कार्बन C^{14} से काल-निर्धारण करने की विधि क्या है।

3. बताएँ कि भारत के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास के अध्ययन में सिक्कों और अभिलेखों का क्या महत्त्व है।

4. इतिहास के पुनर्निर्माण में विभिन्न प्रकार के स्रोतों के सापेक्षिक महत्त्व का विवेचन करें।

5. प्राचीन भारत के अभिलेख किन-किन भाषाओं और लिपियों में पाए जाते हैं?

6. दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास के अध्ययन में संगम साहित्य का महत्त्व स्पष्ट करें।

7. पाठ्यपुस्तक में बताए गए स्रोतों के विभिन्न प्रकारों को किसी संग्रहालय में जाकर देखें। जो कुछ सिक्के, अभिलेख और पुरानी पांडुलिपियाँ देखने को मिलें, उन की लिपि और भाषा को पहचानने की कोशिश करें।

8. भारत में कागज़ का प्रयोग कब से हुआ? कागज के प्रयोग से पूर्व पांडुलिपि किन आधारों पर लिखी जाती थी?

9. यदि हो सके, किसी पुरातात्विक स्थल का अवलोकन कीजिए और पता लगाइए कि पुरातत्ववेत्ता किस तरह अपना काम करते हैं।

10. प्राचीन भारतीय इतिहास के साहित्यिक स्रोतों की सूची बनाने के लिए एक सामूहिक परियोजना चलाएँ। परियोजना निरंतर चलने वाली हो सकती है, और आप उसकी सूची में नई-नई सूचनाएँ जोड़ सकते हैं। परियोजना में स्रोतों के बारे में विविध सूचनाएँ शामिल की जा सकती हैं, जैसे उसका लेखन-काल, उसकी मूल भाषा और लिपि तथा उसकी प्रमुख विषय वस्तुओं का संक्षिप्त विवरण।

11. साहित्यिक स्रोतों के साक्ष्य को अन्य स्रोतों से संपुष्ट करना क्यों आवश्यक है? कक्षा में इस पर परिचर्चा करें।

अध्याय 4

भौगोलिक ढाँचा

भारत का इतिहास इसके भूगोल के सामान्य ज्ञान के बिना समझा नहीं जा सकता। भारतीय उपमहाद्वीप उतना बड़ा है जितना रूस को छोड़ सारा यूरोप। इसका कुल क्षेत्रफल 4,202,500 वर्ग किलोमीटर है। यह उपमहाद्वीप पाँच देशों में बँटा है-भारत, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान और पाकिस्तान। भारत की आबादी 98.5 करोड़ के लगभग है। इसमें पच्चीस राज्य और सात केन्द्र शासित प्रदेश (राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली सहित) हैं। इनमें कई राज्य यूरोप के कई देशों से बड़े हैं, जैसे, क्षेत्रफल में बिहार इंग्लैंड के बराबर है, और यूरोप के कई देश मध्य प्रदेश से छोटे हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप एक स्पष्ट भौगोलिक इकाई है और इसका अधिकांश भाग उष्ण कटिबंध में पड़ता है। भारत के इतिहास में मानसून की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। दक्षिण-पश्चिमी मानसून यहाँ जून से अक्तूबर तक रहता है और देश के अधिकांश क्षेत्र में विभिन्न मात्रा में पानी बरसता है। प्राचीन काल में सिंचाई का कोई विशेष महत्त्व नहीं था और खेती वर्षा पर ही निर्भर थी। आज जिसे हम उत्तर भारत में खरीफ फसल कहते हैं वह प्राचीन काल में मुख्यतः दक्षिण-पश्चिमी मानसून पर आश्रित थी। पश्चिमी विक्षोभ से उत्तरी भारत में जाड़े में वर्षा होती है जहाँ उस समय गेहूँ, जौ, आदि प्रमुख फसले होती हैं। प्रायद्वीपीय भारत के कुछ भाग, विशेषरूप से तमिलनाडु के तटीय क्षेत्र में ज्यादातर वर्षा उत्तरी-पूर्वी मानसून से होती है जिसका समय मध्य अक्टूबर से लेकर मध्य दिसंबर तक होता है। जब से ईसा की पहली सदी के आसपास मानसून की दिशा मालूम हो गई, व्यापारी लोगों ने उत्तर-पश्चिमी मानसून के सहारे जहाज़ों पर सवार हो पश्चिम एशिया और भूमध्यसागरीय क्षेत्र से चलकर भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया आना और फिर उत्तर-पूर्वी मानसून के उतरने पर पश्चिम की ओर लौट जाना शुरू कर दिया। भारत मानसून के ज्ञान के फलस्वरूप पश्चिम एशिया, भूमध्यसागरीय क्षेत्र और दक्षिण-पूर्व एशिया से व्यापार करने और सांस्कृतिक संपर्क स्थापित करने में समर्थ हो गया।

भारत उत्तर में हिमालय से और शेष तीन दिशाओं में समुद्रों से घिरा है। हिमालय साइबेरिया से चलकर मध्य एशिया को पार करने वाली उत्तरध्रुवीय ठंडी हवाओं को रोकता है और इस प्रकार हमारे देश की रक्षा करता है। यही कारण है कि उत्तर भारत

की जलवायु लगभग पूरे साल काफी गर्म रहती है। मैदानों में अधिक जाड़ा नहीं पड़ने से यहाँ के लोगों को बहुत अधिक कपड़े नहीं पहनने पड़ते और वे खुले में अधिक समय तक रह सकते हैं। दूसरे, हिमालय बहुत ऊँचा होने के कारण उत्तर से होने वाले हमलों से देश की रक्षा करता है। यह बात उन दिनों विशेष रूप से लागू थी जब औद्योगिक युग नहीं आया था और संचार-साधन इतने विकसित नहीं हुए थे। फिर भी उत्तर-पश्चिम में सुलेमान पर्वत-शृंखला, जो दक्षिण की ओर हिमालय-पर्वत शृंखला की कड़ी है, खैबर, बोलन और गोमल दर्रे से पार की जा सकती थी। दक्षिण की ओर सुलेमान पर्वत-शृंखला बलूचिस्तान में किरथार पर्वत-शृंखला से जुड़ी है, जिसे बोलन दर्रे से पार किया जा सकता था। इन दर्रों से भारत और मध्य एशिया के बीच प्रागैतिहासिक काल से ही आवागमन होता आया है। ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया के अनेक लोग हमलावरों और अप्रवासियों के रूप में भारत आए और यहाँ से वहाँ गए। यहाँ तक कि हिमालय पर्वत-शृंखला का पश्चिमी विस्तार, जो हिंदूकुश कहलाता है, सिंधु और आक्सस के बीच पार कर लोग आते- जाते थे। ये दर्रे एक ओर भारत और दूसरी ओर मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध के स्थापन में बड़े सहायक हुए हैं।

हिमालय में ही कश्मीर और नेपाल की उपत्यकाएँ हैं। कश्मीर की घाटी चारों ओर से ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों से घिरी हुई है। इससे उसने अपनी अलग तरह की जीवन-पद्धति विकसित कर ली। लेकिन यहाँ कई दर्रों द्वारा पहुँचा जा सकता था। इस घाटी में कड़ा जाड़ा पड़ता है, अतः यहाँ के अनेक लोगों को सर्दियों में नीचे मैदानों में उतर जाना पड़ता था और गर्मियों में मैदानों के भेड़-बकरी चराने वाले यहाँ चले आते थे। इस तरह मैदानों और इस घाटी के बीच आर्थिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान बना हुआ था। कश्मीर को मध्य एशिया के इलाकों में बौद्ध धर्म के प्रचार का केन्द्र-स्थल बनने में पामीर का पठार कोई बाधक नहीं हुआ। नेपाल की घाटी आकार में छोटी है। गंगा के मैदानी इलाकों के लोगों ने यहाँ पहुँचने के लिए अनेक दर्रे ढूँढ निकाले थे। कश्मीर की तरह इस घाटी में भी संस्कृत की उन्नति खूब हुई। दोनों ही उपत्यकाएँ संस्कृत पांडुलिपियों का सबसे बड़ा भंडार रही हैं।

मैदानों की कछारी मिट्टी में पनपे घने जंगलों की अपेक्षा हिमालय की तराइयों के जंगलों को साफ़ करना आसान था। इन तराइयों में बहने वाली नदियाँ कम चौड़ी होती हैं अतः उन्हें पार करना कठिन न था। यही कारण है कि प्रारंभिक यात्रा-मार्ग हिमालय की तराइयों में ही पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम की ओर विकसित हुए। संभवतः इन्हीं कारणों से ईसा-पूर्व छठी सदी में सबसे पुरानी कृषि-बस्तियाँ तराई वाले इलाकों में ही बनीं और यहीं के रास्ते व्यापार के लिए अपनाए गए।

ऐतिहासिक भारत का वक्षस्थल उन महत्त्वपूर्ण नदियों का क्षेत्र है जो उष्ण कटिबंधीय मानसूनी वर्षा से लबालब भरी रहती हैं। नदियों के ये क्षेत्र हैं- सिंधु का मैदान, सिंधु-गंगा जलविभाजक, गंगा की घाटी और ब्रह्मपुत्र की घाटी। ज्यों-ज्यों हम पश्चिम से पूरब की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों पाते हैं कि वार्षिक वृष्टिमान क्रमशः 25 सेंटीमीटर से बढ़ते-बढ़ते 250 सेंटीमीटर तक पहुँच जाता है।

25 से 37 सेंटीमीटर वर्षा द्वारा पोषित सिंधु-प्रदेश के पेड़-पौधों को और संभवत: 37 से 60 सेंटीमीटर वर्षा द्वारा पोषित पश्चिमी गंगाघाटी के पेड़-पौधों को भी पत्थर और तांबे के औजारों से काटकर जमीन को कृषि योग्य बनाना संभव था। परंतु 60 से 125 सेंटीमीटर वर्षा द्वारा पोषित मध्य गंगा घाटी के जंगलों के बारे में ऐसा संभव नहीं था और 125 से 250 सेंटीमीटर वर्षा से पोषित ब्रह्मपुत्र घाटी के जंगलों के बारे में तो कतई संभव नहीं था। घने जंगलों और साथ ही कठोर भूमि वाले इन प्रदेशों को साफ करना लोहे के औज़ारों से भी संभव था, परंतु लोहे के औज़ार तो बहुत बाद में विकसित हुए। अत: प्राकृतिक संपदाओं का इस्तेमाल पहले कम वर्षा वाले पश्चिमी प्रदेश में ही किया गया और बड़ी बस्तियों का विस्तार आम तौर से पश्चिम से पूरब की ओर होता गया।

सिंधु और गंगा के मैदानों में शुरू हुई खेती से यहाँ बढ़िया फसल होने लगी और इसने एक के बाद एक कई संस्कृतियों का संभरण किया। सिंधु और गंगा के पश्चिमी मैदानों में मुख्यत: गेहूँ और जौ की उपज होती थी, जबकि मध्य तथा निचले गंगा के मैदानों में मुख्यत: चावल पैदा किया जाता था। चावल गुजरात और विंध्य पर्वत के दक्षिण के लोगों का भी मुख्य भोजन बन गया। हड़प्पा संस्कृति का उद्भव और विकास सिंधु की घाटी में हुआ, वैदिक संस्कृति का उद्भव पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में हुआ और विकास पश्चिमी गंगा घाटी में। वैदिकोत्तर संस्कृति, जो मुख्यत: लोहे के प्रयोग पर आश्रित थी, मध्य गंगा घाटी में फूली-फली। निचली गंगा घाटी और उत्तरी बंगाल को वास्तव में गुप्त युग में उत्कर्ष मिला। अंत में, असम सहित समूची ब्रह्मपुत्र घाटी को आरंभिक मध्य युग में महत्त्व प्राप्त हुआ। प्रमुख शक्तियाँ इन घाटियों और मैदानों पर प्रभुत्व पाने के लिए आपस में लड़ती रहीं। इनमें भी ये शक्तियाँ गंगा-यमुना दोआब के लिए विशेष लोलुप रहीं और इसके लिए संघर्ष होते रहे।

नदियाँ वाणिज्य और संचार की मानो धमनियाँ थीं। प्राचीन काल में सड़क बनाना कठिन था, इसलिए आदमियों और वस्तुओं का आवागमन नावों से होता था। अत: नदी-मार्ग सैनिक और वाणिज्य संचार में बड़े ही साधक हुए। अशोक द्वारा स्थापित प्रस्तर स्तंभ नावों से ही देश के दूर-दूर स्थानों तक पहुँचाए गए। संचार-साधन के रूप में नदियों की यह भूमिका 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के दिनों तक कायम रही। इसके अलावा, नदियों की बाढ़ का पानी आसपास के क्षेत्रों में फैलता था और उन्हें उपजाऊ बनाता था। इन नदियों से नहरें भी निकाली गई थीं। किंतु नदियों की भारी बाढ़ से हर साल उत्तरी मैदानों के गांव और शहर तबाह हो जाते थे। इस प्रकार अनेक प्राचीन इमारतें बाढ़ों में बहकर नष्ट हो गईं। फिर भी हस्तिनापुर, प्रयाग, वाराणसी और पाटलिपुत्र जैसे अनेक नगर और राजधानियाँ नदी तट पर बसी थीं। आज कल नए शहरों की स्थापना रेल मार्गों या सड़कों के संगम पर की जाती है अथवा औद्योगिक या खान वाले क्षेत्रों में। लेकिन औद्योगिक युग के आरंभ से पहले नगर अधिकतर नदी के तट पर ही स्थापित होते थे।

सब से बढ़कर, नदियों ने राजनीतिक और सांस्कृतिक सीमाओं का काम किया है। यह काम

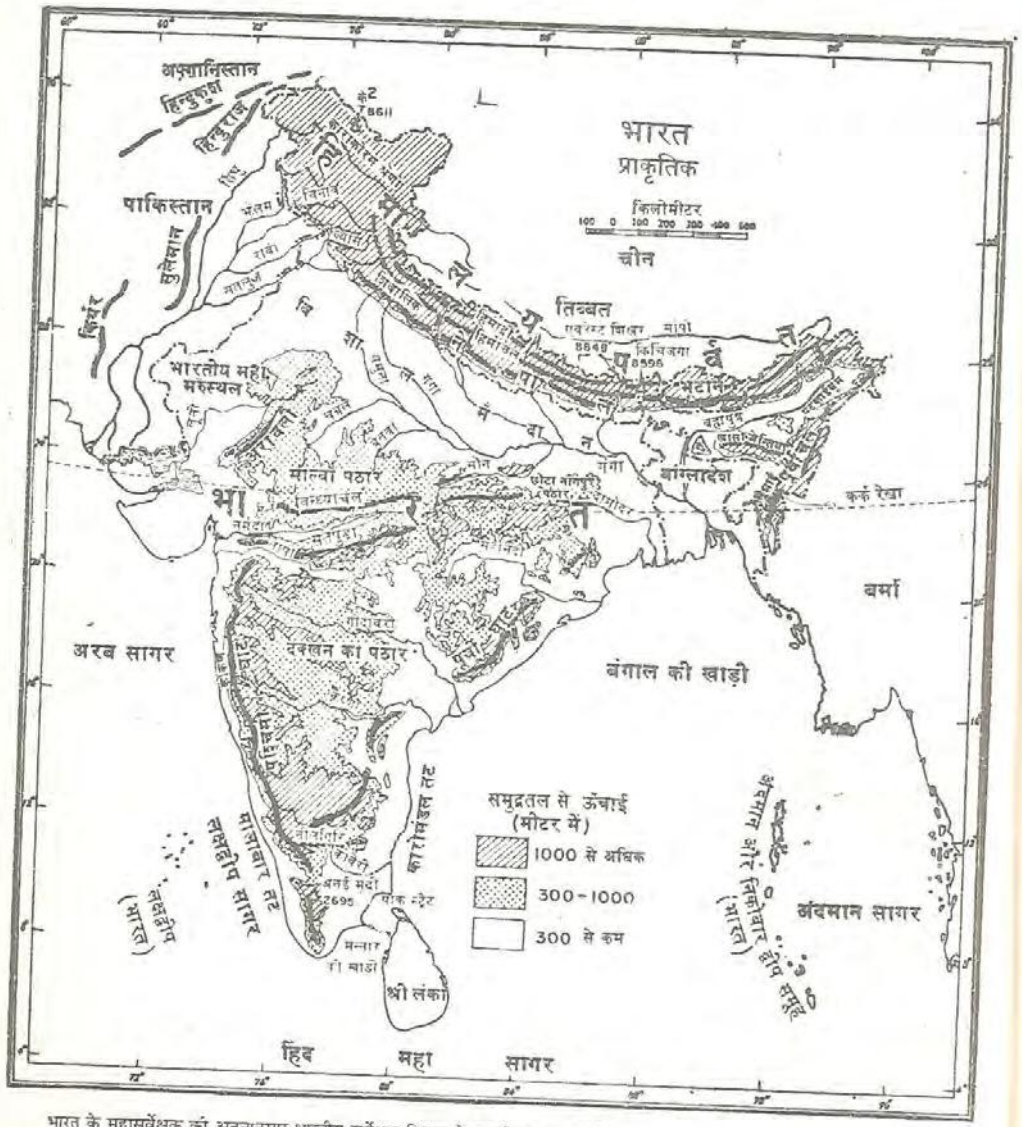

भारत के महासर्वेक्षक का अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

पर्वतों ने भी किया है। उदाहरणार्थ, भारतीय प्रायद्वीप के पूर्वी भाग में आज के उड़ीसा का समुद्रतटवर्ती प्रदेश जो कलिंग देश कहलाता था उसकी उत्तरी सीमा महानदी थी और दक्षिण सीमा गोदावरी। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश के उत्तर में गोदावरी और दक्षिण में कृष्णा है। इन दोनों नदियों के मुहानों के मैदान को ईसवी सन् के आरंभकाल में अचानक ऐतिहासिक महत्त्व मिला। तब सातवाहनों और उनके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में यहाँ अनेक नगर और बंदरगाह स्थापित हुए। फिर तमिलनाडु का अधिकतर भाग उत्तर में कृष्णा नदी और दक्षिण में कावेरी नदी से घिरा है। कावेरी घाटी दक्षिण में वैगई नदी तक और उत्तर में पेन्नार नदी तक फैली हुई है। यह स्वतंत्र भौगोलिक क्षेत्र था और ईसवी सन् के आरंभ के थोड़े पहले यहाँ चोल शासन स्थापित हुआ था। यह प्रदेश उत्तरी तमिलनाडु से अलग था। इस उत्तरी तमिलनाडु ने, जो उच्च भूमिवाला प्रदेश था, पल्लव शासन काल में ईसा की चौथी-छठी सदियों में प्रसिद्धि पाई। इसके प्रायद्वीप का पूर्वी भाग कोरोमंडल समुद्रतट से घिरा हुआ है। यद्यपि पूर्वी घाट समुद्र तट रेखा के पार्श्व में ही है, तथापि ये अधिक ऊँचे नहीं हैं। पूर्व की ओर बहकर बंगाल की खाड़ी में गिरने वाली नदियों ने इनमें अनेक रास्ते बना दिए हैं। इसलिए प्राचीन काल में पूर्वी समुद्रतट तथा आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के अन्य भागों के बीच आवागमन में कठिनाई नहीं थी, आरिकमेडु (आधुनिक नाम), महाबलिपुरम और कावेरीपट्टनम् के बंदरगाह कोरोमंडल पर ही अवस्थित थे।

प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में ऐसी सुस्पष्ट प्रादेशिक इकाइयाँ नहीं हैं। परंतु उत्तर में ताप्ती (दमन गंगा) और दक्षिण में भीमा के बीच का प्रदेश महाराष्ट्र के रूप में पहचाना जा सकता है। उत्तर में भीमा और ऊपरी कृष्णा तथा दक्षिण में तुंगभद्रा के बीच का प्रदेश कर्नाटक के रूप में पहचाना जा सकता है। तुंगभद्रा के उत्तर और दक्षिण में स्थित युद्धरत व्यक्तियों के बीच इस नदी ने लंबे समय तक प्राकृतिक सीमा का काम किया। एक ओर बादामी के चालुक्यों और राष्ट्रकूटों को तुंगभद्रा नदी के दक्षिण में अपनी सत्ता फैलाने में कठिनाई हुई, तो दूसरी ओर पल्लवों और चोलों को इस नदी के उत्तर में राज्य-विस्तार करने में कठिनाई हुई। प्रायद्वीप के सुदूर दक्षिण-पश्चिम के तटीय प्रदेश में आजकल का केरल राज्य है। प्रायद्वीप का समुद्र तटवर्ती पश्चिमी भाग मालाबार तट कहलाता है जिसके इस तट पर कई बंदरगाह और छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए, फिर भी इस तटीय प्रदेश और समीप के महाराष्ट्र, कर्नाटक और केरल के प्रदेशों के बीच आवागमन में ऊँचे पश्चिमी घाट कठिनाइयाँ पैदा करते थे क्योंकि इनके दर्रों को पार करना आसान नहीं है।

उत्तर में सिंधु और गंगा की नदी-प्रणालियाँ और दक्षिण में विन्ध्यपर्वत शृंखला, इन दोनों के बीच का विस्तृत प्रदेश अरावली पर्वतों द्वारा दो भागों में बंटा हुआ है। अरावली पर्वतों से पश्चिम का भू-भाग थार मरुभूमि में पड़ता है, हालांकि राजस्थान का हिस्सा भी इस क्षेत्र में पड़ता है। प्राचीन काल में इस विस्तृत मरुभूमि में बस्तियाँ संभव नहीं थीं। फिर भी इस मरुभूमि में कुछ उर्वर मरुद्यान थे, जहाँ कहीं-कहीं बस्तियाँ थीं और आरंभ काल से ही ऊँटों के सहारे यह

मरुभूमि पार करना संभव था। राजस्थान का दक्षिण-पूर्वी भाग प्राचीन काल से ही अपेक्षाकृत उपजाऊ रहा है। इसके अलावा, खेत्री की तांबे की खानें भी उसी क्षेत्र में होने से वहाँ ताम्र-पाषाण युग से ही बस्तियाँ बनती रही हैं।

राजस्थान की सीमा गुजरात के उपजाऊ मैदानों में जा मिलती है। नर्मदा, ताप्ती, माही और साबरमती नदियाँ इस प्रदेश को पार करती हुई समुद्र में गिरती हैं। दकनी पठार के पश्चिमोत्तर छोर पर स्थित इस गुजरात प्रदेश में कम वर्षा वाला क्षेत्र काठियावाड़ वाला प्रायद्वीप भी शामिल है। इस राज्य का तटीय क्षेत्र काफी दंतुर होने के कारण यहाँ कई बंदरगाह बने हैं। यही कारण है कि प्राचीन काल से ही गुजरात समुद्रतटीय और विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा है, और यहाँ के लोगों ने अपने को उद्यमशील व्यापारी सिद्ध किया है।

गंगा-जमुना दोआब के दक्षिण में मध्य प्रदेश राज्य है जो पश्चिम में चंबल नदी, पूर्व में सोन नदी और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत और नर्मदा नदी से घिरा है। इसके उत्तरी भाग में उपजाऊ मैदान है। आजकल मध्य प्रदेश हमारे देश का सबसे बड़ा राज्य है। यह मोटे तौर पर पूर्वी और पश्चिमी दो भागों में बाँटा जा सकता है। पूर्वी भाग को, जो ज्यादातर विन्ध्य पर्वत से घिरा है, गुप्त वंश के समय (ईसा की चौथी-पाँचवीं सदियों) में ऐतिहासिक महत्त्व मिला था। परंतु पश्चिमी मध्य प्रदेश में मालवा का वह भू-भाग शामिल है जो ईसा-पूर्व छठी सदी से ऐतिहासिक क्रियाकलापों का क्षेत्र रहा है। गुजरात के बंदरगाहों के लिए मालवा महत्त्वपूर्ण पृष्ठ प्रदेश (भीतरी प्रदेश) था, और इसीलिए मालवा तथा गुजरात पर अधिकार स्थापित करने के लिए दकन और उत्तरी शक्तियों के बीच अनेक युद्ध हुए। इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पर अधिकार जमाने के लिए ईसा की पहली और दूसरी सदियों में शकों और सातवाहनों ने लड़ाइयाँ लड़ीं, और अठारहवीं सदी में मराठों और राजपूतों ने भी ऐसी लड़ाइयाँ लड़ीं।

नदियों द्वारा, कहीं-कहीं पर्वतों द्वारा घिरा और कहीं-कहीं डेल्टा या पठार रूप-वाला ऐसा प्रत्येक प्रदेश एक-एक राजनीतिक और प्रशासनिक इकाई था, जहाँ विभिन्न राजवंशों के शासन का उत्थान-पतन होता रहा। विशाल देश में यातायात की कठिनाइयों को और प्राकृतिक सीमाओं की मजबूती को देखते हुए शासक वर्ग के लिए यह आसान नहीं था कि अन्य सारे प्रदेशों पर भी अपना शासन स्थापित कर सके। शनैः शनैः प्रत्येक प्रदेश ने एक ऐसी पृथक सांस्कृतिक इकाई का रूप धारण किया जिसकी अपनी-अपनी भाषा और जीवन-पद्धति बन गयी। परंतु उत्तरी और पश्चिमी भारत की अधिकांश भाषाएँ एक ही मूल हिन्द-आर्य भाषा से विकसित हुई हैं, और इसीलिए इनमें बहुत ही तात्विक समानता दिखाई देती हैं। एक और भी महत्त्व की बात है कि लगभग सारे देश में संस्कृत का विकास होने लगा और वह समझी जाने लगी।

विन्ध्य पर्वत शृंखला देश को पूरब से पश्चिम तक बीचों-बीच विभक्त करती है और इस प्रकार उत्तर भारत और दक्षिण भारत की विभाजक रेखा बनी हुई है। द्रविड़ भाषा बोलने वाले लोग विन्ध्य के दक्षिण में रहते और भारतीय आर्यभाषा बोलने वाले इसके उत्तर में। दोनों के बीच के विन्ध्य क्षेत्र

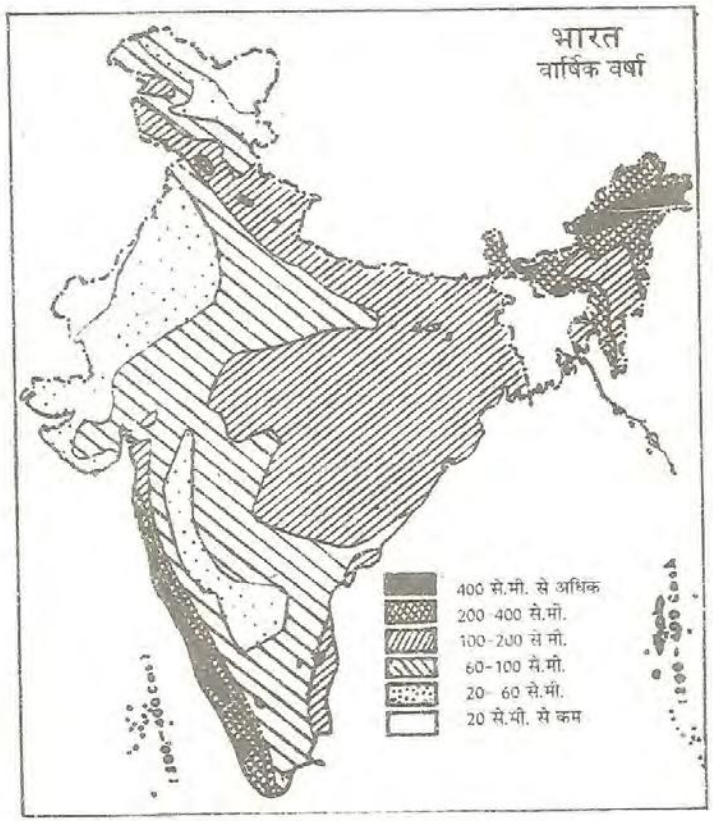

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से भाषे गए चालू समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

भारत · वार्षिक वर्षा

में आदिवासी लोग रहते थे, जहाँ वे आज भी हैं। पश्चिमी और पूर्वी घाटों के तटवर्ती क्षेत्रों में आप्रवासी तथा व्यापारी लोग आ बसे। दक्षिण में विदेशी व्यापार खूब चला। विन्ध्य की यह सीमा अलंघ्य नहीं है। प्राचीन काल में संचार-व्यवस्था की कठिनाइयों के बावजूद, उत्तर के लोग दक्षिण पहुँचते और दक्षिण के लोग उत्तर। परिणामतः संस्कृति और भाषा का आदान-प्रदान हुआ। उत्तर की शक्तियों ने बार-बार दक्षिण में प्रवेश किया और दक्षिण के शासकों ने उत्तर में। धर्म प्रचारकों और सांस्कृतिक नेताओं, विशेषतः ब्राह्मणों पर भी यही बात लागू होती है। दोनों ओर का यह आवागमन निरंतर जारी रहा और इसने सामासिक संस्कृति के विकास में योग दिया।

यद्यपि देश के अधिकांश प्रदेशों की अपनी सुनिश्चित प्राकृतिक सीमाएँ थीं, परंतु प्रत्येक प्रदेश में जीवन-यापन के लिए अपेक्षित समुचित संपदा नहीं थी। इसलिए प्रागैतिहासिक काल से ही धातुओं और अन्य आम जरूरतों की पूर्ति के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक संबंधों का जाल बिछ गया था।

प्राकृतिक संपदा के उपभोग का देश के इतिहास में विशिष्ट महत्त्व है। जब तक लोगों की बस्तियाँ बड़े पैमाने पर फैली नहीं थीं, भारी वर्षा की बदौलत भारत के मैदानों का बहुत बड़ा हिस्सा घने जंगलों से भरा था। इन जंगलों से शिकार के अलावा, पशुओं का चारा, ईंधन और लकड़ी प्राप्त होती थी। प्राचीन काल में जब पकाई हुई ईंटों का अधिक इस्तेमाल नहीं होता था, लकड़ी के मकान और लकड़कोट बनाए जाते थे। इनके अवशेष पाटलिपुत्र में मिले हैं जहाँ देश की पहली प्रमुख राजधानी स्थापित हुई थी। मकान और औज़ार बनाने के लिए सभी किस्म के पत्थर, बलुआ पत्थर भी, देश में उपलब्ध थे। सहज ही, भारत में सबसे पुरानी बस्तियाँ पहाड़ी इलाकों में और पहाड़ों के बीच की नदी घाटियों में स्थापित हुई थीं। ऐतिहासिक युगों में पत्थर के मंदिरों और प्रस्तर-मूर्तियों का निर्माण उत्तर भारत के मैदानों की अपेक्षा दकन तथा दक्षिण भारत में अधिक संख्या में हुआ है।

तांबा देश भर में व्यापक रूप से बिखरा है। तांबे की परम समृद्ध खानें छोटानागपुर के पठार में, विशेष कर सिंहभूम ज़िले में पाई जाती हैं। तांबे की यह पट्टी 130 कि. मी. लंबी है और पता चलता है कि प्राचीन काल में यहाँ से ताँबा निकाला जाता था। तांबे के औज़ारों का इस्तेमाल करने वाले बिहार के सबसे पुराने निवासियों ने सिंहभूमि और हजारीबाग के तांबे की इन खानों का उपयोग किया था। दक्षिण बिहार और मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में तांबे के बहुत-से औज़ार मिले हैं। तांबे के विपुल भंडार राजस्थान के खेत्री खानों में भी मिले हैं। इनका उपयोग पाकिस्तान, राजस्थान, गुजरात और गंगा-यमुना दोआब में रहने वाले प्राक्-वैदिक और वैदिक दोनों ही लोगों ने किया है। खेत्री इलाके में तांबे के बहुत-से सेल्ट (आदिम कुल्हाड़े) पाए गए हैं और वे लगभग 1000 ई. पू. से पहले की अवधि के प्रतीत होते हैं। चूंकि तांबा उपयोग में लाई गई पहली धातु थी इसलिए हिंदू इस धातु को पवित्र मानने लगे और ताम्र-पात्रों का धार्मिक अनुष्ठानों में व्यवहार होने लगा।

आज हमारे देश में टिन का उत्पादन नहीं होता है। प्राचीन काल में भी यह धातु कम ही उपलब्ध थी। कुछ साक्ष्य मिलते हैं कि यह धातु राजस्थान और बिहार में पाई जाती थी, परंतु अब इसके भंडार समाप्त हैं। चूँकि तांबे और टिन को मिलाने से ही कांसा बनता है, इसलिए हमें प्रागैतिहासिक काल की कांस्य-वस्तुएँ अधिक नहीं मिलतीं। हड़प्पा संस्कृति के लोग संभवतः राजस्थान से कुछ टिन प्राप्त करते थे, परंतु वे टिन का आयात मुख्यतः अफगानिस्तान से करते थे, और वह भी सीमित मात्रा में ही। यही कारण है कि हड़प्पाई लोग कांसे के औज़ारों का प्रयोग तो करते थे लेकिन यहाँ पर ऐसे औज़ार पश्चिमी एशिया, मिस्र और क्रीट की अपेक्षा कम ही मिले हैं और जो मिले हैं उनमें टिन की मात्रा कम है। अतः भारत के अधिकतर हिस्से में, वास्तव में, कांस्य-युग, अर्थात ऐसा युग जिसमें औज़ार और हथियार

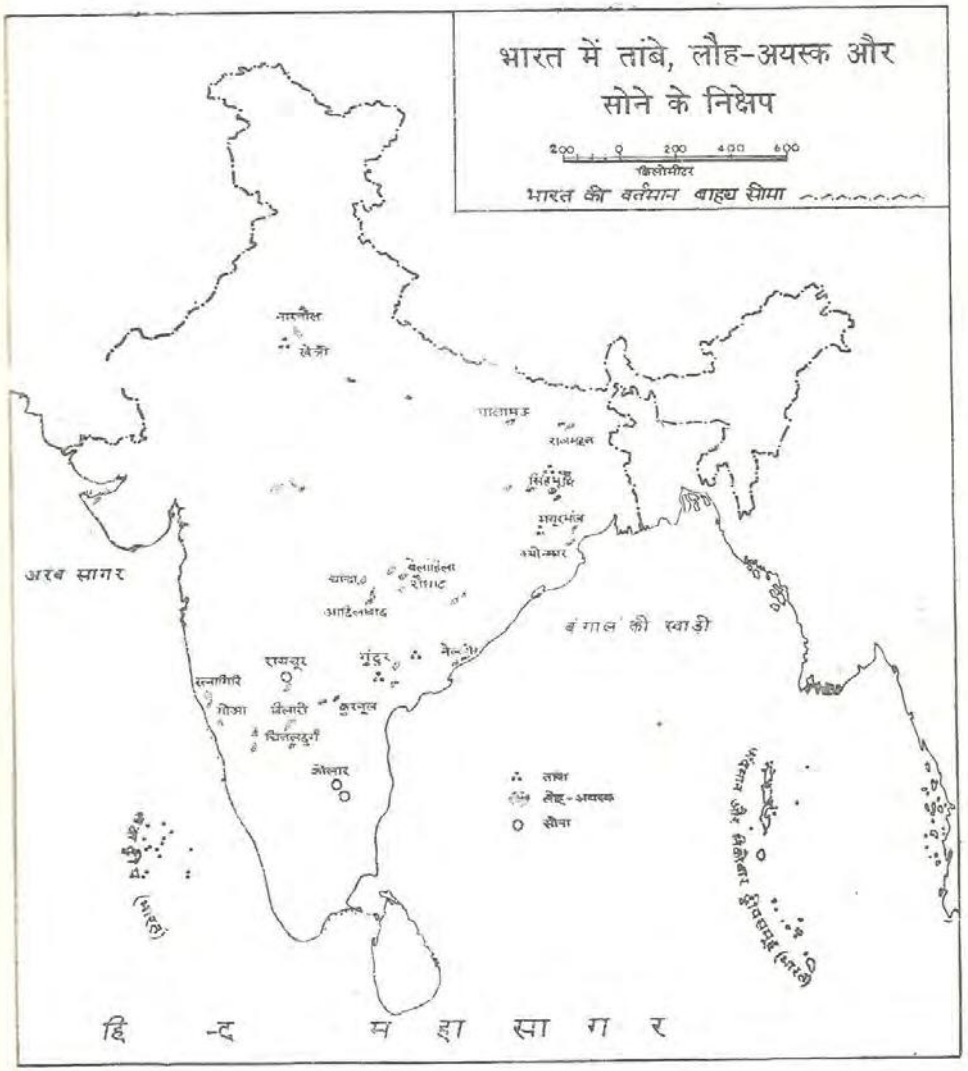

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

भारत : तांबे, लौ

अधिकतर कांसे के होते, ठीक से आग्रा ही नहीं। ईसवी सन् के आरंभिक शतकों से ही भारत का घना संपर्क बर्मा और मलय प्रायद्वीपों के साथ कायम हुआ, जहाँ टिन के विपुल भंडार हैं। फलस्वरूप बड़े पैमाने पर कांसे का इस्तेमाल होने लगा, विशेषत: दक्षिण भारत में बनने वाली देवप्रतिमाओं में। बिहार में मिली पाल-कालीन कांस्य प्रतिमाओं के लिए टिन संभवत: हजारीबाग और रांची से प्राप्त किया गया था, क्योंकि हजारीबाग में पिछली सदी के मध्यकाल तक टिन के अयस्क को गलाने का काम होता था।

भारत लौह अयस्क में समृद्ध रहा है। यह मुख्यत: दक्षिण बिहार, पूर्वी मध्य प्रदेश और कर्नाटक में पाया जाता है। एक बार अयस्क गलाने की विधि, धौंकनी का इस्तेमाल (इस्पात बनाने की कला) सीख लेने पर, युद्ध के काम में लोहे का प्रयोग करना संभव हो गया। परंतु लोहा इससे कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ जंगल को साफ करने और गहरी और नियमित खेती करने में। मगध में ईसा पूर्व छठी-चौथी सदियों में जो पहला साम्राज्य स्थापित हुआ उसका प्रमुख कारण यही बताया जाता है कि इस प्रदेश के ठीक दक्षिण में लोहा उपलब्ध था। बड़े पैमाने पर लोहे का उपयोग करके ही अवन्ति, जिसकी राजधानी उज्जयिनी में थी, ईसा पूर्व छठी-पाँचवीं सदियों का महत्त्वपूर्ण राज्य बन पाई थी। सातवाहनों ने और विन्ध्य के दक्षिण में उदित हुई अन्य सत्ताओं ने भी शायद आंध्र और कर्नाटक के लौह-अयस्कों का इस्तेमाल किया था।

आन्ध्र प्रदेश में सीसा भी मिलता है। यही कारण है कि ईसा की दो आरंभिक सदियों में आंध्र और महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों पर शासन करने वाले सातवाहनों ने बड़ी संख्या में सीसे के सिक्के जारी किए थे। सीसा राजस्थान के ज़ावर से भी प्राप्त किया गया होगा।

हमारे देश के सबसे पहले के सिक्के, जिन्हें आहत (या पंच-मार्क्ड) सिक्के कहते हैं, मुख्यत: चाँदी के हैं। यद्यपि देश में यह धातु विरल मिलती है। परंतु प्राचीन काल में मुंगेर जिले की खड़कपुर पहाड़ियों में चाँदी की खानें मौजूद थीं। अकबर के समय तक इन खानों के उल्लेख मिलते हैं। यही कारण है कि बिहार में मिले सबसे पुराने आहत सिक्के चाँदी के हैं।

प्रचुर स्वर्णकण नदी-धाराओं से बने जमावों से चुने जाते थे, जहाँ वे हिमालय से जल-धाराओं में बहकर मैदानों में आते थे। ऐसे जमावों को प्लेसर्स कहते हैं। सोना कर्नाटक की कोलार खानों में मिलता है। सोने का सबसे पुराना अवशेष 1800 ई. पू. के आसपास के कर्नाटक के एक नवपाषाण युगीन स्थल से मिला है। इन खानों से सोना निकाले जाने के बारे में हमें ईसा की दूसरी सदी के आरंभ तक कोई जानकारी नहीं मिलती। कोलार दक्षिण कर्नाटक के गंगवंशियों की प्राचीनतम राजधानी माना जाता है। प्राचीन काल में उपयोग में लाया गया अधिकांश सोना मध्य-एशिया और रोमन साम्राज्य से प्राप्त किया गया था। इसलिए स्वर्णमुद्रा का नियमित प्रचलन ईसा की आरंभिक पाँच सदियों में हुआ था। पर, लंबी अवधि तक स्वर्ण मुद्रा चलाते रहने के लिए यहाँ पर्याप्त स्रोत नहीं था, इसलिए बाहर से सोने का आयात बंद होते ही स्वर्ण-मुद्रा दुर्लभ होती गई।

प्राचीन भारत में, विशेषत: मध्य-भारत, उड़ीसा और दक्षिण भारत में भाँति-भाँति के रत्नों और मोतियों का भी उत्पादन होता था। ईसा की आरंभिक सदियों में रोमन लोग भारत की जिन व्यापार-वस्तुओं के लिए लालायित रहते थे उनमें रत्नों का प्रमुख स्थान था।

अभ्यास

1. भारत के प्रमुख भौगोलिक क्षेत्रों का वर्णन करें।
2. इतिहास को समझने के लिए भौगोलिक स्वरूप की जानकारी क्यों आवश्यक है? प्राचीन भारतीय इतिहास से उदाहरण देते हुए विवेचन करें।
3. बताएँ कि भारत में कौन-कौन सी प्रमुख धातुएँ पाई जाती हैं। प्राचीन काल में इनका क्या-क्या उपयोग किया जाता था?
4. भारतीय इतिहास और संस्कृति के विकास में 'अनेकता में एकता' लाने में भौगोलिक ढाँचे का क्या हाथ है? विवेचना करें।
5. भारत के बाह्यरेखिक मानचित्र में निम्नलिखित स्थान अंकित करें :

   खैबर, बोलन, गोमल, हस्तिनापुर, प्रयाग, वाराणसी, पाटलिपुत्र, अरिकमेडु, हज़ारीबाग़, महाबलिपुरम, कावेरीपट्टनम, सिंहभूम, कोलार, खेत्री, उज्जैन।
6. भारत की प्रमुख नदियों की सूची बनाएँ और उन्हें भारत के बाह्यरेखिक मानचित्र पर अंकित करें।

अध्याय 5

प्रस्तर-युग : आदिम मानव

पुरापाषाण (पेलिऑलिथिक) युग : आखेटक और खाद्य संग्राहक

पृथ्वी 400 करोड़ वर्षों से अधिक पुरानी है। इसकी परत के विकास से चार अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। चौथी अवस्था चातुर्धिकी (क्वाटर्नरी) कहलाती है, जिसके दो भाग हैं, अतिनूतन (प्लाइस्टोसीन) और अद्यतन (होलोसीन)। पहला दूसरे से पूर्व बीस लाख और दस हजार वर्ष के बीच था और दूसरा आज से लगभग दस हजार वर्ष पहले शुरू हुआ। कहा जाता है कि मानव धरती पर प्लाइस्टोसीन के आरंभ में पैदा हुआ। इसी समय असली गाय, असली हाथी और असली घोड़ा भी उत्पन्न हुआ था। परंतु लगता है कि यह घटना अफ्रीका में लगभग 26 लाख वर्ष पहले हुई होगी।

आदिम मानव के जीवाश्म (फॉसिल) भारत में नहीं मिले हैं। मानव के प्राचीनतम अस्तित्व का संकेत द्वितीय हिमावर्त्तन (ग्लेसिएशन) काल के बताए जाने वाले संचयों में मिले पत्थर के औज़ारों से मिलता है, जिसका काल लगभग 250,000 ई. पू. रखा जा सकता है। लेकिन हाल में महाराष्ट्र के बोरी नामक स्थान से जिन तथ्यों की रिपोर्ट

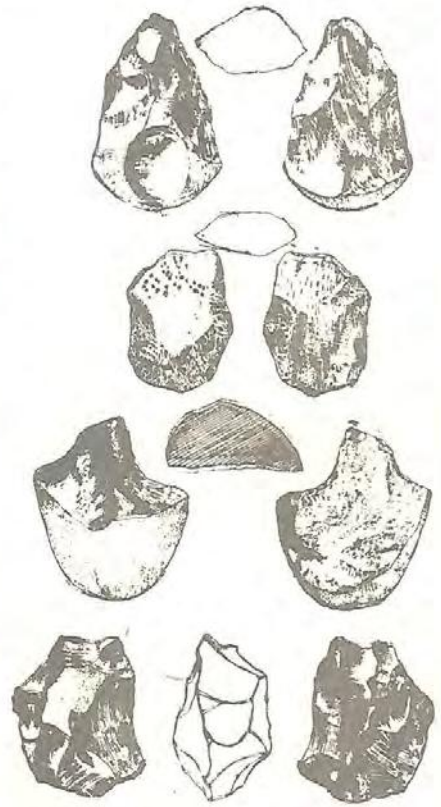

पुरापाषाण युग के औज़ार : हस्त-कुठार, विदारणी और खंडक

मिली है उनके अनुसार मानव की उपस्थिति और भी पहले 14 लाख वर्ष पूर्व रखी जाती है, पर इस विषय पर और खोज की जरूरत है। अब मालूम होता है कि अफ्रीका की अपेक्षा भारत में मानव बाद में बसे, हालाँकि इस उपमहाद्वीप का पाषाण तकनीक मोटे तौर पर उसी तरह विकसित हुआ है जिस तरह अफ्रीका में। भारत में आदिम मानव पत्थर के अनगढ़ और अपरिष्कृत औज़ारों का इस्तेमाल करता था। ऐसे औज़ार सिंधु, गंगा और यमुना के कछारी मैदानों को छोड़ सारे देश में पाए गए हैं। तराशे हुए पत्थर के औज़ारों और कोड़ी हुई गिट्टियों से वे शिकार करते, पेड़ काटते तथा अन्य कार्य भी करते थे। इस काल में मानव अपना खाद्य कठिनाई से ही बटोर पाता और शिकार से जीता था। वह खेती करना और घर बनाना नहीं जानता था। यह अवस्था सामान्यत: 9000 ई. पू. तक बनी रही।

पुरापाषाण काल के औज़ार छोटानागपुर के पठार में मिले हैं जो 100,000 ई. पू. के हो सकते हैं। ऐसे औज़ार, जिनका समय 20,000 ई. पू. और 10,000 ई. पू. के बीच है, आंध्र प्रदेश के कुर्नूल शहर से लगभग 55 कि. मी. की दूरी पर मिले हैं। इनके साथ हड्डी के उपकरण और पशुओं के अवशेष भी मिले हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर ज़िले की बेलन घाटी में जो पशुओं के अवशेष मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि बकरी-भेड़, गाय-भैंस आदि मवेशी पाले जाते थे। फिर भी पुरापाषाण युग की आदिम अवस्था का मानव शिकार और खाद्य-संग्रह पर जीता था। पुराणों में केवल फल और कंद-मूल खाकर जीने वाले लोगों की चर्चा है। इस तरह के कुछ लोग तो आधुनिक काल तक पर्वतों और गुफाओं में रहते और उसी पुराने ढंग से जीते आए हैं।

भारत की पुरापाषाण युगीन सभ्यता का विकास प्लाइस्टोसीन काल या हिम-युग में हुआ। यद्यपि पत्थर के औज़ारों के साथ मानव अवशेष जो अफ्रीका में मिले हैं वे 26 लाख वर्ष पुराने माने जाते हैं, तथापि यदि हम भारत में मिली बोरी की सामग्री को छोड़ दें तो पत्थर के औज़ारों से स्पष्टत: लक्षित मानव की प्रथम उपस्थिति मध्य-प्लाइस्टोसीन अर्थात् पाँच लाख वर्ष से पूर्व की नहीं ठहरती है। प्लाइस्टोसीन काल में पृथ्वी की सतह का बहुत अधिक भाग, खासकर अधिक ऊँचाई पर और उसके आस-पास के स्थान, बर्फ की चादरों से ढका रहता था। किंतु पर्वतों को छोड़ उष्ण-कटिबंधीय क्षेत्र बर्फ से मुक्त था, बल्कि वहाँ दीर्घ काल तक भारी वर्षा होती रही।

पुरापाषाण युग की अवस्थाएँ

भारतीय पुरापाषाण युग को, मानव द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले पत्थर के औज़ारों के स्वरूप और जलवायु में होने वाले परिवर्तन के आधार पर, तीन अवस्थाओं में बाँटा जाता है। पहली को आरंभिक या निम्न-पुरापाषाण युग, दूसरी को मध्य-पुरापाषाण युग और तीसरी को ऊपरी-पुरापाषाण युग कहते हैं। जब तक शिल्प सामग्रियों के बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं मिल जाती, तब तक मोटे तौर पर पहली अवस्था को 500,000 ई. पू. और 50,000 ई. पू. के बीच; दूसरी अवस्था को 50,000 ई.पू. और 40,000 ई. पू. के बीच; और तीसरी को 40,000 ई.पू. और 10,000 ई.पू. के बीच रख सकते हैं, पर 40,000 ई.पू. और 15,000 ई.पू. के बीच दकन

के पठार में मध्य-पुरापाषाण युग तथा ऊपरी-पुरापाषाण युग दोनों के औज़ार मिलते हैं।

अधिकांश आरंभिक पुरापाषाण युग हिम-युग में गुज़रा है। इसका लक्षण है कुल्हाड़ी या हस्त-कुठार (हैंड-एक्स), विदारणी (क्लीवर) और खंडक (चॉपर) का उपयोग। भारत में पाई गई कुल्हाड़ी काफी हद तक वैसी ही है जैसी पश्चिम एशिया, यूरोप और अफ्रीका में मिली हैं। पत्थर के औज़ार से मुख्यत: काटने, खोदने और छीलने का काम लिया जाता था। आरंभिक पुरापाषाण युग के स्थल अब पाकिस्तान में पड़ी पंजाब की सोअन या सोहन नदी की घाटी में पाए जाते हैं। कई स्थल कश्मीर और थार मरुभूमि में मिले हैं। आरंभिक पुरापाषाण कालीन औज़ार उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले में बेलन घाटी में भी पाए गए हैं। जो औज़ार राजस्थान की मरूभूमि के दिदवाना क्षेत्र में, बेलन और नर्मदा की घाटियों में तथा मध्य प्रदेश के भोपाल के पास भीमबेटका की गुफाओं और शैलाश्रयों (चट्टानों से बने आश्रयों) में मिले हैं वे मोटा-मोटी 100,000 ई. पू. के हैं। शैलाश्रयों का उपयोग मानवों के ऋतुकालिक बसेरे के रूप में किया जाता होगा। हस्त-कुठार द्वितीय हिमालयीय अंतर्हिमावर्तन (इंटरग्लेसिएशन) के समय के जमाव में मिले हैं। इस अवधि में जलवायु में नमी कम हो गई थी।

मध्य-पुरापाषाण युग में उद्योग मुख्यत: पत्थर की पपड़ी से बनी वस्तुओं का था। ये पपड़ियाँ सारे भारत में पायी गयी हैं और इनमें क्षेत्रीय भेद भी पाए गए हैं। मुख्य औज़ार हैं पपड़ियों के बने विविध प्रकार के फलक, वेधनी, छेदनी और खुरचनी। हमें वेधनियाँ और फलक जैसे हथियार भी भारी मात्रा में मिले हैं। मध्य-पुरापाषाण स्थल जिस क्षेत्र में मिलते हैं मोटे तौर पर उसी क्षेत्र में आरंभिक पुरापाषाण स्थल भी पाए जाते हैं। यहाँ हम एक प्रकार के सरल बटिकाश्म उद्योग (पत्थर के गोलों से वस्तुओं का निर्माण) देखते हैं जो तृतीय हिमालयीय हिमावर्तन के सीधे समकाल में चलता है। इस युग की शिल्प-सामग्री नर्मदा नदी के किनारे-किनारे कई स्थानों पर और तुंगभद्रा नदी के दक्षिणवर्ती कई स्थानों पर भी पायी जाती है।

ऊपरी पुरापाषाणीय अवस्था में आर्द्रता कम थी। इस अवस्था में विस्तार हिम-युग की उस अंतिम अवस्था के साथ रहा जब जलवायु अपेक्षाकृत गर्म हो गई थी। विश्वव्यापी संदर्भ में इसकी दो विशेषताएँ हैं-नए चकमक उद्योग की स्थापना और आधुनिक प्रारूप के मानव (होमोसेपिएंस) का उदय। भारत में फलकों और तक्षणियों (ब्लेड्स और ब्युरिन्स) का इस्तेमाल देखा जाता है, जो आंध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र, केन्द्रीय मध्य प्रदेश, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, बिहार के पठार में और उनके इर्द-गिर्द पाए गए हैं। ऊपरी पुरापाषाणीय अवस्था के मानवों के उपयोग के लायक गुफाएँ और शैलाश्रय भोपाल से दक्षिण में 40 किलोमीटर दूर भीमबेटका में मिले हैं। गुजरात के टिब्बों के ऊपरी तलों पर ऊपरी पुरापाषाणीय भंडार भी मिला है जिसकी विशेषता है शल्कों, फलकों, तक्षणिओं और खुरचनियों का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पाया जाना।

इस प्रकार देश के अनेकों पहाड़ी ढलानों और नदी-घाटियों में पुरापाषाणीय स्थल पाए जाते हैं। किंतु सिंधु और गंगा के कछारी मैदानों में इनका पता नहीं है।

मध्यपाषाण (मिसोलिथिक) युग : आखेटक और पशुपालक

ऊपरी पुरापाषाण युग का अंत 9000 ई. पू. के आसपास हिम-युग के अंत के साथ ही हुआ और जलवायु गर्म व शुष्क हो गई। जलवायु के परिवर्तन के साथ ही पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं में भी परिवर्तन हुए और मानव के लिए नए क्षेत्रों की ओर अग्रसर होना संभव हुआ। 9000 ई. पू. से जलवायु की स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है। प्रस्तर-युगीन संस्कृति में 9000 ई. पू. में एक मध्यवर्ती अवस्था आई जो मध्यपाषाण युग कहलाती है। यह पुरापाषाण युग और नवपाषाण युग के बीच का संक्रमणकाल है। मध्यपाषाण युग के लोग शिकार करके, मछली पकड़कर और खाद्य वस्तुएँ बटोर कर पेट भरते थे। आगे चलकर वे पशुपालन भी करने लगे। इनमें शुरू के तीन पेशे तो पुरापाषाण युग से ही चले आ रहे थे, पर अंतिम पेशा नवपाषाण संस्कृति से जुड़ा है।

मध्यपाषाण युग के विशिष्ट औज़ार हैं सूक्ष्म-पाषाण या पत्थर के बहुत छोटे औज़ार (माइक्रोलिथ्स)। मध्यपाषाण स्थल राजस्थान, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, मध्य और पूर्वी भारत में

वीरभान (पश्चिम बंगाल) तथा तिन्नेवेल्ली (तमिलनाडु) से प्राप्त मध्यपाषाण युग के औज़ार

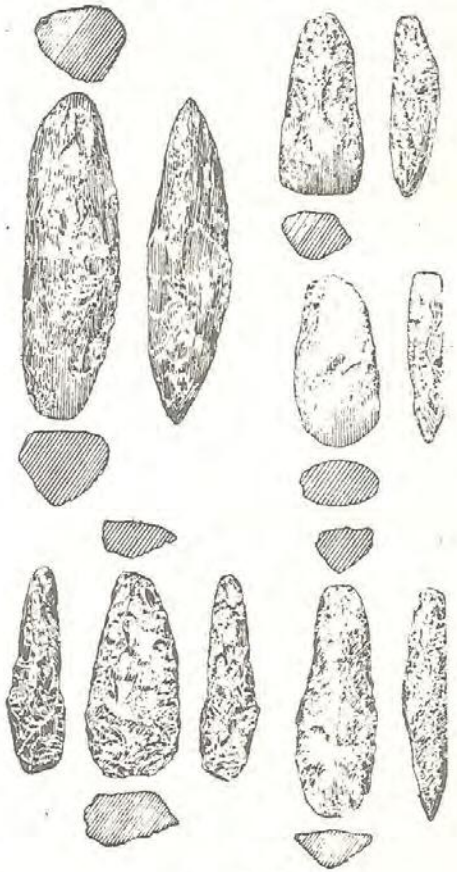

नवपाषाण युग के औज़ार

काफी मात्रा में से पाए जाते हैं तथा दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के दक्षिण में पाए जाते हैं। इनमें से राजस्थान में बागोर स्थल का उत्खनन भली-भाँति हुआ है। यहाँ सुस्पष्ट सूक्ष्म-पाषाण फलकों का उद्योग था और यहाँ के निवासियों की जीविका शिकार और पशुपालन से चलती थी। इस स्थल पर बस्ती ईसा-पूर्व पाँचवी सहस्त्रब्द के आरंभ से 5000 वर्षों तक रही। मध्य प्रदेश में आदमगढ़ और राजस्थान में बागोर पशुपालन का प्राचीनतम साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जिसका समय लगभग 5000 ई. पू. हो सकता है। राजस्थान के एक पुराने नमक-झील संभर के जमावों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि 7000-6000 ई. पू. के आसपास पौधे लगाए जाते थे।

अभी तक मध्यपाषाण युग की कुछ ही उपलब्धियों का वैज्ञानिक काल-परीक्षण हो पाया है। मध्यपाषाण संस्कृति का महत्त्व मोटे तौर पर 9000 ई. पू. से 4000 ई. पू. तक बना रहा। इसमें संदेह नहीं कि इसने नवपाषाण संस्कृति का मार्ग प्रशस्त किया।

प्राचीनतम कलाकृतियाँ

पुरापाषाण और मध्यपाषाण युग के लोग चित्र बनाते थे। प्रागैतिहासिक कलाकृतियाँ तो कई स्थानों में पायी जाती हैं, परंतु मध्य प्रदेश का भीमबेटका स्थल अद्भुत है। यह भोपाल से 45 किलोमीटर दक्षिण विन्ध्यपर्वत पर अवस्थित है। इसमें 10 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में बिखरे 500 से भी अधिक चित्रित गुफाएँ हैं। इन गुफाओं के चित्र पुरापाषाण काल से मध्यपाषाण काल तक के बने हुए हैं और कुछ शृंखलाओं में तो हाल के समय तक के हैं। परंतु इनमें अनेकों गुफाएँ मध्यपाषाण काल के लोगों से संबद्ध हैं। बहुत सारे पशु, पक्षी और मानव चित्रित हैं। स्पष्टतः इन कलाकृतियों में चित्रित अधिकांश पक्षी और पशु वे हैं जिनका शिकार जीवन-निर्वाह के लिए किया जाता था। अनाज पर जीने वाले पर्चिंग (perching) पक्षी उन आरंभिक चित्रों में नहीं पाए जाते हैं, क्योंकि वे चित्र अवश्य ही आखेट/खाद्य-संग्रह पर आश्रित अर्थव्यवस्था से संबद्ध होंगे।

यह बड़ी रोचक बात है कि मिर्ज़ापुर ज़िले में अवस्थित बेलन घाटी में विन्ध्य पर्वत के उत्तरी छोर पर पुरापाषाण काल की तीनों अवस्थाएँ एक के बाद एक पाई जाती हैं। इसके बाद लगातार मध्य पाषाणकालिक और तब नवपाषाणकालिक अवस्थाएँ पाई जाती हैं। यही बात नर्मदा घाटी के मध्य-भाग में हैं। किंतु कई क्षेत्रों में नवपाषाण संस्कृति मध्यपाषाण परंपरा के बाद आती है यद्यपि यह परंपरा लौह-युग के आरंभ तक अर्थात् 1000 ई. पू. तक चलती रही।

नवपाषाण (नियोलिथिक) युग : खाद्य-उत्पादक

विश्वस्तरीय संदर्भ में नवपाषाण युग 9000 ई. पू. में आरंभ होता है। भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाण युग की एक ऐसी बस्ती मिली है जिसका समय लगभग 7000 ई. पू. बताया जाता है। यह पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रांत में अवस्थित मेहरगढ़ में है। आरंभ में, 5000 ई. पू. से पहले, इस स्थान के लोग मृद्भांड का प्रयोग नहीं करते थे। विन्ध्य पर्वत के उत्तरी पृष्ठों पर पाए गए कुछ नवपाषाण स्थलों को 5000 ई. पू. तक पुराना बताया जाता है। किंतु सामान्यतया दक्षिण भारत में पाई गई नवपाषाण बस्तियाँ 2500 ई. पू. से

अधिक पुरानी नहीं हैं; भारत के कुछ दक्षिणी और पूर्वी भागों में ऐसे स्थल महज़ 1000 ई. पू. के हैं।

इस युग के लोग पालिशदार पत्थर के औज़ारों और हथियारों का प्रयोग करते थे। वे खास तौर से पत्थर की कुल्हाड़ियों का इस्तेमाल किया करते थे। ये कुल्हाड़ियाँ देश के पहाड़ी इलाकों के अनेक भागों में विशाल मात्रा में पाई गई हैं। काटने के इस औज़ार से लोग कई तरह के काम लेते थे तथा पौराणिक कथाओं में परशुराम तो कुल्हाड़ी से लड़ने वाले महान् योद्धा हो गए हैं।

नवपाषाण युग के निवासियों द्वारा व्यवहृत कुल्हाड़ियों के आधार पर हम उनकी बस्तियों के तीन महत्त्वपूर्ण क्षेत्र देखते हैं- उत्तर-पश्चिमी, उत्तर-पूर्वी और दक्षिणी। उत्तर-पूर्वी समूह के नवपाषाण औज़ारों में वक्र धार की आयताकार कुल्हाड़ियाँ हैं। उत्तर-पूर्वी समूह की कुल्हाड़ियाँ पालिशदार पत्थर की होती थीं जिनमें आयताकार दस्ता लगा रहता था और कभी-कभी कंधेदार खन्तियाँ (शोलडर्ड हो) स्कंधीय हो भी लगी होती थी। दक्षिणी समूह की कुल्हाड़ियों की बगलें अंडाकार होती थीं और हत्था नुकीला रहता था।

उत्तर-पश्चिम में, कश्मीरी नवपाषाण संस्कृति की कई विशेषताएँ हैं जैसे गर्तावास (गड्ढा-घर), मृद्भांड की विविधता, पत्थर तथा हड्डी के तरह-तरह के औज़ारों का प्रयोग तथा सूक्ष्म-पाषाण का पूरा अभाव। इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थल है बुर्ज़होम, जिसका अर्थ होता है भुर्ज वृक्ष का स्थान। यह श्रीनगर से उत्तर पश्चिम की ओर 16 कि.मी. दूर है। वहाँ नवपाषाण युगीन लोग एक झील के किनारे ज़मीन के नीचे घर बनाकर रहते थे, और शिकार और मछली पर जीते थे। लगता है, वे खेती से परिचित थे। एक अन्य नवपाषाण स्थल है गुफ्कराल, जिसका अर्थ होता है कुलाल अर्थात कुम्हार की गुहा। यहाँ के लोग कृषि और पशुपालन दोनों धंधे करते थे। कश्मीर में नवपाषाण युगीन लोग न केवल पत्थर के पालिशदार औज़ारों का प्रयोग करते थे, अपितु इससे भी मज़ेदार बात है कि वे हड्डी के बहुत सारे औज़ारों और हथियारों का भी प्रयोग करते थे। भारत में सिर्फ चिरांद ही एक और स्थान है जहाँ हड्डी के अनेक उपकरण पाए गए हैं। यह स्थान गंगा के उत्तरी किनारे पर पटना से 40 कि. मी. पश्चिम में है। यहाँ के उपकरण हिरण के सींगों के हैं और परवर्ती नवपाषाण परिवेश में 100 सेंटीमीटर वर्षा वाले क्षेत्र में पाए गए हैं। यहाँ बस्ती इसलिए संभव हुई कि गंगा, सोन, गंडक और घाघरा इन चार नदियों का संगमस्थल होने के कारण यहाँ खुली ज़मीन उपलब्ध थी। पर यहाँ की नवपाषाण संस्कृति में पत्थर के औज़ारों की कमी ध्यान देने योग्य है।

बुर्ज़होम के गड्ढों वाले घर

बुर्ज़होम से प्राप्त नवपाषाण कालीन हड्डी के औज़ार

बुर्ज़होम के लोग रूखड़े, धूसर मृद्भांडों का प्रयोग करते थे। यह रोचक बात है कि यहाँ कब्रों में पालतू कुत्ते भी अपने मालिकों के शवों के साथ दफनाए जाते थे। पालतू कुत्तों को उनके मालिकों की कब्रों में दफनाने की प्रथा भारत के अन्य किसी भी भाग में नवपाषाण युगीन लोगों में शायद नहीं थी। बुर्ज़होम वास स्थान की सबसे पूर्व की तिथि 2700 ई. पू. है, किंतु चिरांद में मिली हड्डियों की तिथि 2000 ई. पू. से बहुत पहले नहीं रखी जा सकती है, और संभवतः यहाँ के औज़ार पछेती नवपाषाण काल के हैं।

नवपाषाण युग के लोगों का दूसरा समूह दक्षिण-भारत में गोदावरी नदी के दक्षिण में रहता था। वे लोग आम तौर से नदी के किनारे ग्रेनाइट की पहाड़ियों के ऊपर या पठारों में बसते थे। वे पत्थर की कुल्हाड़ियों का और कई तरह के प्रस्तर-फलकों का भी प्रयोग करते थे। पकी मिट्टी की मूर्तिकाओं (फिगरिन्स) से प्रकट होता है कि वे बहुत-से जानवर पालते थे। उनके पास गाय-बैल, भेड़ और बकरी होती थी। वे सिलबट्टे का प्रयोग करते थे जिससे प्रकट होता है कि वे अनाज पैदा करना जानते थे।

तीसरा क्षेत्र, जहाँ नवपाषाण युग के औज़ार मिले हैं, असम की पहाड़ियों में पड़ता है। नवपाषाण औज़ार भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर मेघालय की गारो पहाड़ियों में भी पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त हम विन्ध्य के उत्तरी प्रदेशों, मिर्जापुर और इलाहाबाद जिलों में भी कई नवपाषाण स्थल पाते हैं। इलाहाबाद जिले के नवपाषाण स्थलों के विषय में बतलाया गया है कि यहाँ ईसा-पूर्व छठी सहस्त्राब्दि में भी चावल का उत्पादन होता था।

जिन कई नवपाषाण स्थलों का या नवपाषाण परतों वाले स्थलों का उत्खनन हुआ है उनमें प्रमुख हैं: कर्नाटक में मस्की, ब्रह्मगिरि, हल्लुर, कोडक्कल, पिक्लीहल, संगेनकल्लु, टी. नरसीपुर और तैक्कलककोट तथा तमिलनाडु में पैयमपल्ली। उतनूर, आंध्र प्रदेश का महत्त्वपूर्ण नवपाषाण स्थल है। जान पड़ता है, दक्षिण भारत में नवपाषाणावस्था 2000 ई. पू. से 1000 ई. पू. तक जारी रही।

कर्नाटक के पिक्लीहल के नवपाषाणयुगीन निवासी पशुपालक थे और गाय, बैल, बकरी, भेड़, आदि पालते थे। वे खंभे और खूँटे गाड़-गाड़कर मवेशी के बाड़े बनाते और उनके बीच में मौसमी

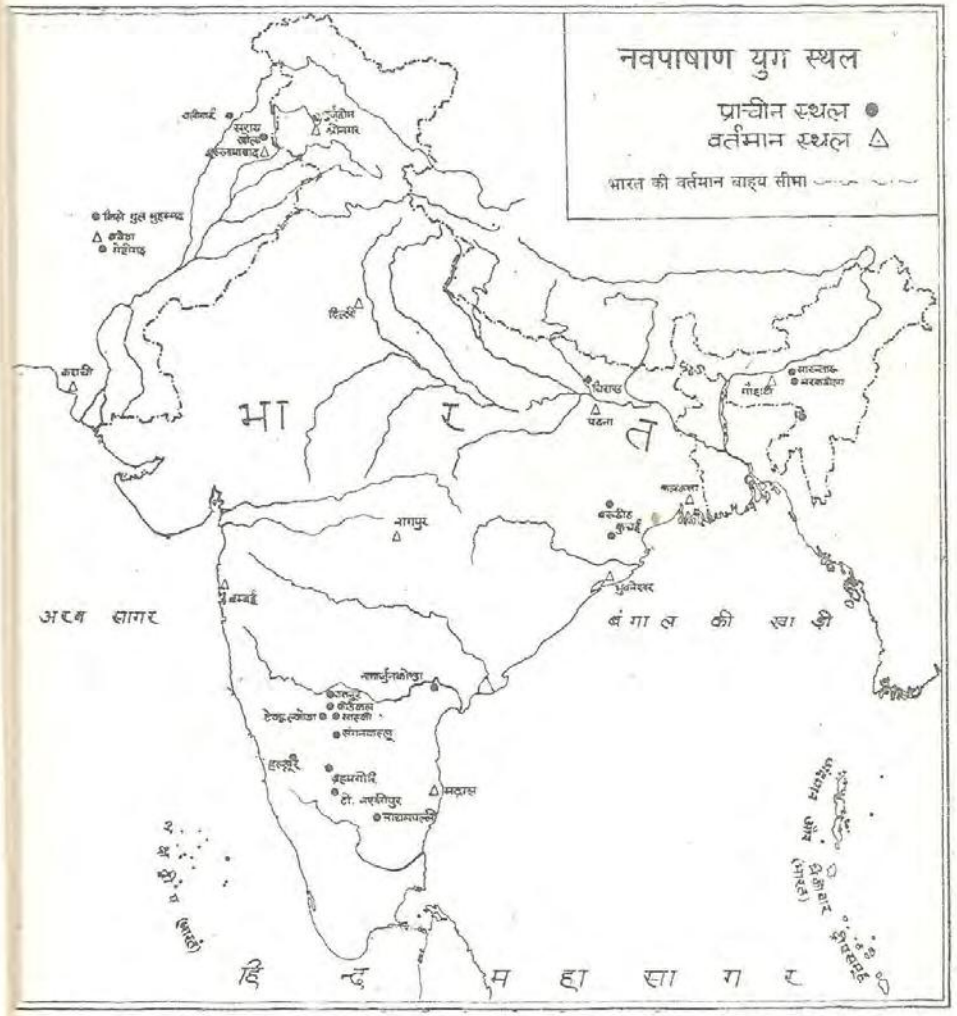

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

शिविरों में रहते थे। इन बाड़ों में वे गोबर जमा करते थे। फिर उस सारे शिविर-स्थल में आग लगाकर उसे साफ कर देते थे ताकि अगले मौसम में फिर शिविर लगाए जाएँ। पिक्लीहल में राख के ढेर और निवास-स्थान दोनों मिले हैं।

नवपाषाण युग के निवासी सबसे पुराने कृषक समुदाय थे। वे पत्थर की कुदालों (हो) और खोदने के डंडों से जमीन खोदते थे। डंडों में एक ओर एक से आधे किलोग्राम वजन के पत्थर के छल्ले लगे रहते थे। पत्थर के पालिशदार औज़ारों के अलावा वे सूक्ष्म पाषाण-फलकों का भी प्रयोग करते थे। वे मिट्टी और सरकंडे के बने गोलाकार या आयताकार घरों में रहते थे। बताया जाता है कि गोलाकार घरों में रहने वालों की सम्पत्ति पर सामुदायिक स्वामित्व होता था। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि नवपाषाण युगीन लोग स्थायी रूप से घर बनाकर रहने लगे। ये रागी और कुल्थी पैदा करते थे।

मेहरगढ़ में बसने वाले नवपाषाण युग के लोग अधिक उन्नत थे। वे गेहूँ, जौ और रूई उपजाते थे और कच्ची ईंटों के घरों में रहते थे।

चूँकि नवपाषाण अवस्था के कई बासस्थान अनाजों की खेती करते थे और पशु पालते थे इसलिए उन्हें अनाज रखने के बरतनों की जरूरत हुई। फिर पकाने, खाने और पीने के पात्रों की भी आवश्यकता हुई। अतः कुंभकारी सबसे पहले इसी अवस्था में दिखाई देती है। आरंभ में हाथ से बनाए गए मृद्भांड मिलते हैं। बाद में मिट्टी के बरतन चाक पर बनने लगे। इन बरतनों में पालिशदार काला मृद्भांड, धूसर मृद्भांड और चटाई की छाप वाले मृद्भांड शामिल हैं।

नवपाषाण युग के सेल्ट, कुल्हाड़ियाँ, बसूले, छेनी आदि औज़ार उड़ीसा और छोटा नागपुर के पहाड़ी इलाकों में भी पाए गए हैं। परंतु मध्य प्रदेश के कुछ भागों में तथा उत्तरी दकन के कई प्रदेशों में नवपाषाण बस्तियों का आभास आम तौर से बहुत कम मिलता है, जिसका कारण यह है कि वहाँ ऐसे पत्थर नहीं थे जिन्हें आसानी से खराद कर चिकना किया जा सके।

9000 ई. पू. और 3000 ई. पू. के बीच की अवधि में पश्चिम एशिया में भारी तकनीकी प्रगति हुई, क्योंकि इसी अवधि में लोगों ने खेती, बुनाई, कुंभकारी, भवन-निर्माण, पशुपालन, लेखन आदि का कौशल विकसित किया। परंतु भारत में यह सारा विकास कुछ विलम्ब से हुआ। फिर भी, भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाण युग ईसा-पूर्व छठी सहस्त्राब्दि के आस-पास शुरू हुआ। चावल, गेहूँ, जौ आदि सहित कई महत्त्वपूर्ण फसलें इस उपमहाद्वीप में इसी अवधि से उपजाई जाने लगीं और संसार के इस भाग में कई गांव बसे। लगता है, यहाँ आकर मानव ने सभ्यता के द्वार पर पाँव रखा।

प्रस्तर युग के लोगों की एक भारी लाचारी थी। वे पूर्णतः पत्थर के ही औज़ारों और हथियारों पर आश्रित थे, इसलिए वे पहाड़ी इलाकों से दूर जाकर बस्तियाँ नहीं बना सकते थे। वे पहाड़ियों के ढलानों पर, गुफाओं में और पहाड़ियों से युक्त नदी-घाटियों में ही अपना निवास बना सके। साथ ही, काफी प्रयास के बावजूद ये सिर्फ उतना ही अनाज पैदा कर सकते थे जितने से किसी तरह अपना जीवन बसर कर सकें।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :

   पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग, नवपाषाण युग, होलोसीन या नूतनतम युग, प्लीस्टोसीन या अभिनूतन युग, लघु-पाषाण काल, खाद्य-संग्राहक, होमोसेपियन या आधुनिक मानव, पशुचारण, पाषाण-शिल्प।

2. भारत में पाषाण-युग किन-किन अवस्थाओं में विभाजित है? इस विभाजन का आधार क्या है?

3. प्राचीन भारत में पुरापाषाण, मध्यपाषाण और नवपाषाण युगों में परस्पर भेद किन-किन आधारों पर किया जाता है? प्रत्येक युग की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें?

4. संस्कृति के विकास में कुम्हार के चाक, जुलाहे के चरखे और गाड़ी के पहिए के आविष्कार का महत्त्व बताएँ।

5. नवपाषाण युग मानव के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला समझा जाता है; क्यों?

6. किसी ऐसे संग्रहालय का अवलोकन करें जहाँ प्रागैतिहासिक औज़ारों का संग्रह हो। इन औज़ारों को पहचानें जिनकी चर्चा आपकी पाठ्यपुस्तकों में की गई है।

7. भारत के बाह्यरेखिक मानचित्र में निम्नलिखित स्थल अंकित करें :

   भीमबेटका, बागोर, आदमगढ़, बुर्ज़ाहोम, चिरौंद, मेहरगढ़, मास्की, ब्रह्मगिरि, टी. नरसीपुर। बताएँ कि इनमें कौन-कौन स्थल किन-किन संस्कृतियों से संबद्ध हैं।

8. एक चार्ट बनाकर दिखाएँ कि किन-किन क्षेत्रों में पाषाणयुगीन संस्कृतियाँ पाई गई हैं, साथ ही उन संस्कृतियों के अपने-अपने काल और प्रमुख स्थल भी दर्शाएँ।

9. पुरापाषाण, मध्यपाषाण और नवपाषाण युगों के औज़ारों को एक चार्ट में चित्रित करें और उनके उपयोग का उल्लेख करें।

अध्याय 6

ताम्रपाषाण कृषक संस्कृतियाँ

ताम्रपाषाण युग की बस्तियाँ

नवपाषाण युग का अंत होते-होते धातुओं का इस्तेमाल शुरू हो गया। धातुओं में सबसे पहले तांबे का प्रयोग हुआ। कई संस्कृतियों का जन्म पत्थर और तांबे के उपकरणों का साथ-साथ प्रयोग करने के कारण हुआ। इन संस्कृतियों को ताम्रपाषाणिक (कैल्कोलिथिक) कहते हैं, जिसका अर्थ है पत्थर और तांबे के उपयोग की अवस्था। तकनीकी दृष्टि से ताम्रपाषाण अवस्था हड़प्पा की कांस्ययुगीन संस्कृति से पहले की है। पर कालक्रमानुसार भारत में हड़प्पा की कांस्य संस्कृति पहले आती है और अधिकांश ताम्रपाषाण युगीन संस्कृतियाँ बाद में। यहाँ हम सर्वप्रथम ताम्रपाषाणिक संस्कृति पर ही विचार कर रहे हैं। ताम्रपाषाण युग के लोग अधिकांशत: पत्थर और तांबे की वस्तुओं का प्रयोग करते थे, किंतु कभी-कभी वे घटिया किस्म के तांबे का भी प्रयोग करते थे। वे मुख्यत: ग्रामीण समुदाय बना कर रहते थे और देश के ऐसे विशाल भागों में फैले थे जहाँ पहाड़ी जमीन और नदियाँ थीं। इसके विपरीत हड़प्पाई लोग कांसे का प्रयोग करते थे और सिंधु घाटी के बाढ़ वाले मैदानों में हुई उपज की बदौलत नगर

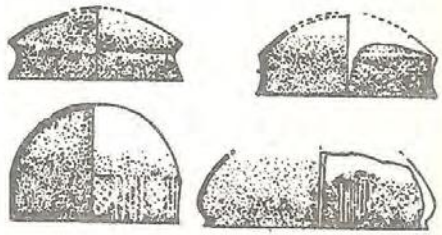

अहार (राजस्थान) से प्राप्त श्वेत चित्रित काले-लाल रंग के मिट्टी के बर्तन (लगभग 1500 ई. पू.)

निवासी हो गए थे। भारत में ताम्रपाषाण अवस्था की बस्तियाँ दक्षिण-पूर्वी राजस्थान, मध्य प्रदेश के पश्चिमी भाग, पश्चिमी महाराष्ट्र तथा दक्षिण-पूर्वी भारत में पाई गई हैं। दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में दो पुरास्थलों की खुदाई हुई हैं, एक अहार में और दूसरा गिलुंद में। ये पुरास्थल बनास घाटी के सूखे अंचलों में हैं। पश्चिमी मध्य प्रदेश में मालवा, कयथा और एरण की खुदाई हुई है। मध्य और पश्चिमी भारत की मालवा ताम्रपाषाण संस्कृति की विलक्षणता है मालवा मृद्भांड, जो ताम्रपाषाण मृद्भांडों में उत्कृष्टतम माना गया है। इसके कुछ मृद्भांड और अन्य सांस्कृतिक सामग्री महाराष्ट्र में भी पाई गई है।

परंतु सबसे विस्तृत उत्खनन पश्चिमी महाराष्ट्र में हुए हैं। जहाँ उत्खनन हुए हैं वे पुरास्थल हैं–अहमदनगर ज़िले में जोरवे, नेवासा और दैमाबाद; पुणे ज़िले में चंदोली, सोनगाँव और इनामगाँव, प्रकाश और नासिक। ये सभी पुरास्थल जोरवे संस्कृति के हैं। यह नाम जोरवे के आधार पर दिया गया है, जो अहमदनगर ज़िले में गोदावरी नदी की शाखा-नदी प्रवरा के बाएँ तट पर अवस्थित प्ररूपिक पुरास्थल (टाईप साइट) है। जोरवे संस्कृति ने मालवा संस्कृति से बहुत कुछ ग्रहण किया है, किंतु इसमें दक्षिणी नवपाषाण संस्कृति के तत्व भी हैं।

ईसा-पूर्व 1400-700 के आसपास की जोरवे संस्कृति विदर्भ के कुछ भाग को तथा कोंकण के तट-प्रदेश को छोड़ सारे महाराष्ट्र में फैली थी। यों तो जोरवे संस्कृति ग्रामीण थी, फिर भी इसकी कई बस्तियाँ, जैसे दैमाबाद और इनामगाँव नगरीकरण के स्तर तक पहुँच-सी गई थीं। महाराष्ट्र के ये सभी पुरास्थल अधिकतर काली-भूरी मिट्टी वाले ऐसे अर्धशुष्क क्षेत्रों में हैं जहाँ बेर और बबूल के पेड़ थे, परंतु ये नदी-तट वाले क्षेत्र में पड़ते थे। इनके अलावा नवदाटोली पुरास्थल भी है जो नर्मदा के तट पर है। अधिकांश ताम्रपाषाणिक तत्व दक्षिण भारत के नवपाषाण स्थलों में भी घुस गए थे।

कई ताम्रपाषाण स्थल इलाहाबाद ज़िले के विन्ध्य क्षेत्र में पाए गए हैं। पूर्वी भारत में, गंगातटवर्ती चिराँद के अलावा, बर्दवान ज़िले के पांडु राजार ढिबि और पश्चिम बंगाल के बीरभूम जिले में महिषदल उल्लेखनीय हैं। कुछ और पुरास्थलों की खुदाई हुई है, जिनमें उल्लेखनीय हैं-बिहार में सेनुवार, सोनपुर और ताराडीह तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में खैराडीह और नरहन।

इस संस्कृति के लोग पत्थर के छोटे-छोटे औज़ारों और हथियारों का इस्तेमाल करते थे, जिनमें पत्थर के फलकों और फलकियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अनेक स्थानों में, खासकर दक्षिण भारत में, प्रस्तर-फलक उद्योग बढ़ा और पत्थर की कुल्हाड़ी भी चलती रही। ज़ाहिर है कि ऐसे क्षेत्र पहाड़ियों से अधिक दूर नहीं थे। कई बस्तियों में तांबे की वस्तुएँ बहुतायत से मिली हैं। यही हाल अहार और गिलुंद का भी प्रतीत होता है, जो राजस्थान की बनास घाटी के कमोबेश शुष्क इलाकों में पड़ते हैं। अन्यान्य समकालिक ताम्रपाषाणिक कृषक संस्कृतियों के विपरीत, अहार में वास्तव में सूक्ष्म-पाषाण औज़ारों का इस्तेमाल नहीं होता था; यहाँ पत्थर की कुल्हाड़ियों या फलकों का लगभग अभाव ही है। इसकी वस्तुओं में कई सपाट कुल्हाड़ियाँ, चूड़ियाँ और कई पत्तरें हैं, जो सभी ताबें की हैं, हालाँकि एक चादर कांसे की भी पाई गई है। तांबा पास ही उपलब्ध था। अहार के लोग शुरू से ही धातुकर्म जानते थे। अहार का प्राचीन नाम **तांबवती** अर्थात् तांबावाली जगह है। अहार संस्कृति का काल 2100 और 1500 ई. पू. के बीच कहीं रखा जाता है और गिलुंद उस संस्कृति का स्थानीय केन्द्र माना जाता है। गिलुंद में तांबे के टुकड़े ही मिलते हैं। यहाँ एक प्रस्तर-फलक उद्योग पाया गया है। महाराष्ट्र के जोरवे और चंदोली में सपाट आयताकार ताम्र-कुठार पाए गए हैं और चंदोली में तांबे की छेनी भी मिली है।

ताम्रपाषाण काल के लोग विभिन्न प्रकार के

I सिन्धु-नद-क्षेत्र : 1. मोहनजोदड़ो 2. हड़प्पा 3. रोपड़ 4. सूरतगढ़ 5. हनुमानगढ़ 6. चन्हु-दड़ो 7. झुकार 8. आमरी 9. झगर
II गंगा-नद-क्षेत्र : 1. कौशाम्बी 2. आलमगीर पुर
III ब्रह्मपुत्र-नद-क्षेत्र
IV महानदी-नद-क्षेत्र
V चम्बल-नद-क्षेत्र : 1. प्लेवा 2. नागदा 3. परमार-खेड़ी 4. डुँगनी 5. मेतवा 6. ढकरौड़ा 7. भीलसुरी 8. माओरी 9. घाट-बिलोड़ 10. बेतवा 11. बिलवाली 12. अरता
VI राजपूताना-सौराष्ट्र-क्षेत्र : 1. रंगपुरा 2. अहार 3. प्रभास-पटन 4. लखबावल 5 लोथल 6. पिथड़िया 7.रोजड़ी 8. अढकोट
VII नर्मदा-नद-क्षेत्र : 1. नवदाटोली 2. महेश्वर 3. भगत्रव 4. टेलोड़ 5.मेहगम 6. हसनपुर
VIII तापी-नद-क्षेत्र : 1. प्रकाश 2. बहाल
IX गोदावरी-प्रवर-क्षेत्र : 1. जोरवे 2. नासिक 3. कोपड़गांव 4. नेवासा 5.दैमाबाद
X भीम-नद-क्षेत्र : 1.कोरेगांव 2. चन्दोली 3. उम्बराज 4. चनेगांव 5.अनाची 6. हिंगनी 7. नगरहाली
XI कर्नाटक-क्षेत्र : 1. ब्रह्मगिरि 2. पिक्लीहल 3. मास्की

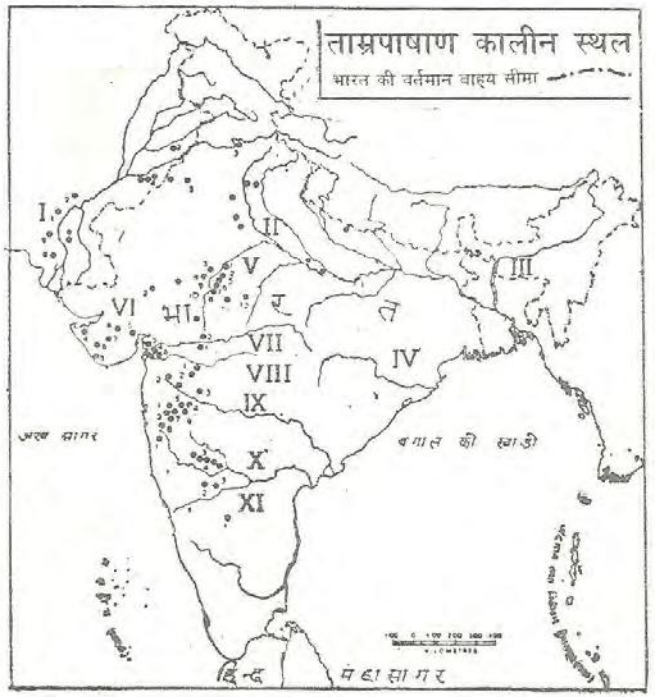

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

मृद्भांडों का व्यवहार करते थे। इनमें एक किस्म के बरतन काले-व-लाल रंग के हैं और लगता है इनका प्रयोग लगभग 2000 ई. पू. से व्यापक तौर पर होता आया है। ये चाकों पर बनते थे और कभी-कभी इन पर सफेद रैखिक आकृतियाँ बनी रहती थीं। यह बात केवल राजस्थान, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के बारे में ही नहीं है बल्कि बिहार और पश्चिम बंगाल में पाई गई बस्तियों के बारे में भी है। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और बिहार में रहने वाले लोग टोंटी वाले जलपात्र, गोड़ीदार तश्तरियाँ और गोड़ीदार कटोरे बनाते थे। ऐसा समझना गलत होगा कि काले-व-लाल मृद्भांड का व्यवहार करने वाले सभी लोग एक ही संस्कृति के हैं। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और राजस्थान वाले मृदभांड चित्रित हैं, पर पूर्वी भारत में ऐसे मृदभांड बहुत कम हैं।

दक्षिण-पूर्वी राजस्थान, पश्चिमी मध्य प्रदेश, पश्चिमी महाराष्ट्र और अन्यत्र रहने वाले ताम्रपाषाण युग के लोग मवेशी पालते और खेती करते थे। वे गाय, भेड़, बकरी, सुअर और भैंस रखते थे, और हिरन का शिकार करते थे। ऊँट के भी अवशेष मिले हैं। सामान्यत: वे घोड़े से परिचित नहीं थे। कुछ अवशेषों की पहचान घोड़े या गधे या जंगली गधे के अंग के रूप में की गई है। लोग गोमांस तो अवश्य खाते थे, किंतु सुअर का मांस अधिक नहीं खाते थे। ध्यानाकर्षक बात यह है कि वे लोग गेहूँ और चावल उपजाते थे। इन मुख्य अनाजों के अतिरिक्त वे बाजरे की भी खेती करते थे। वे मसूर, उड़द, और मूँग आदि कई दलहन और मटर भी पैदा करते थे। लगभग ये सभी अनाज महाराष्ट्र में नर्मदा नदी के तट पर स्थित नवदाटोली में भी पाए गए हैं। खुदाई के परिणामस्वरूप इतने

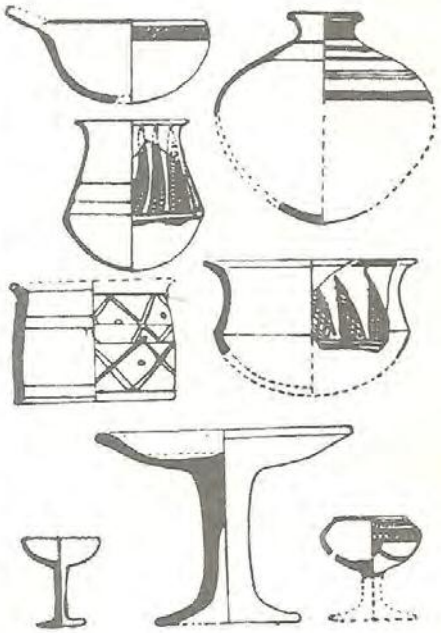

नवदाटोली (मालवा) से प्राप्त मिट्टी के बर्तन (लगभग 1500 ई. पू.)

सारे अनाज भारत में अन्य किसी भी स्थान में शायद नहीं मिले हैं। नवदाटोली के लोग बेर और अलसी भी उपजाते थे। दकन की काली मिट्टी में कपास की पैदावार होती थी। निचले दकन में रागी, बाजरा और इस तरह के अन्य अनाजों की खेती होती थी। पूर्वी भारत में, बिहार और पश्चिम बंगाल में मछली पकड़ने के काँटे (बंसी) मिले हैं, जहाँ हम चावल भी पाते हैं। इससे मालूम होता है कि मछली और भात पूर्वांचल के लोगों का आहार था, जो देश के उस भाग में आज भी

प्रचलित भोजन है। राजस्थान की बनास घाटी की अधिकाँश बस्तियाँ छोटी हैं, किंतु अहार और गिलुंद लगभग चार हेक्टर क्षेत्र में फैले हैं।

ताम्रपाषाण युग के लोग प्राय: पकी ईंटों से परिचित नहीं थे, जिनका इस्तेमाल कभी-कभी ही होता था, जैसे गिलुंद में 1500 ई. पू. के आसपास यदा-कदा वे अपना घर कच्ची ईंटों से बनाते, पर अधिकतर गीली मिट्टी थोप कर बनाते और लगता है घरों पर छप्पर भी दिए जाते थे। लेकिन अहार के लोग पत्थर के बने घरों में रहते थे। अब तक पता चले 200 जोरवे स्थलों में गोदावरी का दैमाबाद सबसे बड़ा है। यह लगभग 20 हेक्टर में फैला है जिसमें लगभग 4000 लोग रह सकते थे। यह पत्थर और मलवे के बुर्जों वाली कच्ची दीवार से घेर कर गढ़ जैसा बनाया प्रतीत होता है। दैमाबाद की ख्याति भारी संख्या में कांसे की वस्तुओं की उपलब्धि के लिए है। इनमें से कुछ वस्तुओं पर हड़प्पा संस्कृति का प्रभाव लक्षित होता है।

पश्चिमी महाराष्ट्र में आरंभिक ताम्रपाषाण अवस्था के इनामगाँव स्थल पर चूल्हों-सहित बड़े-बड़े कच्ची मिट्टी के मकान और गोलाकार गड्ढों वाले मकान मिले हैं। बाद की अवस्था (1300-1000 ई. पू.) में पाँच कमरों वाला एक मकान मिला है जिसमें चार कमरे आयताकार हैं और एक वृत्ताकार। यह मकान बस्ती के केन्द्र में है और किसी सरदार का मकान रहा होगा। इसके निकट में ही जो कोठार है उसमें राजस्व के रूप में वसूला गया अनाज जमा किया जाता होगा। इनामगाँव ताम्रपाषाण युग की एक बड़ी बस्ती थी। इसमें सौ से भी अधिक घर और कई कब्रें पाई गई हैं। यह बस्ती किलाबन्द

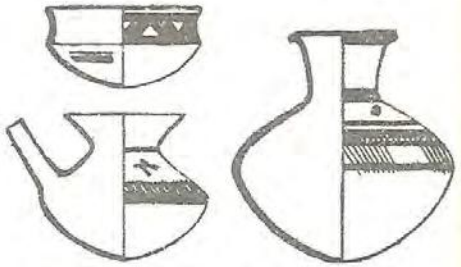

जोरवे (महाराष्ट्र) से प्राप्त लाल पर काले रंग से चित्रित मिट्टी के बर्तन (लगभग 1200 ई. पू.)

है और खाई से घिरी हुई है।

ताम्रपाषाण युग के लोगों की कला और शिल्प के बारे में बहुत से तथ्य ज्ञात हैं। वे तांबे के शिल्प-कर्म में नि:संदेह बड़े दक्ष थे और पत्थर का काम भी अच्छा करते थे। हमें तांबे के औज़ार, हथियार और कंकण मिले हैं। वे कार्नेलियन, स्टेटाइट और क्वार्टज क्रिस्टल जैसे अच्छे पत्थरों के मनके या गुटिकाएँ भी बनाते थे। वे लोग कताई और बुनाई जानते थे क्योंकि मालवा में चरखे और तकलियाँ मिली हैं। महाराष्ट्र में कपास, सन और सेमल की रूई से बने धागे भी मिले हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वे लोग वस्त्र-निर्माण से सुपरिचित थे। अनेक स्थलों पर प्राप्त इन वस्तुओं के शिल्पियों के अतिरिक्त हमें इनामगाँव में कुंभकार, धातुकार, हाथी-दाँत के शिल्पी, चूना बनाने वाले और खिलौने की मिट्टी की मूरतें (टेराकोटा) बनाने वाले कारीगर भी दिखाई देते हैं।

ताम्रपाषाण अवस्था में अनाज, भवन, मृद्भांड आदि में क्षेत्रीय अंतर भी दिखाई देते हैं। पूर्वी भारत चावल उपजाता था, तो पश्चिमी भारत जौ और गेहूँ। तिथिक्रम से देखें तो मालवा और मध्य

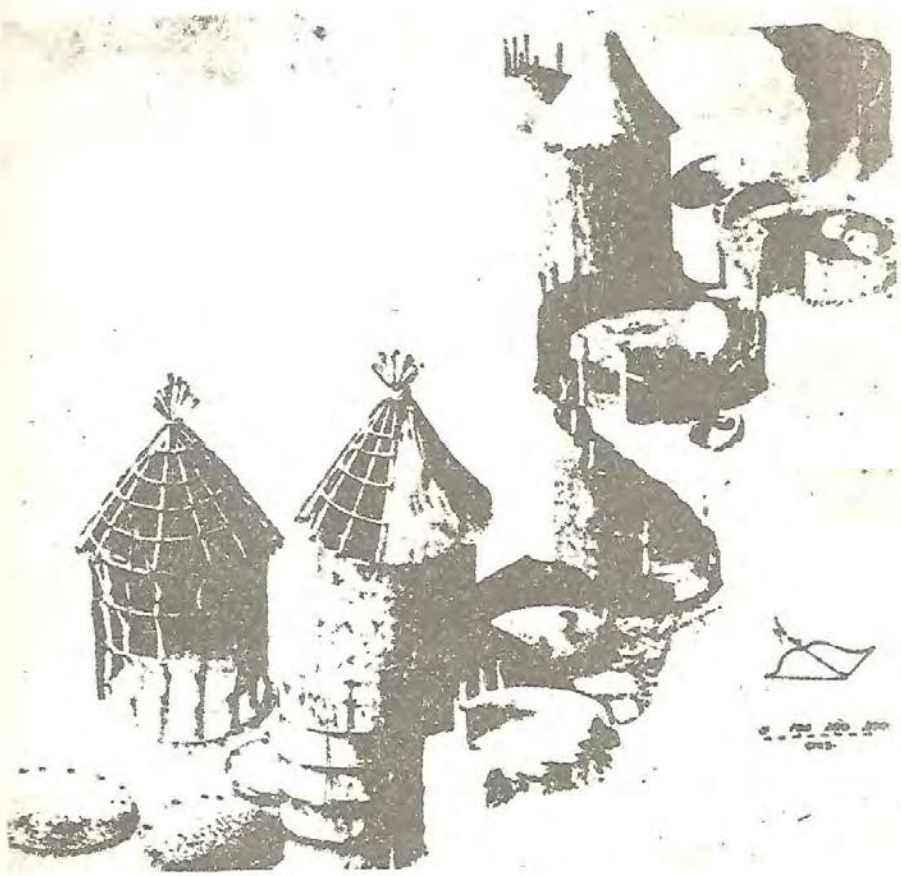

इनामगांव : मकानों की समाकृतिक पुनर्रचना

भारत की कई बस्तियाँ, जैसे कयथा व एरण पहले की प्रतीत होती हैं, जबकि पश्चिमी महाराष्ट्र और पूर्वी भारत की बस्तियाँ बहुत बाद की।

उनके शव-संस्कारों और पूजा-पद्धति का कुछ आभास मिलता है। महाराष्ट्र में लोग मृतक को कलश में रख कर अपने घर में फ़र्श के अंदर उत्तर-दक्षिण स्थिति में गाड़ते थे। हड़प्पाई लोगों की तरह अलग-अलग कब्रिस्तान नहीं होते थे। कब्र में मिट्टी की हंडियाँ और तांबे की कुछ वस्तुएँ भी रखी जाती थीं, जो जाहिर है कि परलोक में मृतक के इस्तेमाल के लिए होती थीं।

मिट्टी की स्त्री-मूर्तियों से प्रतीत होता है कि ताम्रपाषाण युग के लोग मातृ-देवी की पूजा करते थे। कई कच्ची मिट्टी की नग्न मूर्तिकाएँ भी पूजी जाती थीं। इनामगाँव में मातृ-देवी की प्रतिमा मिली है जो पश्चिमी एशिया में पाई जाने वाली ऐसी प्रतिमा से मिलती है। मालवा और राजस्थान में मिली रूढ़ शैली में बनी मिट्टी की वृषभ-मूर्तिकाएँ यह सूचित करती हैं कि वृषभ (साँड) धार्मिक पंथ का प्रतीक था।

बस्ती के ढाँचों और शव-संस्कार-विधि दोनों से पता चलता है कि ताम्रपाषाण समाज में असमानता आरंभ हो चुकी थी। महाराष्ट्र में पाई गई कई जोरवे बस्तियों में एक तरह का निवासगत अधिक्रम (ऊँच-नीच का क्रम) दिखाई देता है। कुछ बस्तियाँ तो बीस हेक्टर तक की बड़ी-बड़ी हैं, जबकि कुछ केवल पाँच हेक्टर या उससे भी छोटी हैं। इससे द्विस्तरिय निवास का आभास मिलता है। बस्तियों के विस्तार में अंतर का अर्थ है कि बड़ी-बड़ी बस्तियों का दबदबा छोटी-छोटी बस्तियों पर रहता था। लेकिन बड़ी और छोटी दोनों तरह की बस्तियों में सरदार और उनके नातेदार आयताकार मकानों में रहते थे और गोल झोंपड़ियों में रहने वालों पर प्रभुत्व रखते थे। इनामगाँव में शिल्पी या पंसारी लोग पश्चिम छोर पर रहते थे जबकि सरदार प्रायः केन्द्र स्थल में रहता था; इससे निवासियों के बीच सामाजिक दूरी ज़ाहिर होती है। पश्चिमी महाराष्ट्र की चंदोली और नेवासा बस्तियों में पाया गया है कि कुछ बच्चों के गलों में तांबे के मनकों का हार पहना कर उन्हें दफ़नाया गया है, जबकि अन्य बच्चों की कब्रों में सामान के तौर पर कुछ बरतन मात्र हैं। इनामगाँव में एक वयस्क आदमी मृद्भांडों और कुछ तांबे के साथ दफ़नाया गया है। कयथा के एक घर में तांबे के 29 कंगन और दो अद्वितीय ढंग की कुल्हाड़ियाँ पाई गई हैं। इसी स्थान में स्टेटाइट और कार्नेलियन जैसे कीमती पत्थरों की गोलियों के हार पात्रों में जमा पाए गए हैं। यह स्पष्ट है कि जिनके पास ये वस्तुएँ थीं वे धनी थे।

तिथिक्रमिक दृष्टि से गणेश्वर स्थल विशेष रूप से अवलोकनीय है। यह राजस्थान में खेत्री ताम्र-पट्टी के सीकर-झुँझनू क्षेत्र के तांबे की समृद्ध खानों के निकट पड़ता है। इस क्षेत्र से खुदाई में निकली तांबे की वस्तुएँ हैं-तीर के नोक, बरछे के फल, बंसियाँ, सेल्ट, कंगन, छेनी आदि। इनमें से कुछ की आकृतियाँ सिंधु स्थलों में मिली इन वस्तुओं की आकृतियों से मिलती हैं। पकी मिट्टी की एक ऐसी पिंडिका मिली है जो सिंधु-टाईप से मिलती-जुलती है। इस स्थान में बहुत से पत्थर के छोटे-छोटे औज़ार (माइक्रोलीथ्स) मिले हैं जो ताम्रपाषाण संस्कृति के परिचायक हैं। यहाँ गैरिक मृद्भांड (ओ.सी.पी.) भी पाया गया है। यह लाल अनुलेपित भांड है जो अक्सर काले रंग से रंगा रहता है और मुख्यतः कलश की शक्लों में होता हैं। चूँकि गणेश्वर के जमाव को 2800-2200 ई. पू. का माना जाता है, इसलिए इसकी बहुत-सी वस्तुएँ परिपक्व हड़प्पा संस्कृति से पूर्व की हैं। गणेश्वर मुख्यतः हड़प्पा को तांबे की वस्तुओं की आपूर्ति करता था, पर उससे उसने कोई खास तत्व प्राप्त नहीं किया है। गणेश्वर के लोग अंशतः कृषि-जीवी और मुख्यतः शिकार-जीवी थे। यद्यपि उनका मुख्य शिल्प तांबे की वस्तुएँ बनाना था, तथापि वे वैसे नगरीय तत्वों को विकसित नहीं कर पाए जो बाढ़-सिंचित मैदानों की उपज पर आश्रित हड़प्पाई अर्थव्यवस्था में

दिखाई देते हैं। अत: गणेश्वर की पुरावस्तुओं को वास्तविक गैरिक-मृद्भांड ताम्र-निधि संस्कृति की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इसकी सूक्ष्म पाषाण वस्तुओं तथा अन्य पाषाण उपकरणों को देखते हुए गणेश्वर संस्कृति को प्राक् हड़प्पाई ताम्रपाषाण संस्कृति कहा जा सकता है; जिसकी भित्ति पर परिपक्व हड़प्पाई संस्कृति खड़ी हुई।

तिथिक्रम की दृष्टि से भारत में ताम्रपाषाण बस्तियों की कई शृंखलाएँ हैं। कुछ प्राक तथा हड़प्पीय हैं, कुछ हड़प्पा संस्कृति के समकालीन हैं तथा कुछ हड़प्पोत्तर हैं। हड़प्पा अंचल के कुछ स्थलों के प्राक्-हड़प्पीय स्तरों को आरंभिक हड़प्पा संस्कृति भी कहते हैं ताकि इसे परिपक्व नगरीय सिंधु सभ्यता से पृथक किया जा सके। इस तरह राजस्थान के कालीबंगां और हरियाणा की बनावली की प्राक्-हड़प्पीय अवस्था स्पष्टत: ताम्रपाषाणिक है। यही बात पाकिस्तान के सिंध राज्य के कोट दीजी स्थल के बारे में भी है। प्राक्-हड़प्पीय और हड़प्पोत्तर ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ तथा हड़प्पा संस्कृति की समकालीन ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ भी उत्तरी, पश्चिमी और मध्य भारत में पाई जाती हैं। एक उदाहरण है- कयथा संस्कृति (लगभग 2000-1800 ई. पू.) जो हड़प्पा संस्कृति की कनिष्ठ समकालीन है। इसके मृद्भांडों में कुछ प्राक्-हड़प्पीय लक्षण हैं, पर साथ ही इस पर हड़प्पाई प्रभाव भी दिखाई देता है। इस क्षेत्र में कई हड़प्पाई ताम्रपाषाणीय संस्कृतियाँ हड़प्पा संस्कृति के नागरिकोत्तर अवस्था से प्रभावित हैं।

कई अन्य ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ परिपक्व हड़प्पा संस्कृति से उम्र में छोटी होते हुए भी सिंधु-सभ्यता से जुड़ी नहीं है। जैसे, नवदाटोली, एरण और नगदा में पाई गई मालवा संस्कृति (1700-1200 ई. पू.) हड़प्पा संस्कृति से पृथक मानी जाती है। जोरवे संस्कृति (1400-700 ई. पू.) जो अंशत: विदर्भ और कोंकण को छोड़ सारे महाराष्ट्र में छाई हुई है उसके बारे में भी यही बात है। देश के दक्षिणी और पूर्वी भागों में ताम्रपाषाण बस्तियाँ हड़प्पा संस्कृति से स्वतंत्र रही हैं। दक्षिण भारत में ऐसी बस्तियाँ हमेशा नवपाषाण युगीन बस्तियों के बाद लगातार चलती है। विन्ध्य क्षेत्र, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल की ताम्रपाषाण बस्तियाँ भी हड़प्पा संस्कृति से असंबद्ध थीं।

यह स्पष्ट है कि कई प्रकार की प्राक्-हड़प्पीय ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ सिंध, बलूचिस्तान, राजस्थान आदि प्रदेशों में कृषक-समुदायों के प्रसार में प्रेरक हुई और उनसे हड़प्पा की नगर-सभ्यता के उदय के लिए अनुकूल अवसर बना। इस प्रसंग में सिंध के अमरी और कोटदीजी तथा राजस्थान के कालीबंगां और गणेश्वर का भी नाम लिया जा सकता है। प्रतीत होता है कि ताम्रपाषाण युग के कुछ कृषक समुदाय सिंधु के बाढ़ वाले मैदानों की ओर बढ़े, कांसे का तकनीकी ज्ञान प्राप्त किया और नगरों की स्थापना में सफल हुए।

भारत के मध्य और पश्चिमी भागों में ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ 1200 ई. पू. में या 1000 ई. पू. आते-आते लुप्त हो गईं; केवल जोरवे संस्कृति 700 ई. पू. तक जीवित रही। फिर भी देश के कई भागों में ताम्रपाषाण युगीन काले-व-लाल मृद्भांड का बनना ऐतिहासिक काल में भी ईसा-पूर्व दूसरी सदी तक जारी रहा। परंतु कुल मिलाकर मध्य तथा पश्चिमी भारत की आरंभिक ऐतिहासिक संस्कृति तथा उनकी ताम्रपाषाण संस्कृति के बीच लगभग चार से छह शताब्दियों का व्यवधान रहा होगा। पश्चिमी भारत और पश्चिम मध्य प्रदेश में ताम्रपाषाण बस्तियों के लुप्त

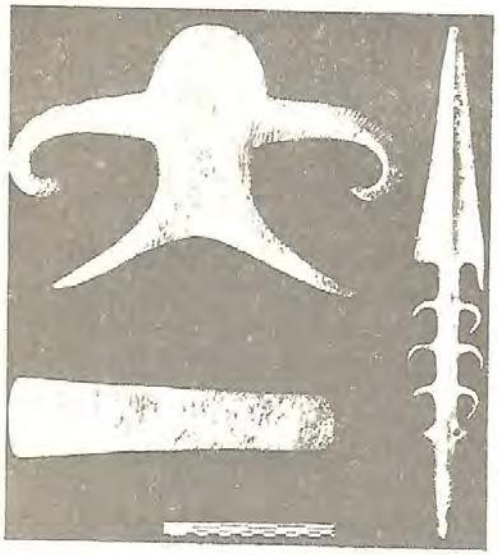

गंगा-यमुना दोआब से प्राप्त तांबे के औजार

होने का कारण लगभग 1200 ई. पू. के बाद से वर्षा की कमी मानी जाती है। पर मध्य गंगा क्षेत्र और पश्चिम बंगाल में ये बस्तियाँ बाद तक चलती रहीं। ऐसा लगता है कि पश्चिमी भारत में ताम्रपाषाण युग के लोग ऐसी काली चिकनी मिट्टी वाले क्षेत्र में थे जहाँ सूखे मौसम में जमीन गोड़ना कठिन होता है। अत: वे अपने जमीन खोदने वाले डंडे के सहारे ज्यादा दिनों तक टिक नहीं सके। लेकिन लाल मिट्टी वाले क्षेत्रों में, खासकर पूर्वी भारत में ताम्रपाषाण अवस्था के तुरंत बाद, बिना किसी व्यवधान के, लौह-अवस्था आ धमकी और उसने धीरे-धीरे लोगों को पूरा खेतिहर बना दिया।

यही बात मध्य गंगा के मैदान में स्थित ताम्रपाषाण संस्कृतियों पर लागू होती है। इसी तरह दक्षिणी भारत के कई स्थलों पर ताम्रपाषाण संस्कृति ने लोहे का इस्तेमाल करने वाली महापाषाण संस्कृति का रूप ले लिया।

ताम्रपाषाण अवस्था का महत्त्व

जलोढ़ मिट्टी वाले मैदानों और घने जंगल वाले क्षेत्रों को छोड़ प्राय: देश भर में ताम्रपाषाण संस्कृतियों के अवशेष मिले हैं। जलोढ़ मिट्टी वाले मैदानों में भी जलाशय के किनारे कई ताम्रपाषाण बस्तियाँ मिली हैं। पर सामान्यत: ताम्रपाषाणिक लोगों ने अधिकतर नदी-तटों पर पहाड़ियों से कम दूरी पर गाँव बसाए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ये लोग सूक्ष्म-पाषाणों और पत्थर के अन्य औज़ारों के साथ-साथ तांबे के भी कुछ औज़ारों का प्रयोग करते थे। जान पड़ता है कि इनमें से अधिकतर लोग तांबे को पिघलाने की कला जानते थे। पर मध्य-गंगा क्षेत्र की ताम्रपाषाण संस्कृति में तांबे के औज़ार बहुत कम मिलते हैं; पश्चिमी भारत और मध्य भारत की संस्कृतियों में वे अधिक मिलते हैं। लगभग सभी ताम्रपाषाण समुदाय चाकों पर बने काले-व-लाल मृद्भांडों का प्रयोग करते थे। उनके विकास की प्राक्-कांस्य अवस्था को देखते हुए, हम पाते हैं कि चित्रित मृद्भांडों का सबसे पहले इस्तेमाल करने वाले वे ही हैं। वे पकाने, खाने, पीने और सामान रखने के लिए इन भांडों का प्रयोग करते थे। वे लोटा और थाली दोनों का प्रयोग करते थे। दक्षिण भारत में नवपाषाण अवस्था अलक्षित रूप से ही ताम्रपाषाण अवस्था में परिणत हो गई, अत: इन संस्कृतियों को **नवपाषाणीय ताम्रपाषाण** संस्कृति का नाम दे दिया गया। अन्य भागों में, विशेषकर पश्चिमी महाराष्ट्र और राजस्थान में ताम्रपाषाण

संस्कृति के लोग बाहर से आकर बसे प्रतीत होते हैं। उनकी सबसे पुरानी बस्तियाँ संभवत: मालवा और मध्य-भारत में थीं, जैसे कयथा और एरण की बस्तियाँ। पश्चिमी महाराष्ट्र की बस्तियाँ बाद की मालूम होती हैं, और बिहार तथा पश्चिम बंगाल की बस्तियाँ तो और भी बाद में बसी हैं।

सर्वप्रथम ताम्रपाषाण जनों ने ही प्रायद्वीपीय भारत में बड़े-बड़े गाँव बसाए और वे नवपाषाण जनों के बारे में जितना ज्ञात है उससे कहीं अधिक अनाज उपजाते थे। विशेषकर वे पश्चिमी भारत में जौ, गेहूँ और मूँग तथा दक्षिणी और पूर्वी भारत में चावल पैदा करते थे। वे अन्न के साथ-साथ मांस-मछली भी खाते थे। पश्चिम भारत में पशुओं का मांस अधिक चलता था, पर पूर्वी भारत के भोजन में मछली और भात का प्रमुख स्थान था। पश्चिमी महाराष्ट्र, पश्चिमी मध्य प्रदेश और दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में बस्तियों के और भी अवशेष मिले हैं। मध्य प्रदेश में कयथा और एरण की और पश्चिमी महाराष्ट्र में इनामगाँव की बस्तियाँ किलाबंद हैं। इसके विपरीत, पूर्वी भारत के चिराँद और पांडु राजार ढिबि की संरचना के अवशेष कम है; उनसे सिर्फ खंभों, खाइयों और गोलाकार घरों की जानकारी मिलती है। शव-संस्कार विधियाँ भिन्न थीं। महाराष्ट्र में मृतक उत्तर-दक्षिण सीध में रखा जाता था, किंतु दक्षिण भारत में पूरब-पश्चिम सीध में। पश्चिमी भारत में लगभग संपूर्ण (एक्सटेंडेड बरिअल) शवाधान प्रचलित था, जबकि पूर्वी भारत में आंशिक शवाधान (फ्रेक्शनल बरिअल) चलता था।

ताम्रपाषाण संस्कृतियों की दुर्बलताएँ

ताम्रपाषाण युग के लोग मवेशी (भेड़/बकरे) पालते थे और उन्हें अपने आँगन में ही बाँध कर रखते थे। शायद वे पशुपालन मांस के लिए करते थे, दूध पीने के लिए या घी आदि बनाने के लिए उनको दुहते नहीं थे। कई जनजातियों के लोग, जैसे बस्तर के गोंड मानते हैं कि पशुओं का दूध केवल पशुओं के बच्चों के लिए है इसलिए वे दुहते नहीं हैं। इस कारण ताम्रपाषाण युग के लोग पशुओं से पूरा फायदा नहीं उठा सके। और ताम्रपाषाण युग के जो लोग मध्य और पश्चिमी भारत के काली कपास-मिट्टी वाले क्षेत्र में रहते थे, गहन या विस्तृत पैमाने पर खेती नहीं कर पाए। ताम्रपाषाण स्थलों में न हल और न फावड़ा (हो) ही पाया गया है। वे अपने जमीन खोदने वाले डंडे (डिगिंग स्टिक) में पत्थर का छिद्रित चक्का दबाव के लिए लटका देते थे और इससे केवल झूम खेती कर पाते थे। ऐसी खनन-यष्टि से तो केवल राखों में ही खेती संभव थी। काली मिट्टी में गहन और व्यापक खेती के लिए लोहे के उपकरणों का प्रयोग आवश्यक था जिनका स्थान ताम्रपाषाण संस्कृति में था ही नहीं। पूर्वी भारत में लाल मिट्टी वाले इलाकों में रहने वाले ताम्रपाषाणिक लोगों की भी यही कठिनाई थी।

पश्चिमी महाराष्ट्र में बड़ी संख्या में बच्चों के शवाधानों से ताम्रपाषाण संस्कृतियों की आम दुर्बलता प्रकट होती है। खाद्य-उत्पादक अर्थव्यवस्था के होते हुए भी बच्चों के मरने की दर बहुत ऊँची थी। पोषाहार की कमी, चिकित्सा के ज्ञान का

अभाव या महामारी का प्रकोप इसका कारण हो सकता है। जो भी हो, ताम्रपाषाण संस्कृति का सामाजिक और आर्थिक ढाँचा आयुवर्धक नहीं हुआ।

ताम्रपाषाण संस्कृति तत्वत: ग्रामीण पृष्ठभूमि पर खड़ी थी। इसके जीवन की सारी अवधि में तांबा सीमित मात्रा में ही उपलब्ध रहा और धातु के रूप में तांबा कुछ सीमित ही काम दे सकता था। यों भी तांबे का बना औज़ार लचीला होता था। लोग तांबे में टिन को मिश्रित करके कांसा बनाना नहीं जानते थे जो तांबे से अधिक मज़बूत और उपयोगी होता है। काँसे के औजारों के इस्तेमाल से क्रीट, मिस्र और मेसोपोटामिया में और सिंधु घाटी में भी प्राचीनतम सभ्यताओं के विकास में बड़ी सुविधा मिली थी।

ताम्रपाषाण युग के लोग लिखने की कला नहीं जानते थे और न ही वे नगरों में रहते थे, जबकि कांस्य युग के लोग नगरवासी हो गए थे। सभ्यता के ये सभी तत्व हमें भारतीय उपमहादेश के सिंधु क्षेत्र के अधिकतर भाग में विद्यमान दिखाई पड़ते हैं। अधिकांश ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ उम्र में सिंधु घाटी सभ्यता के बाद की है। फिर भी ये संस्कृतियाँ सिंधु घाटी सभ्यता के लोगों के उन्नत तकनीकी ज्ञान से कोई ठोस फायदा नहीं उठा पाई।

ताम्र-निधियाँ और गैरिक मृद्भांड अवस्था

चालीस से भी अधिक ताम्र-निधियाँ, (ताम्र उपकरणों के ज़खीरे) जिनमें अंगूठी, सेल्ट, कुठारी, खड्ग, हार्पून, शूल, आदमी जैसी मूरतें आदि चीजें हैं, पूरब में बंगाल और उड़ीसा से लेकर पश्चिम में गुजरात और हरियाणा तक, तथा दक्षिण में आंध्र प्रदेश से लेकर उत्तर प्रदेश तक के विशाल भू-भाग में बिखरी पाई गई हैं। सबसे बड़ी निधि मध्य प्रदेश के गुंगेरिया से प्राप्त हुई है। इसमें 424 तांबे के औज़ार और हथियार, तथा 102 चांदी के पतले पत्तर हैं। लेकिन इन ताम्र-निधियों में से लगभग आधी गंगा-यमुना दोआब में केन्द्रित हैं, अन्य क्षेत्रों में जहाँ-तहाँ तांबे के हार्पून, दुसिंगी तलवार, और मानव-मूर्तियाँ मिलती हैं। ये शिल्प-वस्तुएँ कई तरह के काम देती थीं। ये केवल मछली पकड़ने, शिकार करने या लड़ाई करने के लिए ही नहीं थीं, बल्कि शिल्प-कर्म और कृषि-कर्म के लिए भी थीं। इन उपकरणों से यह स्वत: सिद्ध होता है कि तांबे के कारीगरों को अच्छी तकनीकी जानकारी प्राप्त हो चुकी थी, और वे वस्तुएँ खानाबदोश लोगों या आदिम कारीगरों की कृति नहीं हो सकती हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दो स्थानों में की गई खुदाई में इनमें से कुछ वस्तुएँ गैरिक मृद्भांडों और कच्ची मिट्टी के घर-दुवारों के साथ मिली हैं। एक स्थान में कहीं-कहीं पकी ईंट के टुकड़े भी पाए गए हैं। खुदाई में पत्थर के औज़ार भी मिले हैं। इन बातों से यह प्रकट होता है कि ताम्र निधियों में पत्थर के औज़ारों के साथ मिले तांबे के इन उपकरणों का प्रयोग करने वाले लोग स्थायी जीवन बिताने वाले थे, और उन ताम्रपाषाण कृषकों और शिल्पियों में थे जो दोआब के एक बड़े भाग में सबसे पहले बसे। अधिकांश गैरिक मृद्भांड स्थल दोआब के ऊपरी हिस्से में पड़ते हैं, लेकिन छिटपुट ताम्र-निधियाँ बिहार और अन्य प्रदेशों के पठार क्षेत्रों में मिली हैं। बहुत से ताम्र सेल्ट राजस्थान के खेत्री अंचल में भी पाए गए हैं।

गैरिक मृद्भांड संस्कृति[1] का काल आठ वैज्ञानिक तिथि निर्धारणों के आधार पर मोटे तौर पर 2000 ई. पू. और 1500 ई. पू. के बीच रखा जा सकता है। जब गैरिक मृद्भांड बस्तियाँ समाप्त हुई उस समय से लगभग 1000 ई. पू. तक दोआब में कोई खास बस्तियाँ नहीं दिखाई देतीं। हमें काले व-लाल-मृद्भांड वाले लोगों की कुछ बस्तियों का अस्तित्व मालूम है, लेकिन उनके पास अवशेषों का जमाव इतना पतला है और पुरावस्तुएँ इतनी कम हैं कि उनसे लोगों के सांस्कृतिक साधनों की कोई स्पष्ट और विशिष्ट छवि नहीं मिलती हैं। जो भी हो, दोआब के ऊपरी भाग में गैरिक मृद्भांड वाले लोगों के उदय के साथ ही बस्ती आरंभ होती है। हरियाणा और राजस्थान की सीमा पर अवस्थित जोधपुरा में गैरिक मृद्भांड का सबसे मोटा जमाव देखा गया है जो 1.1 मीटर है। फिर भी प्रतीत होता है कि किसी भी स्थान में ये बस्तियाँ लगभग सौ बरस से अधिक नहीं टिकीं, और न ये आकार में बड़ी हैं, न तो विस्तृत क्षेत्र में फैली ही हैं। पता नहीं कि ये बस्तियाँ क्यों और कैसे समाप्त हो गईं। कहा जाता है कि एक विशाल क्षेत्र में बाढ़ आने और उसके बाद वहाँ जल-जमाव हो जाने के कारण वह इलाका मनुष्य के निवास के लिए अनुपयुक्त हो गया होगा। कुछ विद्वानों के अनुसार, गैरिक मृद्भांड के गठन में जो अभी ढीलापन पाया जाता है वह दीर्घकाल तक पानी में रहने के कारण हो सकता है।

गैरिक मृद्भांड वाले लोग हड़प्पाई लोगों के कनीय समसामयिक थे और वे जिस गैरिक मृद्भांड वाले क्षेत्रों में रहते थे वह हड़प्पाइयों के क्षेत्र से बहुत दूर नहीं हैं। इसलिए हम गैरिक मृद्भांड वाले लोगों और काँसे का प्रयोग करने वाले हड़प्पाई लोगों के बीच कुछ आदान-प्रदान का अनुमान कर सकते हैं।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें : ताम्रपाषाण, लघुपाषाण (माइक्रोलीथ), झूम खेती।
2. ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ पाषाण-युग संस्कृतियों से किन-किन बातों में आगे हैं? विवेचन करें।
3. भारत में ताम्रपाषाण अवस्था की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? भारत में ताम्रपाषाण संस्कृतियों के मुख्य-मुख्य स्थलों के नाम बताएँ। भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर उन स्थलों को दिखाएँ।
4. ताम्रपाषाण जनों की शवाधान रीतियों और धार्मिक विश्वासों का वर्णन करें।
5. भारत में ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ कब से कब तक थीं?

[1] यहाँ गैरिक मृद्भांड का प्रयोग (ओ.सी.पी.) शब्द भ्रामक है, क्योंकि ये मृद्भांड लाल अनुलेपित हैं, जिनमें बहुत-से मूठदार फलश दिखाई देते हैं। गैरिक मृद्भांड संस्कृति पर कुछ हड़प्पाई प्रभाव दिखाई देता है।

अध्याय 7

हड़प्पा संस्कृति : कांस्य युग सभ्यता

भौगोलिक विस्तार

सिंधु या हड़प्पा संस्कृति उन अनेकों ताम्रपाषाण संस्कृतियों से पुरानी है जिनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है, लेकिन यह उन संस्कृतियों से कहीं

कालीबंगा में उत्खनित स्थलों का एक दृश्य

अधिक विकसित है। इस संस्कृति का उदय ताम्रपाषाणिक पृष्ठभूमि में भारतीय उपमहादेश के पश्चिमोत्तर भाग में हुआ। इसका नाम हड़प्पा संस्कृति पड़ा क्योंकि इसका पता सबसे पहले 1921 में पाकिस्तान के प्रांत में अवस्थित हड़प्पा नामक आधुनिक स्थल में चला। सिंध के बहुत-से स्थल प्राक्-हड़प्पीय संस्कृति का केन्द्रीय क्षेत्र बने। परिणाम-स्वरूप वह संस्कृति परिपक्व होकर सिंधु और पंजाब में शहरी सभ्यता के रूप में परिणत हुई। इस परिपक्व हड़प्पा संस्कृति का केन्द्र-स्थल पंजाब और सिंध में, मुख्यत: सिंधु घाटी में पड़ता है। यहीं से इसका विस्तार दक्षिण और पूरब की ओर हुआ। इस प्रकार हड़प्पा संस्कृति के अंतर्गत पंजाब, सिंध और बलूचिस्तान के भाग ही नहीं, बल्कि गुजरात, राजस्थान, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सीमांत भाग भी थे। इसका फैलाव उत्तर में जम्मू से लेकर दक्षिण में नर्मदा के मुहाने तक और पश्चिम में बलूचिस्तान के मकरान समुद्र तट से लेकर उत्तर-पूर्व में मेरठ तक था। यह समूचा क्षेत्र त्रिभुज के आकार का है। इसका पूरा क्षेत्रफल लगभग 1,299,600 वर्ग किलोमीटर है। अत: यह क्षेत्र पाकिस्तान से बड़ा तो है ही, प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया से भी निश्चय ही बड़ा है। ईसा-पूर्व तीसरी और दूसरी सहस्राब्दी में संसार भर में किसी भी संस्कृति का क्षेत्र हड़प्पा संस्कृति के क्षेत्र से बड़ा नहीं था।

अब तक इस उपमहादेश में हड़प्पा संस्कृति के लगभग 1500 स्थलों का पता लग चुका है। इनमें कुछ हड़प्पा संस्कृति की आरंभिक अवस्था के हैं, कुछ परिपक्व अवस्था के, और कुछ उत्तर अवस्था के हैं किंतु परिपक्व अवस्था वाले स्थलों की संख्या सीमित है, और उनमें केवल सात को ही नगर की संज्ञा दी जा सकती है। इनमें दो सर्वाधिक महत्त्व के नगर थे- पंजाब में हड़प्पा और सिंध में मोहेंजोदड़ो (अर्थात् प्रेतों का टीला)। दोनों पाकिस्तान में पड़ते हैं। दोनों एक दूसरे से 483 किलोमीटर दूर थे और सिंधु नदी द्वारा जुड़े हुए थे। तीसरा नगर सिंध में मोहेंजोदड़ो से 130 किलोमीटर के करीब दक्षिण में चन्हुदड़ो स्थल पर था और चौथा नगर गुजरात में खंभात की खाड़ी के ऊपर लोथल स्थल पर। पाँचवाँ नगर उत्तरी राजस्थान में कालीबंगां (अर्थात "काले रंग की चूड़ियां") व छठा नगर बनावली, हरियाणा के हिसार जिले में था। कालीबंगां की तरह इसने भी दो सांस्कृतिक अवस्थाएँ देखीं- हड़प्पा-पूर्व और हड़प्पा-कालीन। कच्ची ईंटों के चबूतरों, सड़कों और मोरियों के अवशेष हड़प्पा-कालीन हैं। इन छहों स्थलों पर परिपक्व और उन्नत हड़प्पा संस्कृति के दर्शन होते हैं। सुतकागेंडोर और सुरकोटदा के समुद्रतटीय नगरों में भी इस संस्कृति की परिपक्व अवस्था दिखाई देती है। इन दोनों की विशेषता है एक-एक नगर-दुर्ग का होना। इसके अतिरिक्त, गुजरात के कच्छ क्षेत्र में अवस्थित धोलावीरा में भी किला है, और इस स्थल पर हड़प्पा संस्कृति की तीनों अवस्थाएँ मिलती हैं। ये तीनों अवस्थाएँ राखीगढ़ी में भी मिलती हैं जो घग्गर नदी पर हरियाणा में स्थित है और धोलावीरा से बड़ा है। उत्तर हड़प्पा अवस्था गुजरात के काठियावाड़ प्रायद्वीप में रंगपुर और रोजदी स्थलों पर पाई गई है।

नगर-योजना और संरचनाएँ

हड़प्पा संस्कृति की विशेषता थी इसकी नगर-योजना प्रणाली। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो दोनों

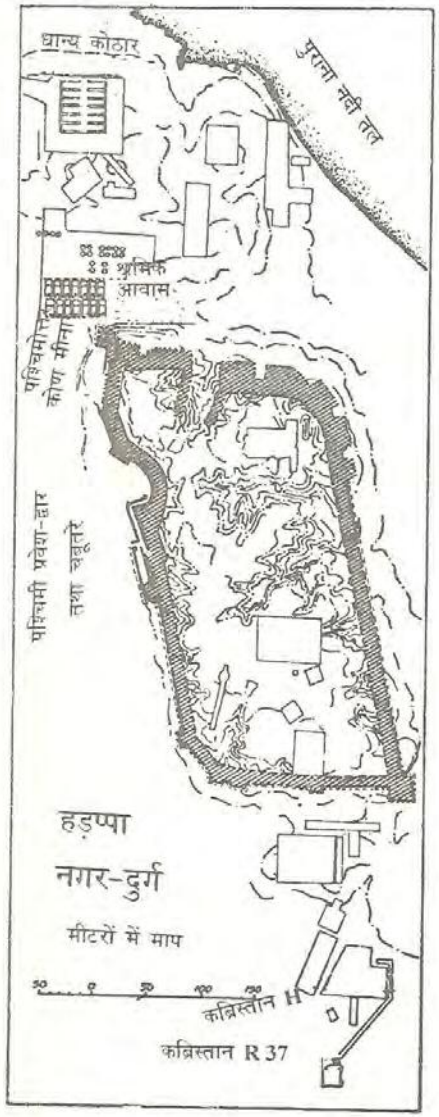

हड़प्पा-नगर योजना

नगरों के अपने-अपने दुर्ग थे जहाँ शासक वर्ग के लोग रहते थे। प्रत्येक नगर में दुर्ग के बाहर एक-एक उससे निम्न स्तर का शहर था जहाँ ईंटों के मकानों में सामान्य लोग रहते थे। इन नगरों में भवनों के बारे में विशिष्ट बात यह थी कि ये जाल (ग्रिड) की तरह व्यवस्थित थे। तदनुसार सड़कें एक दूसरे को समकोण बनाते हुए काटती थीं और नगर अनेक खंडों में विभक्त थे। यह बात सभी सिंधु बस्तियों पर लागू थी, चाहे वे छोटी हों या बड़ी। बड़े-बड़े भवन हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो दोनों की विशेषता है; दूसरा तो भवनों में और भी समृद्ध है। उनके स्मारक बतलाते हैं कि वहाँ के शासक मज़दूर जुटाने और कर-संग्रह में परम कुशल थे। ईंटों की बड़ी-बड़ी इमारतें देखकर सामान्य लोगों को भी यह लगता होगा कि इनके शासक कितने प्रतापी और प्रतिष्ठावान थे।

मोहेंजोदड़ो का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक स्थल है विशाल स्नानागार; जिसका जलाशय दुर्ग के टीले में है। यह ईंटों के स्थापत्य का सुंदर उदाहरण है। यह 11.88 मी. लंबा, 7.01 मी. चौड़ा और 2.43 मी. गहरा है। दोनों सिरों पर तल तक सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। बगल में कपड़े बदलने के कमरे हैं। स्नानागार का फ़र्श पकी ईंटों का बना है। पास के कमरे में बड़ा-सा कुआँ है। इससे पानी निकालकर हौज़ में डाला जाता था। हौज़ के कोने में निर्गम-मुख है जिससे पानी बहकर नाले में जाता था। बताया जाता है कि यह विशाल स्नानागार धर्मानुष्ठान संबंधी स्नान के लिए बना होगा जो भारत में हर धार्मिक कर्म में आवश्यक रहा है।

मोहेंजोदड़ो की सबसे बड़ी इमारत है अनाज रखने का कोठार, जो 45.71 मी. लंबा और

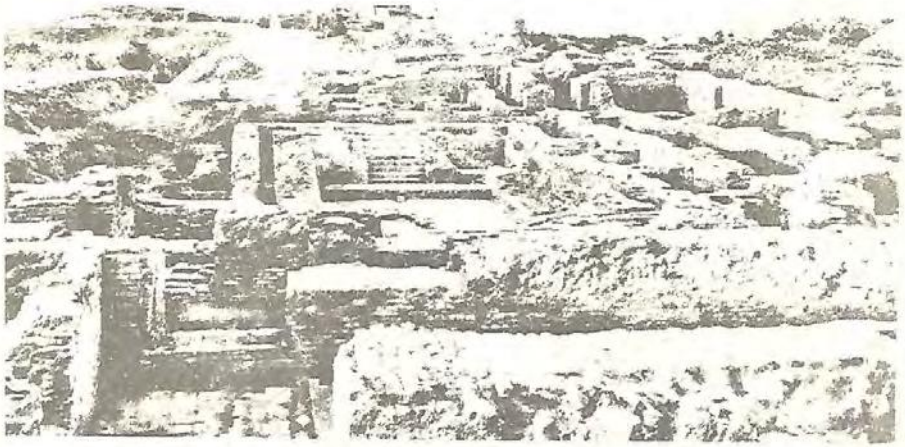

मोहेंजोदड़ो का विशाल स्नानागार

15.23 मी. चौड़ा है। पर हड़प्पा के दुर्ग में छह कोठार मिले हैं जो ईंटों के बने चबूतरों पर दो पाँतों में खड़े हैं। प्रत्येक कोठार 15.23 मी. लंबा और 6.09 मी. चौड़ा है और नदी के किनारे से कुछेक मीटर की दूरी पर है। इन बारह इकाइयों का समूचा तलक्षेत्र लगभग 838.1025 वर्गमीटर होता है, जो लगभग उतना ही होता है जितना मोहेंजोदड़ो के कोठार का है। हड़प्पा के कोठारों के दक्षिण में खुला फर्श है और इस पर दो कतारों में ईंट के वृत्ताकार चबूतरे बने हुए हैं। स्पष्ट है कि इनका उपयोग फसल दावने के काम में होता था, क्योंकि फर्श की दरारों में गेहूँ और जौ के दाने मिले हैं। हड़प्पा में दो कमरों वाले बैरक भी हैं, जो शायद मज़दूरों के रहने के लिए बने थे।

कालीबंगां में भी नगर के दक्षिण भाग में ईंटों के चबूतरे मिले हैं जो शायद कोठारों के लिए बने होंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कोठार हड़प्पा संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग थे।

हड़प्पा संस्कृति के नगरों में पकी ईंटों का इस्तेमाल विशेष बात है, क्योंकि मिस्र के समकालीन भवनों में धूप में सुखाई गयी ईंटों का ही प्रयोग हुआ था। समकालीन मेसोपोटामिया में पकी ईंटों का प्रयोग मिला तो है, पर हड़प्पा संस्कृति के नगरों में ऐसी ईंटों का प्रयोग बहुत ही बड़े पैमाने पर हुआ है।

मोहेंजोदड़ो की जल-निकास प्रणाली अद्भुत थी। लगभग सभी नगरों के हर छोटे या बड़े मकान में प्रांगण और स्नानागार होते थे। कालीबंगां के अनेक घरों में अपने-अपने कुएँ थे। घरों का पानी बहकर सड़कों तक आता जहाँ इनके नीचे मोरियाँ बनी हुई थीं। अक्सर ये मोरियाँ ईंटों और पत्थर की सिल्लियों से ढकी रहती थीं। सड़कों की इन मोरियों में नरमोखे (मैनहोल) भी बने थे। सड़कों और मोरियों के अवशेष बनावली

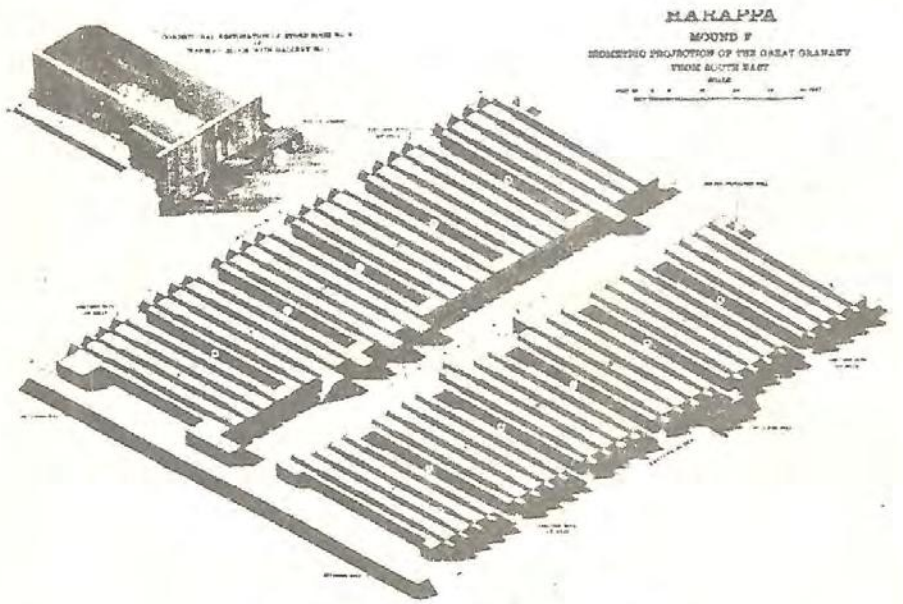

हड़प्पा के अनाज के कोठार का सामाकृतिक प्रक्षेप

में भी मिले हैं। कुल मिलाकर स्नानघरों और मोरियों की व्यवस्था अनोखी है। हड़प्पा की निकास-प्रणाली तो और भी विलक्षण है। शायद कांस्य युग की दूसरी किसी भी सभ्यता ने स्वास्थ्य और सफाई को इतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने दिया

कृषि

सिंधु प्रदेश में आज पहले की अपेक्षा बहुत ही कम वर्षा होती है, इसलिए यह प्रदेश अब उतना उपजाऊ नहीं रहा। यहाँ के समृद्ध देहातों और शहरों को देखने से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में यह प्रदेश खूब उपजाऊ था। संप्रति यहाँ केवल 15 सेंटीमीटर वर्षा होती है। ईसा-पूर्व चौथी सदी में सिकंदर का एक इतिहासकार बता गया है कि सिंध इस देश के उपजाऊ भागों में गिना जाता था। पूर्व काल में सिंधु प्रदेश में प्राकृतिक वनस्पति संपदा अधिक थी, जिसके कारण यहाँ अधिक वर्षा होती थी। यहाँ के वनों से ईंटें पकाने और इमारत बनाने के लिए लकड़ी बड़े पैमाने पर इस्तेमाल में लाई जाती थी। लंबे अरसे तक खेती का विस्तार, बड़े पैमाने पर चराई और ईंधन के लिए लकड़ी की खपत होते रहने से यहाँ की प्राकृतिक वनस्पति-संपदा क्षीण होती गई। इस प्रदेश की उर्वरता का एक विशेष कारण शायद सिंधु नदी से हर साल आने वाली बाढ़ थी। गाँव

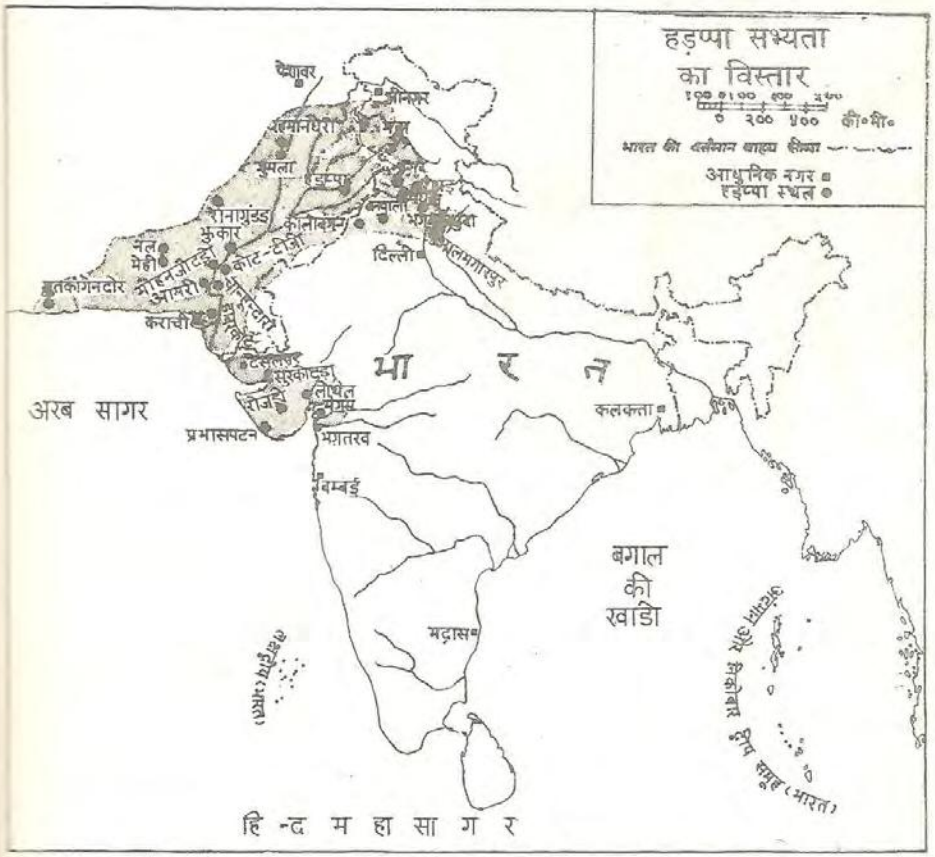

...ल के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
...द में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

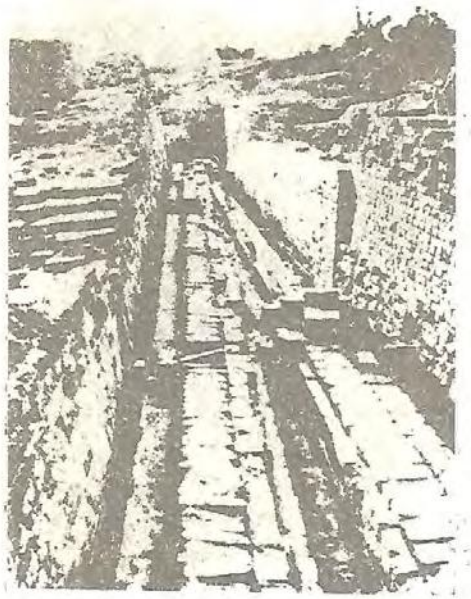

मोहेंजोदड़ो की ढकी नालियाँ

की रक्षा के लिए खड़ी की गई पक्की ईंट की दीवारों से प्रकट होता है कि बाढ़ हर साल आती थी। सिंधु नदी मिस्र की नील नदी की अपेक्षा कहीं अधिक जलोढ़ मिट्टी बहाकर लाती थी और इसे बाढ़ वाले मैदानों में छोड़ जाती थी। जैसे नील ने मिस्र का निर्माण और वहाँ के लोगों का भरण-पोषण किया, वैसे ही सिंधु नदी ने सिंध क्षेत्र का निर्माण और वहाँ के लोगों का भरण-पोषण किया। सिंधु सभ्यता के लोग बाढ़ उतर जाने पर नवंबर के महीने में बाढ़ वाले मैदानों में बीज बो देते थे और अगली बाढ़ के आने से पहले अप्रैल महीने में गेहूँ और जौ की अपनी फसलें काट लेते थे। यहाँ कोई फावड़ा या फाल तो नहीं मिला है, लेकिन कालीबंगां की प्राक्हड़प्पा अवस्था में जो कूँड (हलरेखा) देखे गए हैं उनसे अनुमान लगाया जाता है कि हड़प्पा काल में राजस्थान में हल जोते जाते थे। हड़प्पाई लोग शायद लकड़ी के हलों का प्रयोग करते थे। इस हल को आदमी खींचते थे या बैल, इस बात का पता नहीं है। फसल काटने के लिए शायद पत्थर के हँसियों का प्रयोग होता था। गबरबंदों या नालों को बाँधों से घेरकर जलाशय बनाने की परिपाटी बलूचिस्तान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों की विशेषता रही है, किंतु लगता है कि नहरों या नालों से सिंचाई की परिपाटी नहीं थी। हड़प्पाई गाँव, जो अधिकतर बाढ़ वाले मैदानों में थे, प्रचुर अन्न उपजा लेते थे, जो न केवल उनकी अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए, बल्कि खेती के काम से मतलब न रखने वाले नगरनिवासी शिल्पियों, व्यापारियों और सामान्य नागरिकों की जरूरत पूरी करने के लिए भी पर्याप्त होता था।

सिंधु सभ्यता के लोग गेहूँ, जौ, राई, मटर आदि अनाज पैदा करते थे। वे दो किस्म का गेहूँ और जौ उगाते थे। बनावली में मिला जौ बढ़िया किस्म का है। इनके अलावा वे तिल और सरसों भी उपजाते थे। परंतु हड़प्पाकालीन लोथल में रहने वाले हड़प्पाइयों की स्थिति भिन्न रही है। लगता है कि लोथल के लोग 1800 ई. पू. में ही चावल उपजाते थे जिसका अवशेष वहाँ पाया गया है। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में और शायद कालीबंगां में भी अनाज बड़े-बड़े कोठारों में जमा किया जाता था। संभवत: किसानों से राजस्व के रूप में अनाज लिया जाता था और वह पारिश्रमिक चुकाने और संकट की घड़ियों में काम के लिए कोठारों में जमा किया जाता था। यह बात हम

मेसोपोटामिया के नगरों के दृष्टांत से कह सकते हैं जहाँ मज़दूरी में जौ दिया जाता था। सबसे पहले कपास पैदा करने का श्रेय सिंधु सभ्यता के लोगों को है। चूँकि कपास का उत्पादन सबसे पहले सिंधु क्षेत्र में ही हुआ, इसलिए यूनान के लोग इसे सिन्डन (Sindon) कहने लगे जो सिंधु शब्द से निकला है।

पशुपालन

कृषि पर निर्भर होते हुए भी हड़प्पाई लोग बहुत-सारे पशु पालते थे। वे बैल-गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और सूअर पालते थे। उन्हें कूबड़ वाला साँड विशेष प्रिय था। कुत्ते शुरू से ही पालतू जानवरों में थे। बिल्ली भी पाली जाती थी। कुत्ता और बिल्ली दोनों के पैरों के निशान मिले हैं। वे घोड़े और ऊँट भी रखते थे और शायद इन पर बोझा ढोते थे। घोड़े के अस्तित्व का संकेत मोहेंजोदड़ो की एक ऊपरी सतह से तथा लोथल में मिली एक सन्दिग्ध मूर्तिका (टेराकोटा) से मिला है। गुजरात के पश्चिम में अवस्थित सुरकोटड़ा में घोड़े के अवशेषों के मिलने की रिपोर्ट आई है और वे 2000 ई. पू. के आसपास के बताए गए हैं, परंतु पहचान संदेहग्रस्त है। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि हड़प्पाई सभ्यता अश्वकेन्द्रित नहीं थी। हड़प्पा संस्कृति के आरंभिक और परिपक्व अवस्था में न तो घोड़े की हड्डियाँ और न ही उसके चित्र मिले हैं।

हड़प्पाई लोगों को हाथी का ज्ञान था। वे गैंडे से भी परिचित थे। मेसोपोटामिया के समकालीन सुमेर के नगरों के लोग भी इन्हीं लोगों की तरह अनाज पैदा करते थे और उनके पालतू पशु भी प्रायः वही थे जो इनके थे। परंतु गुजरात में बसे हड़प्पाई लोग चावल उपजाते थे और हाथी पालते थे; ये दोनों बातें मेसापोटामिया के नगरवासियों पर लागू नहीं होती हैं।

शिल्प और तकनीकी ज्ञान

हड़प्पा संस्कृति कांस्य युग की है। यों तो इस संस्कृति के लोग पत्थर के बहुत-सारे औज़ारों और उपकरणों का प्रयोग करते थे, लेकिन वे कांस्य के निर्माण और प्रयोग से भी भली-भाँति परिचित थे। सामान्यतः कांसा, तांबे में टिन मिलाकर धातुशिल्पियों द्वारा बनाया जाता था। पर, दोनों में एक भी धातु हड़प्पाई लोगों को आसानी से उपलब्ध नहीं थी। इसलिए हड़प्पा में कांसे के औज़ार बहुतायत से नहीं मिलते हैं। अयस्कों (ताम्र-खनिजों) की अशुद्धियों से लगता है कि वहाँ तांबा राजस्थान की खेत्री ताम्र-खानों से मंगाया जा सकता था, हालाँकि यह बलूचिस्तान से भी मंगाया जा सकता था। टिन शायद अफगानिस्तान से कठिनाई के साथ मंगाया जाता था, यद्यपि बताया गया है कि उसकी कुछ पुरानी खदानें हजारीबाग और बस्तर में पाई गई हैं। हड़प्पाई स्थलों में जो कांसे के औज़ार और हथियार मिले हैं उनमें टिन की मात्रा कम है। फिर भी ये जो कांसे की वस्तुएँ छोड़ गए हैं वे नगण्य नहीं हैं। इन वस्तुओं से संकेत मिलता है कि हड़प्पा समाज के शिल्पियों में कसेरों (कांस्य-शिल्पियों) के समुदाय का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे प्रतिमाओं और बरतनों के साथ-साथ कई तरह के औज़ार और हथियार भी बनाते थे, जैसे कुल्हाड़ी, आरी, छुरा, और बरछा। हड़प्पाई शहरों में कई अन्य महत्त्वपूर्ण शिल्प भी चलते थे। मोहेंजोदड़ो से बुने हुए सूती कपड़े का एक टुकड़ा निकला है, और कई वस्तुओं पर कपड़े की छाप

देखने में आई है। कताई के लिए तकलियों का इस्तेमाल होता था। बुनकर ऊनी और सूती कपड़ा बुनते थे। ईंटों की विशाल इमारतें बताती हैं कि स्थापत्य (राजगीरी) महत्त्वपूर्ण शिल्प था। इससे राजगीरों (स्थापतियों) के वर्ग के अस्तित्व का भी आभास मिलता है। हड़प्पाई लोग नाव बनाने का काम भी करते थे। जैसा कि आगे बताया जाएगा, मिट्टी की मुहरें बनाना और मिट्टी की पुतलियाँ बनाना भी महत्त्वपूर्ण शिल्प थे। स्वर्णकार चाँदी, सोना और रत्नों के आभूषण बनाते थे। सोना, चाँदी संभवतः अफगानिस्तान से और रत्न दक्षिण भारत से आते थे। हड़प्पाई कारीगर मणियों के निर्माण में भी निपुण थे। कुम्हार के चाक का खूब प्रचलन था और हड़प्पाई लोगों के मृद्भांडों की अपनी खास विशेषताएँ थीं। ये भांडों को चिकने और चमकीले बनाते थे।

व्यापार

सिंधु सभ्यता के लोगों के जीवन में व्यापार का बड़ा महत्त्व था। इसकी पुष्टि हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो और लोथल में अनाज के बड़े-बड़े कोठारों के पाए जाने से ही नहीं होती, बल्कि बड़े भू-भाग में ढेर सारी मिट्टी की मुहरों (सील), एकरूप लिपि और मानकीकृत माप-तोलों के अस्तित्व से भी होती है। हड़प्पाई लोग सिंधु-सभ्यता क्षेत्र के भीतर पत्थर, धातु, हड्डी आदि का व्यापार करते थे। लेकिन वे जो वस्तुएँ बनाते थे उनके लिए अपेक्षित कच्चा माल उनके नगरों में उपलब्ध नहीं था। वे धातु के सिक्कों का प्रयोग नहीं करते थे। संभव है कि वे सारे आदान-प्रदान विनिमय द्वारा करते हों। अपने तैयार माल और संभवतः अनाज भी नावों और बैलगाड़ियों पर लाद कर पड़ोस के इलाकों में ले जाते और उन वस्तुओं के बदले धातुएँ ले आते। वे अरब सागर के तट पर जहाज़रानी करते थे। वे पहिया से परिचित थे, और हड़प्पा में ठोस पहियों वाली गाड़ियाँ प्रचलित थीं। लगता है कि हड़प्पाई लोग किसी-न-किसी प्रकार के आज के इक्के का इस्तेमाल करते पर उनमें आरेदार पहिए नहीं थे।

हड़प्पाई लोगों का व्यापारिक संबंध राजस्थान के एक क्षेत्र से था और अफगानिस्तान और ईरान से भी। उन्होंने उत्तरी अफगानिस्तान में अपनी वाणिज्य बस्ती स्थापित की थी जिसके सहारे उनका व्यापार मध्य एशिया के साथ चलता था। उनके नगरों का व्यापार दजला-फरात प्रदेश के नगरों के साथ चलता था। बहुत-सी हड़प्पाई मुहरें मेसोपोटामिया की खुदाई में निकली हैं और प्रतीत होता है कि हड़प्पाई लोगों ने मेसोपोटामियाई नागरिकों के कई प्रसाधनों का अनुकरण किया है।

हड़प्पाई लोगों ने लाजवर्द मणि (लापिस लाजूली) का सुदूर व्यापार चलाया था; अवश्य ही इस मणि से शासक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती होगी। 2350 ई. पू. के आसपास और उसके आगे के मेसोपोटामियाई अभिलेखों में मेलुहा के साथ व्यापारिक संबंध की चर्चा है; मेलुहा सिंधु क्षेत्र का प्राचीन नाम है। मेसोपोटामिया के पुरालेखों में दो मध्यवर्ती व्यापार-केन्द्रों का उल्लेख मिलता है- दिलमन और मकन। ये दोनों मेसोपोटामिया और मेलुहा के बीच में हैं। दिलमन की पहचान शायद फ़ारस की खाड़ी के बहरैन से की जा सकती है। उस बंदरगाह नगर में हज़ारों कब्रें खुदाई का इंतज़ार कर रही हैं।

राजनीतिक संगठन

हमें हड़प्पाइयों के राजनीतिक संगठन का कोई स्पष्ट आभास नहीं है। किंतु यदि सिंधु सभ्यता की सांस्कृतिक एकता पर ध्यान दिया जाए तो ऐसी एकता किसी केन्द्रित सत्ता के बिना संभव नहीं हुई होगी। यदि हड़प्पाई सांस्कृतिक अंचल को राजनीतिक अंचल भी समझा जाए, तो इस उपमहादेश ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व इतनी बड़ी राजनीतिक इकाई कभी नहीं देखी। इस इकाई की अद्भुत दृढ़ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि यह लगभग 600 वर्षों तक निरंतर कायम रही।

मिस्र और मेसोपोटामिया के नितांत विपरीत, किसी भी हड़प्पाई स्थल पर मंदिर नहीं पाया गया है। किसी भी प्रकार का कोई भी धार्मिक भवन नहीं मिला है। इसका अपवाद विशाल स्नानागार हो सकता है, जिसका उपयोग नहाने-धोने (शुद्धि या सफाई) के लिए किया जाता होगा। हड़प्पा अंचल में धार्मिक विश्वासों और आचारों में एकरूपता नहीं है। इसलिए यह सोचना गलत होगा कि हड़प्पा में पुरोहितों का वैसा ही शासन था, जैसा कि निचले मेसोपोटामिया के नगरों में था। ऐसा संकेत मिलता है कि उत्तर हड़प्पाई अवस्था में गुजरात के लोथल में शायद अग्नि पूजा की परंपरा चली, किंतु इसके लिए मंदिरों का उपयोग नहीं होता था। शायद हड़प्पाई शासकों का ध्यान विजय की ओर उतना नहीं था जितना वाणिज्य की ओर, और हड़प्पा का शासन संभवत: वणिक् वर्ग के हाथ में था। ध्यान रहे कि सिंधु सभ्यता में अस्त्र-शस्त्र का अभाव है।

मोहेंजोदड़ो में मिली मातृ देवी की मूर्ति

धार्मिक प्रथाएँ

हड़प्पा में पकी मिट्टी की स्त्री-मूर्तिकाएँ भारी संख्या में मिली हैं। एक मूर्तिका में स्त्री के

गर्भ से निकलता पौधा दिखाया गया है। यह संभवत: पृथ्वी देवी की प्रतिमा है, और इसका निकट संबंध पौधों के जन्म और वृद्धि से रहा होगा। इसलिए मालूम होता है कि हड़प्पाई लोग धरती को उर्वरता की देवी समझते थे और इसकी पूजा उसी तरह करते थे जिस तरह मिस्र के लोग नील नदी की देवी आइसिस् की पूजा करते थे। लेकिन हड़प्पाई लोग मिस्रवासियों की तरह मातृ-सत्तात्मक थे या नहीं, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। मिस्र में राज्य या संपत्ति का उत्तराधिकार कन्या को मिलता था, किंतु हड़प्पा समाज में उत्तराधिकार का स्वरूप क्या था यह हमें ज्ञात नहीं है।

कुछ वैदिक सूक्तों में पृथ्वी माता की स्तुति है, किंतु उसको कोई प्रमुखता नहीं दी गई है। सुदीर्घकाल के बाद ही हिंदू धर्म में इस मातृदेवी को उच्च स्थान मिला है। ईसा की छठी सदी और उसके बाद से ही दुर्गा, अंबा, काली, चंडी आदि विविध मातृदेवियों को पुराणों और तंत्रों में आराध्य देवियों का स्थान मिला। काल-क्रमेण प्रत्येक गांव की अपनी अलग-अलग देवी हो गई।

सिंधु घाटी के पुरुष देवता

पुरुष देवता एक मुहर पर चित्रित किया गया है। उसके सिर पर तीन सींग हैं। वह एक योगी की ध्यान मुद्रा में एक टांग पर दूसरी टांग डाले बैठा (पद्मासन लगाए) दिखाया गया है। उसके चारों ओर एक हाथी, एक बाघ और एक गैंडा है, आसन के नीचे एक भैंसा है और पांवों पर दो हिरण हैं। मुहर पर चित्रित देवता को पशुपति

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की मुहर

महादेव बतलाया जाता है। पर यह संदेहास्पद लगता है, क्योंकि सींग वाले देवता अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी पाए गए हैं। निस्संदेह हम लिंग-पूजा का भी प्रचलन पाते हैं, जो कालांतर में शिव की पूजा से गहन रूप से जुड़ गई थी। हड़प्पा में पत्थर पर बने लिंग और योनि के अनेकों प्रतीक मिले हैं। संभवत: ये पूजा के लिए बने थे। ऋग्वेद में लिंग-पूजक अनार्य जातियों की चर्चा है। लिंग-पूजा हड़प्पा काल में शुरू हुई और आगे चलकर हिंदू समाज में पूजा की विशिष्ट विधि मानी जाने लगी।

वृक्षों और पशुओं की पूजा

सिंधु क्षेत्र के लोग वृक्ष-पूजा भी करते थे। एक मुहर (सील) पर पीपल की डालों के बीच विराजमान देवता चित्रित हैं। इस वृक्ष की पूजा आज तक जारी है।

हड़प्पा-काल में पशु-पूजा का भी प्रचलन

था। कई पशु मुहरों पर अंकित हैं। इनमें सबसे महत्त्व का है एक सींग वाला जानवर (यूनीकॉर्न) जो गैंडा हो सकता है। उसके बाद महत्त्व का है कूबड़ वाला सांड। आज भी जब ऐसा सांड बाज़ार की गलियों में चलता है तो धर्मात्मा हिंदू इसे रास्ता दे देते हैं। इसी तरह सींग वाले देवता के चतुर्दिक पशुओं की उपस्थिति से प्रकट होता है कि उनकी भी पूजा होती थी।

इन बातों से स्पष्ट होता है कि सिंधु प्रदेश के निवासी वृक्ष, पशु और मानव के स्वरूप में देवताओं की पूजा करते थे, परंतु वे अपने इन देवताओं के लिए मंदिर नहीं बनाते थे, जैसा कि प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया में बनाया जाता था। धर्मोपासना-सूचक वस्तुओं के रहते हुए भी हड़प्पा के नगरीकरण को धर्म से जोड़ना ठीक न होगा, जो बात कांस्य युग के अन्य नगरीय समाजों पर भी लागू होती है। जब तक सिंधु लिपि पढ़ी नहीं जाती तब तक हड़प्पाई लोगों के धार्मिक विश्वासों के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। तावीज़ बड़ी तादाद में मिले हैं। शायद हड़प्पाई लोग विश्वास करते थे कि भूत-प्रेत उनका अनिष्ट कर सकते हैं, और इसीलिए उनसे बचने के लिए तावीज़ पहनते थे। आर्येतर परंपरा से संबद्ध माने जाने वाले अथर्ववेद में अनेकों तंत्र-मंत्र या जादू-टोने दिए गए हैं। और रोगों का तथा भूत-प्रेतों को भगाने के लिए तावीज़ बताए गए हैं।

हड़प्पाई लिपि

प्राचीन मेसोपोटामियाइयों की तरह हड़प्पाई लोगों ने भी लेखन-कला का आविष्कार किया था। यद्यपि हड़प्पाई लिपि का सबसे पुराना नमूना 1853 में मिला था और 1923 तक पूरी लिपि प्रकाश में आ गई, किंतु वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। कुछ लोग इसे द्रविड़ या आद्य-द्रविड़ भाषा से जोड़ने का प्रयास करते हैं, कुछ लोग संस्कृत से, तो कुछ लोग सुमेरी भाषा से, परंतु इन पठनों में से कोई भी संतोषप्रद नहीं है। लिपि न पढ़े जाने के कारण साहित्य में हड़प्पाई लोगों का क्या योगदान रहा कुछ कहा नहीं जा सकता। हम उनके विचारों और विश्वासों के बारे में भी कुछ नहीं कह सकते हैं।

पत्थर की मुहरों और अन्य वस्तुओं पर हड़प्पाई लेखन के लगभग 4000 नमूने हैं। हड़प्पाइयों के अभिलेख उतने लंबे-लंबे नहीं हैं जितने मिस्रियों और मेसोपोटामियाइयों के हैं। अधिकांश अभिलेख मुहरों पर हैं और हर एक में दो-चार ही शब्द हैं। इन मुहरों का प्रयोग धनाढ्य लोग अपनी निजी संपत्ति को चिह्नित करने और पहचानने के लिए करते होंगे। इस लिपि में कुल मिलाकर 250 से 400 तक चित्राक्षर (पिक्टोग्राफ) हैं और चित्र के रूप में लिखा हर अक्षर किसी ध्वनि, भाव या वस्तु का सूचक है। हड़प्पा लिपि वर्णात्मक नहीं, बल्कि मुख्यतः चित्रलेखात्मक है। मेसोपोटामिया और मिस्र की समकालीन लिपियों के साथ इसकी तुलना करने के प्रयास किए गए हैं। परंतु यह तो सिंधु प्रदेश का आविष्कार है, और पश्चिम एशिया की लिपियों से इसका कोई संबंध दिखाई नहीं देता है।

माप-तौल

लिपि का ज्ञान हो जाने से निजी संपत्ति का लेखा-जोखा रखना आसान हो गया होगा। सिंधु-क्षेत्र

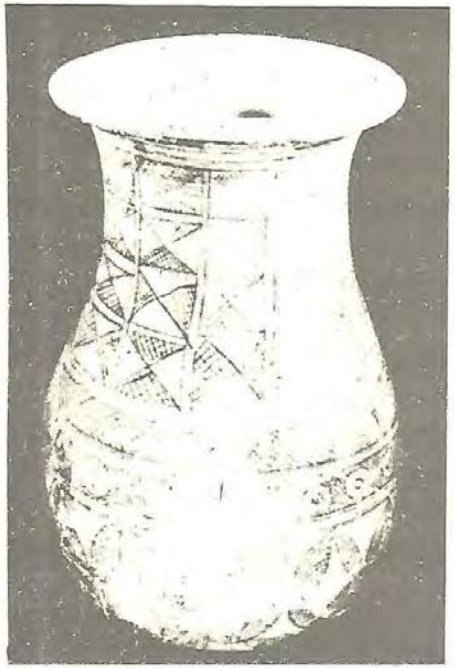

लोथल से प्राप्त मिट्टी का बर्तन

के नगरनिवासियों को व्यापार और अन्य आदान-प्रदानों में माप-तौल की आवश्यकता हुई और उन्होंने इसका प्रयोग भी किया। बाट के रूप में व्यवहृत बहुत-सी वस्तुएँ पाई गई हैं। उनसे प्रकट होता है कि तौल में 16 या उसके आवर्त्तकों का व्यवहार होता था, जैसे 16, 64,160,320 और 640। दिलचस्प बात यह है कि सोलह के अनुपात की यह परंपरा भारत में आधुनिक काल तक चलती रही है। हाल तक एक रुपया सोलह आने का होता था। हड़प्पाई लोग मापना भी जानते थे। ऐसे डंडे पाए गए हैं जिन पर माप के निशान

मोहेंजोदड़ो की एक मुहर जिस पर कूबड़ वाले बैल की आकृति बनी है

लगे हुए हैं। इनमें एक डंडा कांसे का भी है।

मृद्भांड

हड़प्पाई लोग कुम्हार के चाक का उपयोग करने में बड़े कुशल थे। उनके अनेक बरतनों पर विभिन्न रंगों की चित्रकारी देखने को मिलती है। हड़प्पा-भांडों पर आम तौर से वृत्त या वृक्ष की आकृतियाँ मिलती हैं। कुछ ठीकरों पर मनुष्य की आकृतियाँ भी दिखाई देती हैं।

मुहरें (सीलें)

हड़प्पा संस्कृति की सर्वोत्तम कलाकृतियाँ हैं उसकी मुहरें। अब तक लगभग 2000 सीलें प्राप्त हुई हैं। इनमें से अधिकांश सीलों पर लघु लेखों के साथ-साथ एकसिंगी जानवर, भैंस, बाघ, बकरी और हाथी की आकृतियाँ उकेरी हुई हैं।

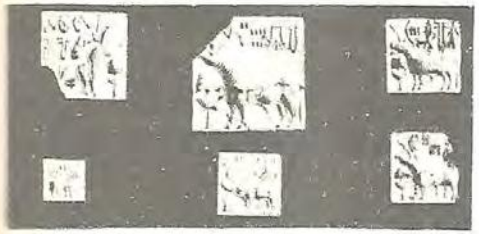

कालीबंगां में मिली मुहरें

प्रतिमाएँ

हड़प्पाई शिल्पी धातु की खूबसूरत मूर्तियाँ बनाते थे। काँसे की नर्तकी उनकी मूर्तिकला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। पूरी मूर्ति गले में पड़े हार के अलावा एकदम नग्न है। कुछ हड़प्पाई प्रस्तर प्रतिमाएँ मिली हैं। सेलखड़ी की एक मूर्ति के बायें कंधे तथा दायें हाथ के नीचे अलंकृत वस्त्र है, और सिर के पीछे उस के बालों की छोटी लटें एक बुनी हुई पट्टिका द्वारा संवारी गई हैं।

मृण्मूर्तिकाएँ (टेराकोटा फिगरिन)

सिंधु प्रदेश में भारी संख्या में आग में पकी मिट्टी (जो टेराकोटा कहलाती है) की बनी मूर्तिकाएँ (फिगरिन) मिली हैं। इनका प्रयोग या तो खिलौने के रूप में या पूज्य प्रतिमाओं के रूप में होता था। इनमें पक्षी, कुत्ते, भेड़, गाय-बैल और बंदर की प्रतिकृतियाँ मिलती हैं। पुरुषों और स्त्रियों की प्रतिकृतियाँ भी मिली हैं, जिनमें पुरुषों से स्त्रियों की संख्या अधिक है। जहाँ मुहरें और प्रतिमाएँ मंजी दक्षता के साथ बनाई गई हैं, वहीं ये मृण्मूर्तियाँ बहुत ही सरल कलाकृतियाँ हैं। इन दोनों कोटियों के शिल्पों के बीच जो अंतर है वह इनका इस्तेमाल करने वाले वर्गों के बीच अंतर का सूचक है। प्रथम कोटि की कलाकृतियों का उपयोग उच्च वर्ग के लोगों में होता था, और द्वितीय कोटि का जन-सामान्य में। प्रस्तर-शिल्प में हड़प्पा संस्कृति पिछड़ी हुई थी। प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया की तरह यहाँ हम कोई महान प्रस्तर-प्रतिमा नहीं पाते हैं।

उद्भव, उत्थान और अवसान

परिपक्व हड़प्पा संस्कृति का अस्तित्व मोटे तौर पर 2550 ई. पू. और 1900 ई. पू. के बीच रहा। लगता है, अपने अस्तित्व की पूरी अवधि भर यह संस्कृति एक ही प्रकार के औज़ारों, हथियारों और घरों का प्रयोग करती रही। सारी जीवन-पद्धति में एकरूपता बनी रही। वही नगर-योजना, वही मुहरें, वही मृण्मूर्तियाँ और वही लंबे-लंबे चर्ट-फलक दिखाई देते रहे। लेकिन इस अपरिवर्तनीयता पर बहुत अधिक जोर देना ठीक नहीं होगा। हमें मोहेंजोदड़ो की मृद्भांड कला में समय-समय पर परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। ईसा-पूर्व उन्नीसवीं सदी में आकर इस संस्कृति के दो महत्त्वपूर्ण नगर हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो लुप्त हो गए, लेकिन अन्य स्थानों में हड़प्पा संस्कृति धीरे-धीरे क्षीण हुई और क्षीण होते-होते भी गुजरात, राजस्थान, हरियाणा और पश्चिम उत्तर प्रदेश के अपने सीमांत क्षेत्रों में लंबे समय तक जीवित रही।

हड़प्पा संस्कृति का उद्भव जानना जितना कठिन है उतना ही कठिन उसका अंत जानना है। कई हड़प्पा-पूर्व बस्तियों के अवशेष पाकिस्तान के निचले सिंध और बलूचिस्तान प्रांत में तथा राजस्थान के कालीबंगां में मिले हैं। हड़प्पा-पूर्व

किसान उत्तर गुजरात के नागवाड़ा में भी रहते थे। परंतु किस तरह इन देशी बस्तियों से परिपक्व हड़प्पा संस्कृति उद्भूत हुई यह बात स्पष्ट नहीं है। न ही हमें इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि इस उपमहादेश के हड़प्पाई नगरों के पनपने में किसी बाहरी प्रभाव का हाथ था। हो सकता है कि हड़प्पा की शहरी संस्कृति के विकास में मेसोपोटामिया के नगरों से कुछ प्रेरणा मिली हो। परंतु हड़प्पा संस्कृति देशी ढंग की थी इस बात में कोई शंका नहीं है। इसमें कई ऐसे तत्व हैं जो इसे पश्चिम एशिया की समकालीन संस्कृतियों से पृथक करते हैं। सिंधु सभ्यता के नगरों की योजना जाल-पद्धति की है और इसमें सड़कों, नालियों और मलकुंडों की अच्छी व्यवस्था है। दूसरी ओर मेसोपोटामिया के नगरों में बेतरतीब बढ़ते जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। हड़प्पा संस्कृति के सभी नगरों में सभी मकान आयताकार हैं जिनमें पक्का स्नानघर और सीढ़ीदार कुँआ संलग्न हैं। पश्चिम एशिया के नगरों में इस तरह की नगर-योजना नहीं पाई गई है। संभवतः कीट द्वीप के नोसस (Knossos) नगर को छोड़ प्राचीन युग के किसी भी अन्य नगर में जल-निकास का ऐसा उत्तम प्रबंध देखने को नही मिलता। हड़प्पाई लोगों ने पकी ईंटों के इस्तेमाल में जिस कौशल का परिचय दिया है, वैसा पश्चिम एशिया वाले नहीं दे पाए। हड़प्पाइयों के मृद्भांड और उनकी मुहरें अपने खास ढंग की हैं, और इन पर अंकित पशु-मंडल स्थानीय है। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपनी खास लिपि बनाई, जिसका मिस्र और मेसोपोटामिया की लिपि से कोई साम्य नहीं है। यद्यपि हड़प्पा संस्कृति कांस्य युगीन संस्कृति थी, तथापि इसमें कांसे का उपयोग सीमित हुआ और ज्यादातर पत्थर के औज़ार ही चलते रहे। अंत में हड़प्पा संस्कृति का क्षेत्र जितना विशाल था उतना विशाल और किसी भी समकालीन संस्कृति का नहीं था। हड़प्पा नगर की संरचना पांच किलोमीटर के घेरे में फैली हुई है, और इस तरह कांस्य युग में अपने ढंग की बृहत्तम संरचनाओं में आती है। अभी तक हड़प्पा जैसा नगरविस्तार अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिला है।

मेसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यताएँ तो 1900 ई. पू. के बाद भी टिकी रहीं, हड़प्पा की नगर संस्कृति लगभग उसी समय लुप्त हो गई। इसके बहुत-से कारण बताए जाते हैं। कहा जाता है कि सिंधु-क्षेत्र में वर्षा की मात्रा 3000 ई. पू. के आसपास तनिक-सी बढ़ी और फिर ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के आरंभ भाग में कम हो गई। इससे खेती और पशुपालन पर बुरा असर पड़ा। कुछ लोगों का मत है कि पड़ोस के रेगिस्तान के फैलने से मिट्टी में लवणता बढ़ गई और उर्वरता घटती गई, इसी से सिंधु सभ्यता का पतन हो गया। दूसरा मत यह है कि जमीन धंस गई या ऊपर उठ गई जिससे इसमें बाढ़ का पानी जमा हो गया, भूकंप के कारण सिंधु नदी की धारा बदल गई जिसके फलस्वरूप मोहेंजोदड़ो का पृष्ठ प्रदेश वीरान हो गया। यह भी मत है कि हडप्पा-संस्कृति को आर्यों ने नष्ट किया पर इसका साक्ष्य बहुत कम है।

कांस्य युग की इस विशालतम सांस्कृतिक सत्ता के विघटन के परिणाम क्या-क्या हुए यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। हम नहीं जानते हैं कि क्या नगर के उजड़ जाने से वणिक और शिल्पी लोग देहात की ओर चले गए और वहाँ हड़प्पा के

तकनीकी कौशलों को फैलाया। हमें सिंधु, पंजाब और हरियाणा की नागरिकोत्तर काल की स्थिति के बारे में काफी जानकारी नहीं है। सिंधु क्षेत्र के भीतर हम खेतीहरों की बस्तियाँ तो पाते हैं, लेकिन पूर्वकाल की संस्कृति के साथ उनका संबंध स्पष्ट नहीं होता है। हमें स्पष्ट और पर्याप्त जानकारी की अपेक्षा है।

हड़प्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था

हड़प्पा संस्कृति शायद 1900 ई. पू. तक जीती-जागती रही। बाद में इसकी नागरिक अवस्था लुप्त-सी हो गई, जिसके परिचायक थे सुव्यवस्थित नगर-निवेश, व्यापक ईंट-संरचनाएँ, लिखने की कला, मानक बाट-माप, दुर्गनगर और निम्नस्तरीय शहर के बीच अंतर, कांसे के औज़ारों का इस्तेमाल, और काले रंग की आकृतियों से चित्रित लाल मृद्भांड का निर्माण। इसकी शैलीगत एकरूपता समाप्त हो गई, और शैली में भारी विविधता आ गई।

नागरिकोत्तर हड़प्पा संस्कृति के कुछ लक्षण पाकिस्तान में, मध्य एवं पश्चिमी भारत में तथा पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, दिल्ली और पश्चिम उत्तर प्रदेश में भी दिखाई देते हैं। इनका काल मोटे तौर पर 1900 ई.पू. से 1200 ई. पू. तक हो सकता है। हड़प्पा संस्कृति की नागरिकोत्तर अवस्था को उपसिंधु संस्कृति भी कहते हैं। पहले इस संस्कृति को हड़प्पोत्तर बतलाया जाता था, पर अब यह उत्तर-हड़प्पा संस्कृति के नाम से अधिक जाना जाता है।

उत्तर-हड़प्पा संस्कृतियाँ मूलत: ताम्रपाषाणिक हैं, जिनमें पत्थर और तांबे के औज़ारों का उपयोग होता था। इनमें धातु के ऐसे ही उपकरण बनते थे जिनकी ढलाई आसान है। फिर भी कुल्हाड़ी, छेनी, कंगन, वक्र अस्तूरा, बंसी और बरछा मिलते हैं। ताम्रपाषाण संस्कृति के लोग हड़प्पा संस्कृति की उत्तर अवस्था में गांवों में बस गए और खेती, पशुपालन, शिकार और मछली पकड़ने का धंधा करने लगे। शायद देहातों में धातुसंबंधी तकनीकी जानकारी के फैलने से खेती करने और बस्तियाँ बनाने में सहूलियत हुई। गुजरात के प्रभास पाटन (सोमनाथ) और रंगपुर जैसे कुछ स्थान तो हड़प्पा संस्कृति के मानो औरस पुत्र हैं। किंतु उदयपुर के निकटवर्ती अहार में हड़प्पाई तत्व कुछेक ही पाए जाते हैं। गिलुंद में, जो अहार संस्कृति का स्थानीय केन्द्र जैसा लगता है, ईंटों की संरचनाएँ भी मिली हैं, जिन्हें मोटे तौर पर 2000 ई.पू. और 1500 ई. पू. के बीच रखा जा सकता है। यों, पकाई हुई ईंटों के मिलने की खबर भगवानपुरा की उत्तर हड़प्पाई अवस्था के बारे में दी गई है, पर ईंट वाले स्तर का कालनिर्धारण संदेहास्पद है। हाँ, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बुलंदशहर ज़िले के लाल किला के गैरिक मृद्भांड (ओ. सी. पी) स्थल पर चंद ईंटें मिली हैं। फिर भी हड़प्पाई तत्व का प्रभाव मालवा की उस ताम्रपाषाण संस्कृति (लगभग 1700-1200 ई.पू.) पर, जिसकी सबसे बड़ी बस्ती नवदाटोली में है, बहुत कम है। जोरवे स्थलों पर भी जो तापी, गोदावरी और भीमा की घाटी में पाए गए हैं, वैसी ही है। जोरवे बस्तियों में सबसे बड़ी है दैमाबाद की बस्ती, जो करीब 22 हेक्टर में बसी है और जहाँ 4000 की आबादी हो सकती है। इसका स्वरूप आद्य नगरीय कहा जा सकता है। लेकिन अधिकांश जोरवे बस्तियाँ गांव ही हैं।

नागरिकोत्तर हड़प्पाई बस्तियाँ स्वात घाटी में मिली हैं। यहाँ वे लोग पशुचारण के साथ-साथ अच्छी खेती और पशुपालन भी करते थे। वे मंद चाल वाले चाक पर बने काला-धूसर ओपदार मृद्भांडों का प्रयोग करते थे। ये मृद्भांड ईसा-पूर्व तीसरी सहस्त्राब्दी और उसके बाद के उन मृद्भांडों से मिलते हैं जो उत्तरी ईरान के पठार से प्राप्त हुए हैं। स्वात घाटी के निवासी भी चाक पर लाल-पर-काले रंग वाले मृद्भांड तैयार करते थे जो आरंभिक नागरिकोत्तर काल के मृद्भांडों से निकट संबंध जताते थे। इनसे प्रकट होता है कि हड़प्पा से संबद्ध नागरिकोत्तर संस्कृति से इनका संबंध था। इसलिए स्वात घाटी को उत्तर-हड़प्पा संस्कृति का उत्तरी छोर मान सकते हैं। भारत स्थित पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और जम्मू में भी कई उत्तर-हड़प्पा स्थलों की खुदाई हुई है। इनमें जम्मू में मंडा, पंजाब में चंडीगढ़ और संघोल, हरियाणा में दौलतपुर और उत्तर प्रदेश में आलमगीरपुर और हुलास उल्लेखनीय हैं। जान पड़ता है कि हड़प्पाई लोगों ने चावल की खेती तब शुरू की जब वे हरियाणा में दौलतपुर और उत्तर प्रदेश के सहारनपुर ज़िले में हुलास पहुंचे। रागी उत्तर भारत के किसी भी हड़प्पा स्थल में अभी तक नहीं देखा गया है। आलमगीरपुर में उत्तर हड़प्पाई लोग संभवत: कपास भी उपजाते थे जैसा कि हड़प्पा के मृद्भांडों पर मिले कपड़े की छापों से अनुमान लगाया जा सकता है।

उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों के उत्तर-हड़प्पा स्थलों में जो चित्रित हड़प्पाई मृद्भांड पाए गए हैं उनमें आकृतियाँ अपेक्षाकृत सरल हो गई हैं, हालाँकि कुछ नए पात्र-प्रकार भी मिलते हैं। कुछ उत्तर-हड़प्पा पात्र-प्रकार भगवानपुरा के चित्रित धूसर मृद्भांड अर्थात पेन्टेड ग्रे वेअर (पी.जी.डब्ल्यू.) अवशेषों से संमिश्रित पाए गए हैं, लेकिन इस काल में हड़प्पा सम्मिश्रित पूर्ण विघटन की अवस्था में आ चुकी प्रतीत होती है।

उत्तर-हड़प्पा अवस्था में लंबाई मापने की कोई वस्तु नहीं पाई गई है। गुजरात में उत्तर काल में पत्थर के घनाकार बाट और पकी मिट्टी की पिंडिकाएँ (टेराकोटा केक) नहीं मिलते हैं। आम तौर से सभी उत्तर-हड़प्पा स्थलों में मानव मूर्तिकाओं और वैशिष्ट्य सूचक चित्राकृतियों का अभाव है। यद्यपि गुजरात में वाग्दत्र (फायंस) अपचलित हो चुका था, पर उत्तर भारत में यह खूब चलता था। नागरिकोत्तर अवस्था में पहुँचने पर पश्चिम एशियाई केन्द्रों से हड़प्पाइयों का व्यापार समाप्त हो गया। लाजवर्द मणि, चर्ट, इंद्रगोप मणि (कार्नेलियन बीड) तथा तांबे और कांसे के पात्र व्यापार-वस्तुओं में या तो लुप्त हो चुके थे या विरल हो गए थे। यह सब स्वाभाविक था, क्योंकि पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में उत्खनित अधिकांश उत्तरकालीन हड़प्पा स्थल देहाती बस्तियाँ ही हैं।

हड़प्पा संस्कृति की उत्तरकालीन अवस्थाओं में कुछ बाहरी औज़ार और मृद्भांड पाए गए हैं, जिनसे संकेत मिलता है कि सिंधु घाटी में बाहर के लोग धीरे-धीरे प्रवेश करने लगे थे। मोहेंजोदड़ो की अंतिम अवस्था में असुरक्षा और अशान्ति के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। आभूषणों की निधियाँ स्थान-स्थान पर गड़ी मिली हैं और एक स्थान पर आदमी की खोपड़ियों का ढेर मिला है। मोहेंजोदड़ो की ऊपरी सतहों पर नई किस्म की

कुल्हाड़ियाँ, छुरे और पसलीदार और सपाट चूलवाली छुरियाँ मिली हैं। ये कुछ बाहरी आक्रमण के संकेत देते हैं। हड़प्पा की अंतिम अवस्था के एक कब्रिस्तान में नए लोगों के अवशेष मिले हैं, जहाँ नवीनतम स्तरों पर नए प्रकार के मृद्भांड हैं। नए प्रकार के मृद्भांड बलूचिस्तान के कुछ स्थलों पर भी मिलते हैं। पंजाब और हरियाणा के कई स्थलों पर लगभग 1200 ई. पू. के उत्तरकालीन हड़प्पा मृद्भांडों के साथ-साथ धूसर मृद्भांड (ग्रे वेअर) और चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी. डब्ल्यू.) पाए गए हैं जो आमतौर से वैदिक लोगों से जुड़े हैं। ये सारे काम उन अश्वारोही लोगों के हो सकते हैं जो ईरान अथवा दक्षिण मध्य एशिया से पहाड़ियों के रास्ते आए होंगे। लेकिन अधिकांश नए लोग पंजाब और सिंधु के हड़प्पाई नगरों के तहस-नहस होने के बाद आए। यद्यपि वैदिक आर्य अधिकांशतः उसी सप्त-सिंधु प्रदेश में बसे जहाँ एक समय हड़प्पा संस्कृति विराजमान थी, फिर भी हमें ऐसा कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता है कि सुदृढ़ हड़प्पाइयों और आर्यों के बीच कोई भारी संग्राम हुआ था। 1500 ई. पू. और 1200 ई.पू. के बीच उत्तर हड़प्पा संस्कृति के लोगों के साथ वैदिक संस्कृति वाले जत्थों का कहीं-कहीं सामना हुआ होगा।

अभ्यास

1. हड़प्पा सभ्यता को कांस्ययुग सभ्यता क्यों कहते हैं?
2. हड़प्पा नगरों का विन्यास कैसा था? इसकी विलक्षणताओं का वर्णन करें।
3. हड़प्पाई लोगों के मुख्य धंधों का वर्णन करें।
4. शिल्प और तकनीक के क्षेत्र में हड़प्पाई लोगों की उपलब्धियाँ बताएँ।
5. "पकी मिट्टी की मूर्तिकाएँ और मुहरें हड़प्पाई लोगों की धार्मिक प्रथाओं पर प्रचुर प्रकाश डालती हैं"-विवेचन करें।
6. हड़प्पा सभ्यता कैसे समाप्त हुई? विवेचन करें।
7. विश्व के अन्य भागों की कौन-कौन सी कांस्ययुग-सभ्यताएँ हड़प्पा संस्कृति के समकालीन थीं? उनमें से किन-किन के साथ हड़प्पाई लोगों का व्यापारिक संपर्क था?
8. हड़प्पा सभ्यता किन-किन विषयों में ताम्रपाषाण संस्कृतियों से बढ़ी-चढ़ी थी (हालाँकि यह अधिकतर ताम्रपाषाण संस्कृतियों से बहुत पुरानी है) ? उदाहरणों के साथ स्पष्ट करें।

9. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर हड़प्पा सभ्यता का विस्तार दिखाएँ और निम्नलिखित स्थल अंकित करें : मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, चन्हूदड़ो, कालीबंगां, बनावली, लोथल, रोपड़।
10. हड़प्पा संस्कृति के विविध पक्षों पर एक समूह परियोजना तैयार करें। परियोजना के अंग के रूप में हड़प्पाई लिपि के संकेतों का चार्ट बनाएँ। पता लगाएँ कि अन्य सभ्यताओं की लिपियों को पहली बार कब, कैसे, और किन-किन लोगों ने पढ़ा।

अध्याय 8

आर्यों का आगमन और ऋग्वैदिक युग

मूल निवास-स्थान और पहचान

यह कहना कठिन है कि सारे आर्य लोग एक ही नस्ल के थे, पर उनकी प्रारंभिक संस्कृति करीब-करीब एक प्रकार की थी। वे हिन्द-यूरोपीय परिवार की भाषाएँ बोलते थे, जो अपने परिवर्तित रूपों में आज भी समूचे यूरोप और ईरान में तथा भारतीय उपमहादेश के अधिकतर भागों में बोली जाती हैं। आर्यों का मूल निवास आल्प्स पर्वत के पूर्वी क्षेत्र में, जो यूरेशिया कहलाता है, कहीं पर बतलाया जाता है। आज कुत्ता, घोड़ा, आदि कुछ पशुओं के नाम और भूर्ज, देवदारु, मैपिल आदि कुछ वृक्षों के नाम सभी हिन्द-यूरोपीय भाषाओं में समान पाए जाते हैं। ये समान शब्द यूरेशिया के पौधों और पशुओं के वाचक हैं। इनसे यह भी प्रकट होता है कि आर्यजन नदियों और वनों से परिचित थे। यह विचित्र बात है कि पर्वतवाचक समान शब्द कुछ ही आर्य भाषाओं में हैं, हालांकि आर्यों ने अनेकों पर्वतों को पार किया है। उनका धंधा मुख्यतः पशुचारण था, कृषि का स्थान गौण था। आर्यों के समाज में पुरुष की प्रधानता थी। आर्यों के जीवन में घोड़े का सबसे अधिक महत्त्व था। पालतू घोड़े पहली बार ईसा-पूर्व छठी सहस्त्राब्दि में काला सागर और यूराल पर्वत के क्षेत्र में इस्तेमाल किए गए। 3000 ईसा-पूर्व में यूराल क्षेत्र में घोड़े की लगभग 60,000 हड्डियाँ मिली हैं। घोड़े की तेज रफ्तार के कारण आर्यों और उनके सहयोगी जनों को लगभग 2000 ई.पू. के बाद पश्चिमी एशिया में चढ़ाई करने में सफलता मिली।

भारत आगमन के क्रम में आर्य लोग मध्य एशिया और ईरान पहुँचे; भारत में आर्यों की जानकारी ऋग्वेद से मिलती है, जो हिन्द-यूरोपीय भाषाओं का सबसे पुराना ग्रंथ है। इस वेद में "आर्य" शब्द का उल्लेख 36 बार है, पर सामान्यतः इससे सांस्कृतिक समुदाय का बोध होता है। **ऋग्वेद** में अग्नि, इंद्र, मित्र, वरूण आदि देवताओं की स्तुतियाँ संगृहीत हैं जिनकी रचना विभिन्न गोत्रों के ऋषियों और मन्त्रद्रष्टाओं ने की है। इसमें दस मंडल या भाग हैं, जिनमें मंडल 2 से 7 तक प्राचीनतम अंश हैं। प्रथम और दशम मंडल सबसे बाद में जोड़े गए मालूम होते हैं। **ऋग्वेद** की अनेक बातें **अवेस्ता** से मिलती हैं। **अवेस्ता** ईरानी भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ है। दोनों ग्रंथों में बहुत से देवताओं और सामाजिक वर्गों के भी नाम समान हैं।

पर हिन्द-यूरोपीय भाषा का सबसे पुराना नमूना इराक में पाए गए लगभग 2200 ई.पू. के एक अभिलेख में मिला है। बाद में इस तरह के नमूने अनातोलिया (तुर्की) में उन्नीसवीं से सत्रहवीं सदी ई.पू. के हिट्टाइट अभिलेखों में मिलते हैं। इराक में मिले लगभग 1600 ई.पू. के कस्साइट अभिलेखों में तथा सीरिया में मितन्नी अभिलेखों में आर्य नामों का उल्लेख मिलता है। उनसे पश्चिम एशिया में आर्य भाषाभाषियों की उपस्थिति का पता चलता है। लेकिन भारत में अभी तक इस तरह का कोई अभिलेख नहीं मिला है।

भारत में आर्य भाषाभाषियों का आगमन 1500 ई.पू. से कुछ पहले हुआ। उनके आगमन का यथेष्ठ पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिलता है। शायद वे छेदवाली कुल्हाड़ियों, कांसे की कटारों और खड्गों का प्रयोग करते थे। ये हथियार पश्चिमोत्तर भारत में मिले हैं। मध्य एशिया में दक्षिण तजाकिस्तान और बगल में पाकिस्तान की स्वात (सुवास्तु) घाटी में घोड़े होने और शवदाह प्रथा के प्रचलन के पुरातात्विक साक्ष्य मिले हैं। इस प्रकार के साक्ष्य पाकिस्तान के पिराक क्षेत्र और उसकी गोमल (गोमती) घाटी में भी 1500 ई.पू. के लगभग मिलते हैं। याद रहें कि सुवास्तु और गोमती नदियों के उल्लेख ऋग्वेद में है। आरंभिक आर्यों का निवास पूर्वी अफगानिस्तान, पाकिस्तान और भारत के पंजाब तथा हरियाणा में था। **ऋग्वेद** में अफगानिस्तान की कुभा आदि कुछ नदियों का तथा सिंधु और उसकी पांच सहायक नदियों का नामोल्लेख है। सिंधु आर्यों की सबसे प्रमुख नदी है जिसका उन्होंने बार-बार उल्लेख किया है। उनके द्वारा उल्लिखित दूसरी नदी है सरस्वती, जिसे **नदीतम** अर्थात् सर्वश्रेष्ठ नदी कहा गया है। इसकी पहचान हरियाणा और राजस्थान में घग्घर तथा हाकरा के सूखे स्रोतों से की जाती है। परन्तु **ऋग्वेद** में की गई सरस्वती की चर्चा से यह लगता है कि यह अवेस्ता में उल्लिखित दक्षिण अफगानिस्तान में हरख्वति (आधुनिक हेलमंद), नदी है। संभवतः, आर्य लोग ताँबा राजस्थान की खेत्री खानों से प्राप्त करते थे। आर्य लोग जहाँ प्रथमतः बसे वह सारा प्रदेश सप्तसिंधु (सात नदियों का देश) नाम से प्रसिद्ध हुआ पर इसमें अफगानिस्तान का भाग भी पड़ता था।

भारत में आर्य लोग कई खेपों में आए। सबसे पहले की खेप में जो आए वे हैं ऋग्वैदिक आर्य, जो इस उपमहादेश में 1500 ई.पू. के आसपास दिखाई देते हैं। उनका **दास, दस्यु** आदि नाम के स्थानीय जनों से संघर्ष हुआ। चूँकि दास जनों का उल्लेख प्राचीन ईरानी साहित्य में भी मिलता है, इसलिए प्रतीत होता है कि वे पूर्ववर्ती आर्यों की ही एक शाखा में पड़ते थे। ऋग्वेद में कहा गया है कि भरत वंश के राजा दिवोदास ने शंबर को हराया। यहाँ **दास** शब्द दिवोदास के नाम में लगता है। **ऋग्वेद** में जो दस्यु कहे गए हैं वे संभवतः इस देश के मूलवासी थे और आर्यों के जिस राजा ने उन्हें पराजित किया वह त्रसदस्यु कहलाया। वह राजा दासों के प्रति तो कोमल था, पर दस्युओं का परम शत्रु था। **ऋग्वेद** में **दस्युहत्या** शब्द का बार-बार उल्लेख मिलता है, पर दासहत्या का नहीं। दस्यु लोग शायद लिंगपूजक थे और दूध के लिए पशुपालन नहीं करते थे।

जनजातीय संघर्ष

हम यह तो नहीं जानते कि आर्यों के शत्रुओं के हथियार कैसे थे, पर यह ज्ञात होता है कि इंद्र ने आर्यों के शत्रुओं को बार-बार पराजित किया। ऋग्वेद में इंद्र को पुरंदर कहा गया है जिसका अर्थ है दुर्गों को तोड़ने वाला। लेकिन आर्य-पूर्व जनों के इन दुर्गों का हमें कोई पता नहीं है। हो सकता है, इनमें कुछ दुर्ग अफगानिस्तान में रहे हों। आर्य लोग हर जगह जीतते गए क्योंकि उनके पास अश्वचालित रथ थे और उन्होंने पश्चिम एशिया और भारत में पहले-पहल इन रथों को प्रचलित किया। आर्य-सैनिकों के पास शायद कवच (वर्मन्) और अन्य अच्छे अस्त्र भी थे।

वैदिक आर्यों को दो तरह के संघर्षों का सामना करना पड़ा : एक ओर उनकी आर्य-पूर्व जनों से लड़ाई हुई तो दूसरी ओर अपने ही लोगों के बीच। आंतरिक जनजातीय संघर्षों से आर्य-समुदाय दीर्घ काल तक जर्जर रहे। परंपरानुसार तो आर्यों के पाँच कबीले, अर्थात् जन थे, जिनका समुदाय पंचजन कहलाता था, लेकिन और भी जन रहे होंगे। ये जन आपस में लड़ते थे और कभी-कभी इसके लिए आर्येतर जनों का भी सहारा लेते थे। (भरत और त्रित्सु आर्यों के शासक वंश थे; और पुरोहित वसिष्ठ दोनों वंशों के समर्थक थे।) बाद में चलकर इस देश का नाम इसी भरत कुल के आधार पर भारतवर्ष पड़ा। इस कुल या कबीले का उल्लेख सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है। भरत राजवंश का दस राजाओं के साथ विरोध था जिनमें पाँच आर्य-जनों के प्रधान थे और शेष आर्येतर जनों के। भरत और दस राजाओं के बीच जो लड़ाई हुई वह दाशराज्ञ युद्ध (दस राजाओं के बीच लड़ाई) के रूप में विदित हैं। यह युद्ध परुष्णी नदी के तट पर हुआ, जिसकी पहचान आज की रावी नदी से की जाती है। इसमें सुदास् की जीत हुई और इस प्रकार भरतों की प्रभुता कायम हुई। पराजित जनों में पुरुजन सबसे महान थे। कालांतर में भरतों और पुरुओं के बीच मैत्री हो गई और दोनों ने मिलकर नया शासक कुल बनाया जो कुरु के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर कुरु जनों ने पंचालों के साथ मिल कर उच्च गंगा मैदान में अपना संयुक्त राज्य स्थापित किया। यहाँ कुरु-पंचालों ने उत्तर वैदिक काल में बड़ा महत्त्व प्राप्त किया।

भौतिक जीवन

ऋग्वैदिक आर्यों के भौतिक जीवन के बारे में कुछ आभास मिलता है। भारत में उनकी सफलता के कारण थे घोड़े, रथ और संभवत: काँसे के कुछ बेहतर हथियार भी, जिनके बारे में हमें पुरातात्विक प्रमाण नाममात्र के मिले हैं। संभवत: उन्होंने आरावाला पहिया भी चलाया जो सबसे पहले कौकेसस क्षेत्र में 2300 ई.पू. में प्रयोग में लाया गया। जब वे इस उपमहादेश के पश्चिमी भाग में बसे तब उन्हें राजस्थान की खेत्री खानों से ताँबा मिलता रहा होगा। ऋग्वैदिक लोगों को खेती की बेहतर जानकारी थी। ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग में फाल का उल्लेख मिलता है, हालाँकि कुछ विद्वान इसे प्रक्षिप्त पाठ मानते हैं। शायद वह फाल लकड़ी की रही होगी। उन्हें बोवाई, कटाई और दावनी का ज्ञान था। विभिन्न ऋतुओं के बारे में भी उन्हें जानकारी थी। जहाँ वैदिक जन बसे थे उन प्रदेशों के आर्य-पूर्व जनों को भी खेती का अच्छा ज्ञान था। पर खेती का

उपयोग शायद चारा पैदा करने के लिए अधिक हुआ।

ऋग्वेद में गाय और सांड की इतनी चर्चा है कि ऋग्वैदिक आर्यों को मुख्य रूप से पशुचारक कहा जा सकता है। उनकी अधिकाँश लड़ाइयाँ गाय को लेकर हुई हैं। ऋग्वेद में युद्ध का पर्याय गविष्टि (गाय का अन्वेषण) है। गाय सबसे उत्तम धन मानी जाती थी। जहाँ-कहीं पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा की बात आई है उसमें आम तौर से गायें और दासियाँ होतीं और भूमि कभी न होती। ऋग्वैदिक लोग गाय चराने, खेती करने और बसने के लिए जमीन पर कब्जा करते होंगे, परंतु भूमि निजी संपत्ति नहीं होती थी।

ऋग्वेद में बढ़ई, रथकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्हार आदि शिल्पियों के उल्लेख मिलते हैं। इससे पता चलता है कि आर्य लोगों में इन सभी शिल्पों का प्रचलन था। ताँबे या काँसे के अर्थ में 'अयस्' शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है कि उन्हें धातुकर्म की जानकारी थी। परंतु नियमित व्यापार के होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। आर्यजन या वैदिक जन का अधिक संबंध स्थल मार्ग से था क्योंकि ऋग्वेद में उल्लिखित समुद्र शब्द मुख्यत: जलराशि का वाचक है। जो भी हो आर्य लोग शहरों में नहीं रहते थे, संभवत: वे किसी-न-किसी तरह का गढ़ बनाकर मिट्टी के घरवाले गांवों में रहते थे। और पुरातत्ववेत्ताओं को अभी तक ऐसी गढ़ वाली बस्तियों का पता नहीं लगा है। वे पहाड़ों में स्थित गुफाओं से भी परिचित थे।

हाल में हरियाणा में भगवानपुरा नामक स्थल की और पंजाब में तीन स्थलों की खुदाई हुई है, और इन सभी जगह उत्तरकालीन हड़प्पा मृद्भांडों के साथ चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.) पाए गए हैं। भगवानपुरा में प्राप्त वस्तुओं की तिथि 1600 ई.पू. से 1000 ई. पू. तक रखी गई है और यही मोटे तौर पर ऋग्वेद का काल भी है। इन चार स्थलों का भौगोलिक क्षेत्र भी वही है जो ऋग्वेद के पर्याप्त अंश में मिलता है, यद्यपि इन सभी स्थलों में चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी. डब्ल्यू.) मिले हैं, फिर भी लोहे की वस्तु और अनाज का पता नहीं है। इसलिए हम ऋग्वैदिक अवस्था के समान काल में चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति (पी.जी.डब्ल्यू.) के अंतर्गत लौह-पूर्व अवस्था की कल्पना कर सकते हैं। यह बात रोचक है कि भगवानपुरा में तेरह कमरों वाला एक मिट्टी का घर प्रकाश में आया है। इसका कालनिर्धारण पक्का नहीं है। या तो यह किसी बहुत बड़े परिवार का निवासगृह होगा या कबीला-सरदार का आवास। इन सभी स्थलों पर गोरूओं की हड्डियाँ भारी तादाद में मिली हैं और भगवानपुरा में घोड़ों की भी हड्डियाँ मिली हैं।

जनजातीय राज्यव्यवस्था

ऋग्वैदिक काल में आर्यों का प्रशासन-तन्त्र कबीले के प्रधान के हाथों चलता था, क्योंकि वही युद्ध का सफल नेतृत्व करता था।

वह राजन् (अर्थात् राजा) कहलाता था। प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में राजा का पद आनुवंशिक हो चुका था। राजा एक प्रकार का सरदार था उसके हाथ में असीमित अधिकार नहीं रहता था, क्योंकि उसे कबायली संघटनों से सलाह लेनी पड़ती थी। हमें इस बात का भी आभास मिला है कि कबीले की आम सभा, जो समिति कहलाती थी, अपने राजा को चुनती थी। राजा को अपने कबीले का रक्षक कहा जाता था। वह

कबीले के मवेशी की रक्षा करता था, युद्ध में लड़ता था, और उसकी ओर से देवताओं की प्रार्थना करता था।

ऋग्वेद में कबीलों या कुलों के आधार पर बने बहुत-से संघटनों के उल्लेख मिलते हैं, जैसे **सभा, समिति, विदथ, गण**। ये संघटन विचार-विमर्श करते थे, तथा सैनिक और धार्मिक कार्य देखते थे। ऋग्वैदिक काल में स्त्रियाँ भी **सभा** और **विदथ** में भाग लेती थीं। **सभा** और **समिति** ये दोनों संघटन इतने महत्त्वपूर्ण थे कि प्रधान या राजा भी समर्थन के लिए इनका मुँह जोहते रहते थे।

दैनिक प्रशासन में कुछ अधिकारी राजा की सहायता करते थे। सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी **पुरोहित** होता था। ऋग्वेद-काल में वसिष्ठ और विश्वामित्र दो महान् पुरोहित हुए। वसिष्ठ रूढिवादी थे और विश्वामित्र उदार। लोगों को आर्य बनाने के लिए विश्वामित्र ने गायत्री मंत्र की रचना की। पुरोहित राजा को कर्त्तव्य का उपदेश देते थे, उनका गुणगान करते थे, और बदले में गायों और दासियों के रूप में प्रचुर दान-दक्षिणा पाते थे। पुरोहित के बाद शायद सेनानी का स्थान था जो भाला, कुठार, तलवार आदि शस्त्र चलाना जानता था। हमें ऐसे किसी अधिकारी का पता नहीं चलता जो कर वसूलता हो। संभवतः प्रजा स्वयं राजा को उसका अंश स्वेच्छा से दे देती थी. इस अंश का नाम बलि (अर्थात् चढ़ावा) था। युद्ध में प्राप्त भेंट और लूट की वस्तुएँ वैदिक सभा में बाँट दी जाती थीं। ऋग्वेद में किसी तरह के न्यायाधिकारी का उल्लेख नहीं है। लेकिन वह कोई आदर्श समाज नहीं था कि जहाँ इसकी जरूरत न रही हो। चोरी और सेंधमारी होती थी, और गायों की चोरी तो विशेष रूप से होती थी। ऐसी समाजविरोधी हरकतों को रोकने के लिए गुप्तचर रखे जाते थे।

अधिकारियों के पदनामों से नहीं लगता है कि वे भूभाग पर शासन करते थे। फिर भी लगता है कि कुछ अधिकारी क्षेत्रों से जुड़े थे। चरागाहों और आबाद गाँवों पर उनके विशेष अधिकार थे। चरागाह या बड़े जत्थे का प्रधान **व्राजपति** कहलाता था। वही परिवारों के प्रधानों को, जो **कुलपा** कहलाते थे, अथवा लड़ाकू दलों के प्रधानों को, जो **ग्रामणी** कहलाते थे, साथ करके युद्ध में ले जाता था। आरंभ में **ग्रामणी** छोटी-सी कबायली लड़ाकू टोली का मुखिया होता था। पर बाद में जब ऐसी टोली स्थिरवासी हो गई तब ग्रामणी सारे गाँव का मुखिया हो गया. और कालांतर में वही **व्राजपति** बन गया।

राजा कोई नियमित या स्थायी सेना नहीं रखता था, लेकिन युद्ध के समय स्वजनों की सेना (मिलिशिया) संगठित कर लेता था। **व्रात, गण, ग्राम** और **सर्ध** नाम से विदित विभिन्न कबायली टोलियाँ लड़ाई लड़ती थीं। कुल मिलाकर यह कबायली ढंग का शासन था जिसमें सैनिक तत्व प्रबल होता था। नागरिक शासन या प्रादेशिक प्रशासन जम नहीं पा रहा था क्योंकि लोग निरंतर स्थान बदलते और फैलते जाते थे।

कबीला और परिवार

सामाजिक संगठन का आधार गोत्र या जन्ममूलक संबंध था। जैसा कि कई ऋग्वैदिक राजाओं के नामों से ज्ञात होता है, व्यक्ति की पहचान् उसके

कुल या गोत्र से होती थी। लोगों की सबसे अधिक आस्था अपने-अपने कबीले के प्रति रहती थी, जिसे जन कहा जाता था। एक पुरानी ऋचा में दो जनों की संयुक्त युद्ध-क्षमता इक्कीस बताई गई है। इससे लक्षित होता है कि किसी जन में सदस्यों की संख्या कुल मिलाकर 100 से अधिक नहीं रहती होगी। ऋग्वेद में जन शब्द का उल्लेख लगभग 275 बार हुआ है, पर **जनपद** (अर्थात् राज्यक्षेत्र) शब्द एक बार भी नहीं आया है। लोग कबीले के अंग थे, क्योंकि उन दिनों राज्यक्षेत्र या राज्य स्थापित नहीं हो पाया था।

ऋग्वेद में दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द जो **कबीले** के अर्थ में मिलता है वह है **विश्**। इसका अनुवाद गोत्र या क्लैन भी किया जा सकता है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख 170 बार हुआ है। संभवतः विश् को लड़ाई के उद्देश्य से ग्राम नामक टोलियों में बाँटा गया था। उस समय ग्राम से स्वजनों के छोटे समूह का बोध होता था। जब ये **ग्राम** आपस में टकरा जाते थे तो **संग्राम** या युद्ध हो जाता था। वैश्य नामक बहुसंख्यक वर्ण का उदय इसी विश् या कबायली जनसमूह से हुआ है।

ऋग्वेद में परिवार वाचक कुल शब्द का प्रयोग विरल है। इसमें केवल माता, पिता, पुत्र, दास आदि ही नहीं आते थे, बल्कि और भी लोग आते थे। प्रतीत होता है कि आरंभिक वैदिक अवस्था में परिवार के अर्थ में गृह शब्द था, जो **ऋग्वेद** में बार-बार आया है। प्राचीनतम हिन्द-यूरोपीय भाषाओं में पोते, नाती, भांजे, भतीजे आदि सब के लिए एक ही शब्द था। इसका अर्थ हुआ कि पृथक् कुटुंबों की स्थापना की दिशा में पारिवारिक संबंधों का विभेदीकरण बहुत अधिक नहीं हुआ था और कुटुंब एक बड़ी सम्मिलित इकाई था। रोमन समाज की तरह यह पितृतंत्रात्मक परिवार था जिसमें पिता मुखिया होता था। जान पड़ता है कि परिवार की अनेक पीढ़ियाँ एक घर में साथ-साथ रहती थीं। निरंतर युद्ध में लगे पितृतंत्रात्मक समाज में लोग हमेशा वीर पुत्रों की प्राप्ति के लिए देवता से प्रार्थना करते रहते थे। **ऋग्वेद** में बेटी के लिए कामना कहीं व्यक्त नहीं की गई है, जब कि प्रजा (संतान) और पशु की कामना सूक्तों में बार-बार आई है।

स्त्रियाँ सभा-समितियों में भाग ले सकती थीं। वे पतियों के साथ यज्ञों में आहुतियाँ दे सकती थीं। सूक्तों की रचना करने वाली पाँच महिलाएँ ज्ञात हैं। बाद के ग्रंथों में तो ऐसी 20 स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं। निःसंदेह, सूक्तों की रचना मौखिक होती थी, और उस काल का कोई लेख नहीं मिला है।

विवाह संस्था कायम हो चुकी थी, यद्यपि कुछ आदिम प्रथाओं के अवशेष का भी आभास मिलता है। जुड़वाँ भाई-बहन यम और यमी की कहानी हमें मालूम है। यमी ने यम से विवाह का प्रस्ताव रखा, यम ने अस्वीकार कर दिया। बहुपति-प्रथा के भी कुछ संकेत मिले हैं। उदाहरणार्थ, मरुतों ने रोदसी को मिलकर भोगा और सूर्य की पुत्री सूर्या दोनों भाई अश्विन् के साथ रहती थी। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत नहीं हैं। शायद ये मातृतंत्रात्मक स्थिति के द्योतक अवशेष हैं; और हम माता के नाम पर पुत्रों का नामकरण भी पाते हैं, जैसे मामतेय।

ऋग्वेद में नियोग-प्रथा और विधवा-विवाह के प्रचलन का भी आभास मिलता है। बाल-विवाह का कोई उदाहरण नहीं है। जान पड़ता है ऋग्वैदिक

...से सोलह-सत्रह वर्ष की आयु में विवाह होता था।

सामाजिक वर्गीकरण

ऋग्वेद में हमें 1500-1000 ई.पू. आस-पास के पश्चिमोत्तर भारत के लोगों के शारीरिक रूप-रंग की चेतना का कुछ आभास मिलता है। वर्ण शब्द का प्रयोग रंग के अर्थ में होता था, और प्रतीत होता है कि आर्य भाषाभाषी गौर वर्ण के थे और मूलवासी लोग काले रंग के। हो सकता है, सामाजिक वर्ग-विन्यास में रंग को परिचायक चिह्न बनाया गया हो, लेकिन रंगभेददर्शी पश्चिमी लेखकों ने रंग की धारणा को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। वास्तव में समाज में वर्गों के सृजन का सबसे बड़ा कारण हुआ प्राचीन वासियों पर आर्यों का आधिपत्य। आर्यों द्वारा जीते गए दास और दस्यु जनों के लोग दास (गुलाम) और शूद्र हो गए। ऋग्वेद में आर्य वर्ण और दास वर्ण का उल्लेख है। जीती गई वस्तुओं में कबीले के सरदारों और पुरोहितों को अधिक हिस्सा मिलता था और स्वभावतः वे अपने गोतियों और भाई-बन्धुओं को वंचित करते हुए अधिकाधिक संपन्न होते गए; इससे कबीले में सामाजिक असमानता का सृजन हुआ। धीरे-धीरे कबायली समाज तीन वर्गों में बंट गया- योद्धा, पुरोहित और सामान्य लोग (प्रजा)। इसी तरह का विभाजन ईरान में भी हुआ था। चौथा वर्ग, जो शूद्र कहलाता था, ऋग्वेद काल के अंत में दिखाई पड़ता है, क्योंकि इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के दशम मंडल में है, जो सबसे बाद में जोड़ा गया है।

पुरोहितों को दक्षिणा में दास दिए जाने की बात बार-बार आई है। मुख्य रूप से दासियाँ दी जाती थीं जिनसे घरेलू काम कराया जाता था। यह साफ जाहिर होता है कि ऋग्वेद-काल में दास प्रत्यक्षतः खेती के काम में या अन्य उत्पादनात्मक कार्य में नहीं लगाए जाते थे।

ऋग्वेद के युग में ही व्यवसाय के आधार पर समाज में विभेदीकरण आरंभ हुआ। किंतु उन दिनों यह विभेदीकरण बहुत कड़ा नहीं हुआ था। ऋग्वेद में किसी परिवार का एक सदस्य कहता है—"मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता चक्की चलाने वाली है, भिन्न-भिन्न व्यवसायों से जीविकोपार्जन करते हुए हम एक साथ रहते हैं...।" गायें, रथ, घोड़े, दास-दासियाँ आदि दान में दिए जाते थे। युद्ध में हाथ लगी संपत्ति का असमान वितरण होने के कारण समाज में असमानता आई और इससे सामान्य कबायली लोगों को वंचित करते हुए राजाओं और पुरोहितों को आगे बढ़ने में सहायता मिली। लेकिन चूँकि मुख्य आर्थिक आधार पशुचारण था इसलिए प्रजा से नियमपूर्वक कर (राजस्व) वसूलने की गुंजाइश बहुत कम थी। हमें दान में भूमि मिलने का उल्लेख नहीं मिलता है, और अन्नदान का भी विरल वर्णन ही मिलता है, और हम दास-दासियाँ पाते हैं, लेकिन मज़दूर (अर्थात मज़दूरी पर खटने वाले श्रमिक) नहीं देखते हैं। समाज में कबायली तत्व प्रबल थे, तथा कर-संग्रह और भूमि-संपदा के स्वामित्व पर आश्रित सामाजिक वर्गीकरण नहीं हुआ था। समाज अब भी कबायली और बहुत कुछ समतानिष्ठ था।

ऋग्वैदिक देवता

हर समुदाय को अपना धर्म का आलोक अपने ही परिवेश में मिलता है। वर्षा का होना, सूर्य और चंद्र का उदय, नदी-पर्वत आदि का अस्तित्व, ये सब बातें वैदिक लोगों के लिए पहेली जैसी थीं। अतः उन लोगों ने इन प्राकृतिक शक्तियों को अपने मन में वैदिक रूप देकर इन्हें प्राणियों के रूप में देखा और इनमें मानव और पशु के गुण आरोपित किए। ऐसे बहुत से देवताओं के दर्शन हमें ऋग्वेद में मिलते हैं, जिसमें इन देवताओं की स्तुति में विभिन्न ऋषियों के रचे सूक्त भरे पड़े हैं। ऋग्वेद में सबसे अधिक प्रतापी देवता इंद्र है, जिन्हें पुरंदर अर्थात् किले को तोड़ने वाला कहा गया है। इंद्र आर्यों के युद्ध नेता के रूप में चित्रित है, जिसने असुरों से लड़ने में आर्य-सैनिकों का नेतृत्व किया और उन्हें विजय दिलाई। इंद्र पर 250 सूक्त हैं। वह बादल का देवता माना गया है जो वर्षा देता है। अग्नि का दूसरा स्थान है। उस पर 200 सूक्त हैं। आदिम अवस्था के लोगों में अग्नि की भूमिका बड़े महत्त्व की रही, क्योंकि इससे वे जंगलों को जलाना, खाना पकाना आदि काम लेते थे। अग्नि की उपासना न केवल भारत में, अपितु ईरान में भी जागृत रही है। वैदिक काल में अग्नि ने देवताओं और मानवों के बीच मध्यस्थ का काम किया है। समझा जाता था कि अग्नि में डाली जाने वाली आहुतियाँ धुआँ बनकर आकाश में जाती हैं और अंततः देवताओं को मिल जाती हैं। तीसरा स्थान वरुण का है जो जल या समुद्र का देवता माना गया है। उसे ऋतु अर्थात् प्राकृतिक संतुलन का रक्षक कहा गया है और समझा जाता था कि जगत में जो भी व्यवस्था होती है वह उसी की इच्छा का परिणाम है। सोम [illegible] देवों का अधिपति माना गया है और [illegible] इस का नाम उसी के नाम पर पड़ा है। ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों में एक प्रकार के पौधे से, जिसकी पहचान अभी तक पक्की नहीं हो पाई है, सोमरस बनाने की विधि बताई गई है। मरुत् आँधी के देवता हैं। इस प्रकार हमें इसमें ऐसे बहुत सारे देवताओं के उल्लेख मिलते हैं जो किसी-न-किसी रूप में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतिरूप हैं और साथ ही मानवोचित व्यवहार भी करते हैं।

देवताओं में कुछ देवियाँ भी हैं, जैसे अदिति और उषा, जो प्रभात समय के प्रतिरूप हैं। किंतु ऋग्वेद-काल में देवियों की प्रमुखता नहीं थी। उस काल के पितृतंत्रात्मक समाज में देवों का बोलबाला देवियों से कहीं अधिक था।

देवताओं की उपासना की मुख्य रीति थी स्तुतिपाठ करना और यज्ञ-बलि (चढ़ावा) अर्पित करना। ऋग्वैदिक काल में स्तुतिपाठ पर अधिक जोर था। स्तुतिपाठ सामूहिक भी होता था और अलग-अलग भी। सामान्यतः हर कबीले या गोत्र का अपना अलग देवता होता था। लगता है कि स्तुतिपाठ कबीले या गोत्र भर के लोग समवेत स्वर में करते थे। यज्ञाहुतियों में भी यही बात होती थी। इंद्र और अग्नि समस्त जन द्वारा दी गई बलि ग्रहण करने के लिए आहूत होते थे। बलि या यज्ञाहुति में शाक, जौ आदि वस्तुएँ दी जाती थीं। परंतु ऋग्वैदिक काल में ये वस्तुएँ चढ़ाते समय कोई आनुष्ठानिक या याज्ञिक मंत्र नहीं पढ़े जाते थे। उन दिनों शब्द में

किसी जादुई असर का होना उतना नहीं माना जाता था जितना उत्तर वैदिक काल में माना जाने लगा। ऋग्वैदिक काल के लोग देवाराधना क्यों करते थे? वे लोग आध्यात्मिक उत्थान या जन्म-मृत्यु के कष्टों से मुक्ति के लिए ऐसा नहीं करते थे। वे अपने देवताओं से संतति, पशु, अन्न, धान्य, आरोग्य आदि पाने की कामना से उनकी उपासना करते थे।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :
   मंडल, दास, दस्यु, पञ्चजन, जन, गविष्टि, राजन्, सभा, समिति, ग्रामणी, विश्, पितृतंत्रात्मक।
2. आर्य शब्द के विविध प्रयोगों की खोज करें।
   जब इसका प्रयोग 1500 ई. पू. के आसपास भारत में आ बसने वाले जन-समूहों के लिए किया जाता है तब इसका अर्थ क्या होता है?
3. ऋग्वैदिक लोगों के भौतिक जीवन का चित्रण करें। क्या उन लोगों को कृषक जन कहना ठीक होगा? विवेचन करें।
4. ऋग्वैदिक युग की राजनैतिक पद्धति का वर्णन करें। उसके जनजातीय स्वरूप का निरूपण करें।
5. ऋग्वैदिक लोग किन-किन देवों को और क्यों पूजते थें? उनकी उपासना-विधि का वर्णन करें।
6. ऋग्वैदिक लोगों के सामाजिक संघटन और पारिवारिक व्यवस्था का वर्णन करें।
7. इस अध्याय में जिन लोगों का विवेचन हुआ है वे ऋग्वैदिक लोग क्यों कहलाते थे?

अध्याय 9

उत्तर वैदिक अवस्था : राज्य और वर्ण-व्यवस्था की ओर

उत्तर वैदिक काल (1000 - 600 ई. पू.) में आर्यों का विस्तार

उत्तर वैदिक काल का इतिहास मुख्यत: उन वैदिक ग्रंथों पर आधारित है जिनकी रचना ऋग्वैदिक काल के बाद हुई। वैदिक सूक्तों या मंत्रों के संग्रह को **संहिता** कहते हैं। **ऋग्वेद संहिता** सबसे पुराना वैदिक ग्रंथ है। इसी के आधार पर हमने आरंभिक वैदिक युग का वर्णन किया है। गाने के लिए ऋग्वैदिक सूक्तों को चुनकर धुन में बाँधा गया, और इस पुनर्विन्यस्त संकलन का नाम **सामवेद संहिता** पड़ा। ऋग्वेदोत्तर काल में सामवेद के अतिरिक्त और दो संकलन तैयार किए गए। वे हैं– **यजुर्वेद संहिता** और **अथर्ववेद संहिता**। यजुर्वेद में केवल ऋचाएँ ही नहीं, उन्हें गाते समय किए जाने वाले अनुष्ठान भी दिए गए हैं। इन अनुष्ठानों से उस सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति का परिचय मिलता है जिस में इन अनुष्ठानों का उद्भव हुआ। **अथर्ववेद** में विपत्तियों और व्याधियों के निवारण के लिए तंत्र-मंत्र संगृहीत हैं। इसमें आए तथ्यों से आर्येतर लोगों के विश्वासों और रूढ़ियों का पता लगता है। वैदिक संहिताओं के बाद कई ग्रंथ लिखे गए जिन्हें **ब्राह्मण** कहते हैं। इनमें वैदिक अनुष्ठान की विधियाँ संगृहीत हैं और उन अनुष्ठानों की सामाजिक एवं धार्मिक व्याख्या भी की गई हैं। ये सभी उत्तरकालीन वैदिक ग्रंथ लगभग 1000-500 ई. पू. में उत्तरी गंगा के मैदान में रचे गए। उत्खनन और अनुसंधान के फलस्वरूप, इसी काल और इसी क्षेत्र के लगभग

चित्रित धूसर मृद्भांड

700 स्थल प्रकाश में आए हैं, जहाँ सबसे पहले बस्तियाँ कायम हुई थीं। इन्हें चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी. डब्ल्यू अर्थात पेन्टेड ग्रे वेअर) स्थल कहते हैं, क्योंकि यहाँ के निवासी मिट्टी के चित्रित और भूरे रंग के कटोरों और थालियों का प्रयोग करते थे। वे लोहे के हथियारों का भी प्रयोग करते थे। उत्तरकालीन वैदिक ग्रंथ और चित्रित धूसर मृद्भांड लौह अवस्था के पुरातत्व, इन दोनों के संयुक्त साक्ष्य से हमें आभास मिलता है कि ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में पश्चिमी उत्तर प्रदेश में और पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान के संलग्न क्षेत्रों में बसने वाले लोगों का जीवन कैसा था।

उक्त ग्रंथों से प्रकट होता है कि पंजाब से आर्यजन गंगा-यमुना दोआब के अंतर्गत संपूर्ण पश्चिमी उत्तर प्रदेश में फैल गए थे। दो प्रमुख कबीले भरत और पुरु एक होकर कुरु नाम से विदित हुए। आरंभ में वे लोग दोआब के ठीक छोर पर सरस्वती और दृषद्वती नदियों के प्रदेश में बसे। शीघ्र ही कुरुओं ने दिल्ली क्षेत्र और दोआब के ऊपरी भाग पर अधिकार कर लिया, जो कुरुक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। धीरे-धीरे वे पंचालों से भी मिल गए जो दोआब के मध्य भाग पर काबिज थे। इस प्रकार कुरु-पंचालों की सत्ता दिल्ली क्षेत्र पर और दोआब के ऊपरी भाग और मध्य भागों पर फैल गई। तब उन्होंने हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाया जो मेरठ जिले में पड़ता है। कुरु कुल का इतिहास भारत-युद्ध को लेकर मशहूर है जिस पर महाभारत नाम का विख्यात महाकाव्य है। यह माना जाता है कि भारत युद्ध 950 ई.पू के आस-पास कौरवों और पांडवों के बीच हुआ था, हालांकि ये दोनों कुरु कुल के ही थे। इस युद्ध के फलस्वरूप वस्तुतः सारे कुरुवंशियों का नाश हो गया।

हस्तिनापुर में मिली सामग्रियों से, जिनकी तिथि 900 ई.पू. से 500 ई.पू. की अवधि आँकी जा सकती है, वहाँ की बस्तियों का और नगर जीवन के धुंधले आरंभ का पता चलता है। किंतु महाभारत में हस्तिनापुर का जो वर्णन है उससे इसका कोई भी मेल नहीं है, क्योंकि इस महाकाव्य की रचना बहुत बाद में ईसा की चौथी सदी के आसपास हुई है, जब भौतिक जीवन में काफी उन्नति हो चुकी थी। उत्तर वैदिक काल में लोग पकाई हुई ईंट का प्रयोग शायद ही जानते थे। हस्तिनापुर की खुदाई में जो कच्ची संरचनाएँ मिली हैं वे न भव्य ही कही जा सकती हैं, और न टिकाऊ ही। प्राचीन कथाओं के अनुसार हम जानते हैं कि हस्तिनापुर बाढ़ में बह गया और कुरुवंश में जो जीवित रहे वे इलाहाबाद के पास कौशांबी जाकर बस गए।

आज के बरेली, बदायूं और फर्रूखाबाद जिलों में फैला पंचाल राज्य उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित अपने दार्शनिक राजाओं और तत्वज्ञानी ब्राह्मणों को लेकर विख्यात था।

उत्तर वैदिक काल का अंत होते-होते 600 ई. पू. के आसपास वैदिक लोग दोआब से पूरब की ओर पूर्वी उत्तर प्रदेश के कोसल और उत्तरी बिहार के विदेह में फैले। यद्यपि कोसल राम की कथा से जुड़ा है, फिर भी वैदिक साहित्य में रामकथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इस वैदिक लोगों का पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार में ऐसे लोगों से सम्पर्क हुआ जो ताँबे के औजारों और काले-व-लाल मृद्भांडों का प्रयोग

अतरंजीखेड़ा में चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.) स्तर से प्राप्त लोह सामग्रियाँ

करते थे। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इनका सामना संभवतः उन लोगों से हुआ जो ताँबे के औजारों और गेरुवे या लाल रंग के मृद्भांडों का प्रयोग करते थे। उन्हें संभवतः ऐसे लोगों की भी बस्तियां जहाँ-तहाँ मिलीं जो काले-व-लाल मृद्भांडों का प्रयोग करते थे। कहा जाता है कि कुछ स्थानों पर उनका मुकाबला उत्तर हड़प्पाई संस्कृति को अपनाने वाले लोगों से भी हुआ; परंतु लगता है कि ये लोग मिश्रित संस्कृति वाले थे, जिस संस्कृति को शुद्ध हड़प्पाई नहीं कह सकते हैं। उत्तर वैदिक लोगों के शत्रु चाहे जो भी रहे हों उनका किसी भी बड़े और संलग्न क्षेत्र पर जमाव नहीं था और उत्तरी गंगा मैदान में उनकी संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी। विस्तार के दूसरे दौर में वैदिक लोग इसलिए सफल हुए कि उनके पास लोहे के हथियार और अश्वचालित रथ थे।

चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.) -लौहावस्था संस्कृति और उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था

लगभग 1000 ई.पू. में लोहा कर्नाटक के धारवार जिले में मिलता है। यह स्पष्ट नहीं है कि वहाँ से यह कैसे फैला। पर उसी समय से पाकिस्तान के गंधार क्षेत्र में लोहे का प्रयोग होने लगा। मृतकों के साथ कब्रों में गाड़े गए लोहे के औजार भारी मात्रा में खुदाई से निकले हैं। ऐसे औजार बलूचिस्तान में भी मिले हैं। लगभग इसी काल में पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश में भी लोहे का प्रयोग पाया गया है। खुदाई से ज्ञात होता है कि तीर के नोक, बरछे के फाल आदि लौहास्त्रों का प्रयोग लगभग 800 ई. पू. से पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आम तौर से होने लगा था। लोहे के इन हथियारों से वैदिक लोगों ने ऊपरी दोआब में सामने आए अपने बचे-खुचे शत्रुओं को परास्त कर दिया होगा। ऊपरी गंगा के मैदानों के जंगलों को साफ करने में लोहे की कुल्हाड़ी से काम किया गया होगा, हालाँकि वर्षा केवल 35 सेंटीमीटर से 65 सें. मी. तक होने के कारण ये जंगल ज्यादा घने नहीं रहे होंगे। वैदिक काल के अन्तिम दौर में लोहे का ज्ञान पूर्वी उत्तर

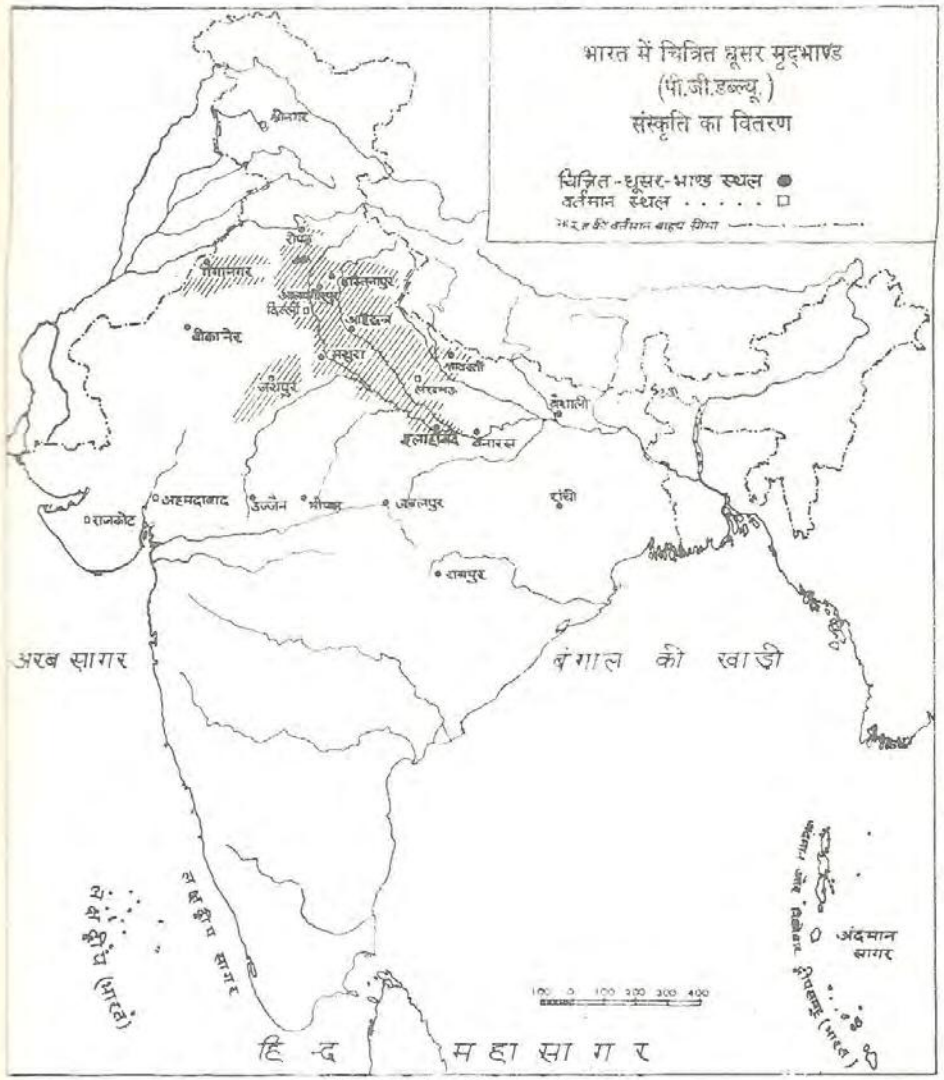

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

भारत में चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.

प्रदेश और विदेह में फैल गया था। इन प्रदेशों में जो सबसे पुराने लौहास्त्र पाए गए हैं वे ईसा पूर्व सातवीं सदी के हैं, और उत्तर वैदिक ग्रंथों में इस धातु को श्याम या कृष्ण अयस् कहा गया है।

यद्यपि लोहे के कृषि-औज़ार कम पाए गए हैं, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उत्तर वैदिक काल के लोगों की मुख्य जीविका खेती हो चली थी। वैदिकग्रंथों में छह, आठ, बारह और चौबीस तक बैल हल में जोते जाने की चर्चा है। इसमें कुछ अत्युक्ति हो सकती है। जुताई लकड़ी के फाल वाले हल से होती थी, जिसमें ऊपरी गंगा के मैदानों की हल्की मिट्टी में संभवत: काम लिया जा सकता था। यज्ञों में पशु-बलि के प्रचलन के कारण बैल पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं रहे होंगे। इसलिए खेती आरंभिक अवस्था में थी, किंतु इसके व्यापक प्रचलन में संदेह नहीं है। **शतपथ ब्राह्मण** में हल संबंधी अनुष्ठान का लंबा वर्णन आया है। कहा गया है कि सीता के पिता और विदेह के राजा जनक ने हल चलाया था। उन दिनों राजा और राजकुमार भी शारीरिक श्रम करने में हिचकिचाते नहीं थे। कृष्ण का भाई बलराम हलधर कहलाता था क्योंकि हल उसका हथियार था। उत्तर वैदिक काल में हल चलाना उच्च वर्णों के लिए वर्जित हो गया।

वैदिक काल के लोग जौ तो उपजाते ही रहे, पर इस काल में चावल और गेहूँ उनकी मुख्य फसलें हो गए। बाद में चलकर गेहूँ पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुख्य खाद्य हो गया। वैदिक लोगों का चावल से परिचय सबसे पहले दोआब में हुआ। वैदिक ग्रंथों में इसका नाम **व्रीहि** है। चावल का अवशेष जो हस्तिनापुर में मिला है वह ईसा-पूर्व आठवीं सदी का है। इसी समय के आसपास एटा जिले में स्थित अतरंजीखेड़ा में भी चावल मिला है। वैदिक अनुष्ठानों में चावल के प्रयोग का विधान है, पर गेहूँ के प्रयोग का कदाचित् ही। उत्तर वैदिक काल के लोग कई प्रकार के तेलहन भी पैदा करते थे।

उत्तर वैदिक काल में भी बहुत प्रकार की कलाओं और शिल्पों का उदय हुआ। हमें लुहारों और धातुकारों के बारे में जानकारी मिलती है; अवश्य ही वे लोग 1000 ई. पू. के आसपास से कुछ-न-कुछ लोहे का काम करते रहे होंगे। तांबे से उनका परिचय वैदिक काल के आरंभ से ही था। 1500 ई.पू. के पहले के तांबे के बहुत सारे औज़ार के ज़खीरे पश्चिमी उत्तर प्रदेश और बिहार में मिले हैं। उनसे प्रकट होता है कि वैदिकेतर समाज में भी ताम्रशिल्पी थे। वैदिक लोग संभवत: राजस्थान की खेत्री की तांबे की खानों का उपयोग करते थे। जो भी हो, वैदिक काल के लोगों ने जिन धातुओं का प्रयोग किया उनमें तांबा पहला रहा होगा। तांबे की वस्तुएँ चित्रित धूसर मृद्भांड स्थलों में पाई गई हैं। इन वस्तुओं का उपयोग मुख्यत: लड़ाई और शिकार तथा आभूषण के रूप में भी किया जाता था।

बुनाई केवल स्त्रियाँ करती थीं, किंतु यह काम बड़े पैमाने पर होता था। चमड़े, मिट्टी और लकड़ी के शिल्पों में भारी प्रगति हुई। उत्तर वैदिक काल के लोग चार प्रकार के मृद्भांडों से परिचित थे-काला-व-लाल मृद्भांड, काली पालिशदार मृद्भांड, चित्रित धूसर मृद्भांड और लाल मृद्भांड। इनमें अन्तिम प्रकार का मृद्भांड उनके बीच सबसे अधिक प्रचलित था और लगभग समूचे

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाया गया है। लेकिन चित्रित धूसर मृद्भांड उनके सर्वोपरि वैशिष्ट्य सूचक हैं। इनमें कटोरे और थालियाँ मिली हैं जिनका व्यवहार शायद उदीयमान उच्च वर्णों के लोग धार्मिक कृत्यों में या भोजन में या दोनों कामों में करते थे। चित्रित धूसर मृद्भांड वाले स्तरों में जो कांच की निधियाँ और चूड़ियाँ मिली हैं उनका उपयोग प्रतिष्ठावर्धक वस्तुओं के रूप में इने-गिने लोग ही करते होंगे। कुल मिलाकर वैदिक ग्रंथ और उत्खनन दोनों से शिल्प-वस्तुओं के विशेषीकृत उत्पादन का संकेत मिलता है। उत्तर वैदिक ग्रंथों में स्वर्णकारों या आभूषण निर्माताओं का भी उल्लेख है, जो संभवत: समाज के संपन्न वर्ग की आवश्यकता की पूर्ति करते होंगे।

खेती और विविध शिल्पों की बदौलत अब उत्तर वैदिक काल के लोग स्थायी जीवन अपनाने में समर्थ हो गए। उत्खननों और अनुसंधानों से हमें कुछ आभास मिलता है कि उत्तर वैदिक काल की बस्तियाँ कैसी थीं। चित्रित धूसर मृद्भांड स्थल न केवल कुरुपंचाल क्षेत्र अर्थात् पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में ही व्यापक रूप से फैले पाए गए हैं बल्कि मद्र क्षेत्र अर्थात पंजाब और हरियाणा के संलग्न भागों में और मत्स्य क्षेत्र अर्थात राजस्थान के संलग्न भागों में भी मिले हैं। इन स्थलों की संख्या कुल मिलाकर 700 के करीब हो सकती है जो अधिकतर ऊपरी गंगा घाटी में पड़ते हैं। इनमें इने-गिने स्थलों का ही उत्खनन हो पाया है, जैसे हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, जखेड़ा और नोह। चूँकि बस्ती के भौतिक अवशेषों का जमाव एक मीटर तक है, इसलिए मालूम पड़ता है कि ये बस्तियाँ एक से तीन सदियों तक टिकी रही होंगी। काफी स्थल नए वास के थे, जहाँ ठीक पहले कोई नहीं बसे थे। लोग कच्ची ईंटों के घरों में लकड़ी के खम्भों पर टिके टट्टी के घरों में रहते थे। उनके घर तो निम्न कोटि के हैं फिर भी उनके चूल्हों और अनाजों (धान) से प्रकट होता है कि चित्रित धूसर मृद्भांड काल के लोग, जो उत्तर वैदिक लोग ही हैं, कृषिजीवी और स्थिरवासी थे। लेकिन चूँकि किसान लोग सामान्यत: काठ के फाल वाले हल से खेती करते थे इसलिए वे इतना अन्न नहीं उपजा सकते थे कि खेती से भिन्न व्यवसायों में लगे लोगों की भी आवश्यकता पूरी कर सकें। अत: किसान नगरों के उदय में हाथ नहीं बंटा सके।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में नगर शब्द आया तो है पर उत्तर वैदिक काल के अन्तिम दौर में आकर हम नगरों के आरंभ का मंद आभास ही पाते हैं। हस्तिनापुर और कौशांबी (इलाहाबाद के पास) तो वैदिककाल के अंत के महज गर्भावस्था वाले नगर थे। इन्हें आद्य नगरीय स्थल (प्रोटो-अर्बन साइट) ही कहा जा सकता है। वैदिक ग्रंथों में समुद्र और समुद्रयात्रा की भी चर्चा है। इससे किसी-न-किसी तरह के वाणिज्य का संकेत मिलता है, जिसे नई-नई कलाओं और शिल्पों के उदय से बल मिला होगा।

कुल मिलाकर उत्तर वैदिक अवस्था में लोगों के भौतिक जीवन में भारी उन्नति हुई। पशुचारी और यायावरी जीवन-प्रणाली बहुत घट गई, खेती जीविका का मुख्य साधन हो गई और जीवन स्थायी तथा खूंटे में बंधा जैसा हो गया। विविध शिल्पों और कलाओं से लैस हो कर अब वैदिक लोग उत्तरी गंगा के मैदानों में स्थिर रूप से बस

गए। मैदानों में बसने वाले किसान अपने निर्वाह के लिए तो काफी अनाज पैदा कर ही लेते थे, अपनी उपज का कुछ हिस्सा अपने मुखियों, राजाओं और पुरोहितों के निर्वाह के लिए भी बचा लेते थे।

राजनीतिक संगठन

उत्तर वैदिक काल में ऋग्वैदिक जनता वाली सभा-समितियों के दिन लद गए और उनकी जगह पर राजकीय प्रभुत्व आ जमे। **विदथ** का नामोनिशान नहीं रहा। **सभा** और **समिति** अपनी जगह जीती तो रहीं, पर उनका रंग-ढंग बदल गया। उनमें राजाओं और अभिजात्यों का बोलबाला हो गया। अब सभा में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध हो गया और कुलिनों तथा ब्राह्मणों का प्राबल्य हो गया।

राज्यों की आकार-वृद्धि से मुखिया या राजा अधिकाधिक शक्तिशाली होता गया। सत्ता धीरे-धीरे जनजातीय से प्रादेशिक होती गई। राजा या सरदार कबीलों पर शासन करते थे और उनके प्रमुख कबीले के नाम पर प्रदेशों का नाम पड़ा, भले ही उस प्रदेश के भीतर प्रमुख कबीलों से भिन्न लोग भी बसते हों। आरंभ में हर प्रदेश का नाम वहाँ पर सबसे पहले बसने वाले कबीले के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उदाहरणार्थ, पहले पंचाल एक जन या कबीले का नाम था। बाद में यह प्रदेश विशेष का नाम हो गया। राष्ट्र शब्द, जिसका अर्थ प्रदेश या क्षेत्र होता है, पहले पहल इसी समय मिलने लगा है।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में संकेत मिलता है कि राज्य के प्रधान या राजा का निर्वाचन होता था। जो शारीरिक और अन्य गुणों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था वही राजा चुना जाता था। वह अपने सामान्य कुलजनों या अन्य जनों से, जो विश् कहलाते थे, स्वेच्छा से दी गई भेंट प्राप्त करता था, जो बलि अर्थात् चढ़ावा कहलाती थी। परंतु राजा ने भेंट प्राप्त करने की प्रथा को अपना अधिकार बना लिया। इस अधिकार और अपने पद की अन्य सुविधाओं को कायम रखने के उद्देश्य से उसने राजा के पद को आनुवंशिक (बपौती) बना लिया; इस प्रकार राजा का पद सामान्यत: उसके ज्येष्ठ पुत्र को मिलने लगा। लेकिन उत्तराधिकार का यह क्रम हमेशा निर्विघ्न रूप से नहीं चला। **महाभारत** में कहा गया है कि युधिष्ठिर के छोटे भाई दुर्योधन ने उनके राज्य का अपहरण कर लिया। राज्य की खातिर पांडवों और कौरवों के कुल का ही विनाश हो गया। इस युद्ध से स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता के आगे स्वजन कुछ नहीं हैं।

कर्मकांड के विधानों से राजा और भी प्रभावशाली बना दिया गया। राजा **राजसूय** यज्ञ करता था, जिससे यह समझा जाता था कि उसे दिव्य शक्ति मिल गई। वह **अश्वमेध** यज्ञ करता था। इस यज्ञ में राजा का छोड़ा गया घोड़ा जिन-जिन क्षेत्रों से बेरोक गुज़रता था उन सारे क्षेत्रों पर उस राजा का एकछत्र राज्य माना जाता था। वह **वाजपेय** यज्ञ (रथदौड़) भी करता था, जिसमें राजा का रथ उसके अन्य सभी बंधुओं के रथों से आगे निकलता था। इन सारे अनुष्ठानों से प्रजा के चित्त पर राजा की बढ़ती हुई शक्ति और महिमा की गहरी छाप पड़ती थी।

ऐसा लगता है कि इस काल में कर और नज़राना (ट्रिब्यूट) का संग्रह प्रचलित हो गया था। इसके संग्रह और संचय के लिए एक

अधिकारी रहता था जो संग्रीहीतृ कहलाता था। रामायण और महाभारत से ज्ञात होता है कि बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर राजा भारी मात्रा में दान और उपहार बाँटता था और हर वर्ग के लोगों को उत्तम भोजन कराता था। राजा अपने कर्त्तव्य के संपादन में पुरोहित, सेनापति, पटरानी, और कई अन्य उच्च कोटि के अधिकारियों की सहायता लेता था। निचले स्तर में, प्रशासन का भार संभवत: ग्राम-सभाओं पर रहता था, जिन पर प्रमुख कुलों के प्रधानों का नियंत्रण रहता था। ये सभाएँ स्थानीय वाद-विवादों का फैसला भी करती थीं। लेकिन उत्तर वैदिक काल में भी राजा कोई स्थायी सेना नहीं रखता था। युद्ध के समय कबीले के जवानों के दल भरती कर लिए जाते थे, और कर्मकांड के एक अनुष्ठान के अनुसार, युद्ध में विजय पाने की कामना से राजा को एक ही थाली में अपने भाई-बंधुओं (विश्) के साथ खाना पड़ता था।

सामाजिक संगठन

उत्तर वैदिक काल का समाज चार वर्णों में विभक्त था– ब्राह्मण, राजन्य या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यज्ञ का अनुष्ठान अत्यधिक बढ़ गया था, जिससे ब्राह्मणों की शक्ति में अपार वृद्धि हुई। आरंभ में सोलह प्रकार के पुरोहितों में ब्राह्मण केवल एक प्रकार के पुरोहित होते थे किंतु धीरे-धीरे ब्राह्मण अन्य पुरोहित वर्गों को दबाते गए और स्वयं प्रमुख वर्ग बन गए। उनकी यह प्रमुखता विलक्षण बात है जो भारत से बाहर के आर्यों के समाज में नहीं पाई जाती है। लगता है ब्राह्मण वर्ण की स्थापना में आर्येतर तत्वों का कुछ हाथ रहा होगा। ब्राह्मण लोग अपने यजमानों के लिए और अपने लिए भी धार्मिक अनुष्ठान और यज्ञ करते थे और कृषि-कार्यों से जुड़े पर्वों या त्योहारों में यजमानों का प्रतिनिधित्व करते थे। वे युद्ध में राजा की जीत के लिए देवाराधना करते थे और उसके बदले में राजा से अभयदान प्राप्त करते थे। कभी-कभी ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता जताने के लिए राजन्यों से भिड़ जाते थे, जिनमें राजा के बांधव भी होते थे और क्षत्रिय वर्ग के नेता भी। लेकिन निचले दो वर्गों से सामना होने की स्थिति में अक्सर के ये दोनों वर्ग तुरंत आपसी झगड़ा भूल जाते। उत्तर वैदिक काल के अंत से इस बात पर बल दिया जाने लगा है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच परस्पर सहयोग रहना चाहिए ताकि समाज के शेष भाग पर उन दोनों का प्रभुत्व बना रहे।

राजाओं के परिजन होते हुए भी वैश्य जनसामान्य की कोटि में रखे गए और उन्हें उत्पादन संबंधी काम सौंपा गया, जैसे कृषि, पशुपालन आदि। उनमें कुछ लोग पंसारी या शिल्पी का काम भी करते थे। वैदिक काल का अंत होते-होते वे व्यापार को अपनाने लगे। लगता है, उत्तर वैदिक काल में केवल वैश्य ही राजस्व चुकाते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वैश्यों से वसूले राजस्व पर ही जीते थे। आम कबायली लोगों को वश में लाकर उन्हें करदाता बनाने की प्रक्रिया लंबे समय तक चलती रही। ऐसे कई अनुष्ठान ज्ञात हैं जो दुर्दम लोगों को (विश् या वैश्यों को) राजा तथा उसके निकट बंधुओं (राजन्यों) के वश में लाने की कामना से किए जाते थे। यह अनुष्ठान उन्हीं पुरोहितों के द्वारा कराया जाता था जो स्वयं प्रजा या वैश्यों को खसोट कर मोटे हुए थे। ऊपर के तीन वर्णों की सामान्य विशेषता यह थी कि वे

उपनयन संस्कार के अधिकारी थे अर्थात् वे वैदिक मंत्रों के साथ जनेऊ धारण का अनुष्ठान करा सकते थे। चौथा वर्ण उपनयन- संस्कार का अधिकारी नहीं था, वह गायत्री का उच्चारण नहीं कर सकता था और यहीं से उपनयन का अभाव शूद्र की दासता का द्योतक बन गया।

राजा, जो राजन्यों या क्षत्रियों का अगुआ था, अन्य तीनों वर्णों पर अपना प्रभुत्व जमाए रहने की चेष्टा करता रहा। उत्तर वैदिक काल के अंत भाग में लिखे गए ऐतरेय ब्राह्मण नामक वैदिक ग्रंथ में कहा गया है कि ब्राह्मण जीविका चाहने वाला और दान लेने वाला है, लेकिन राजा जब भी चाहे उसे हटा सकता है। वैश्य के बारे में कहा गया है कि वह राजस्व का देनदार है और राजा जब चाहे उसका दमन कर सकता है। सबसे बुरी स्थिति शूद्रों की थी। शूद्र को अन्य वर्णों का सेवक बतलाया गया है। वह दूसरे की इच्छा के अनुसार काम करने वाला है और मार खाने वाला है।

सामान्यत: उत्तर वैदिककालीन ग्रंथों में तीन उच्च वर्णों और शूद्रों के बीच विभाजक रेखा देखने को मिलती है। फिर भी राज्याभिषेक संबंधी ऐसे कई सार्वजनिक अनुष्ठान होते थे जिनमें शूद्र, शायद मूल आर्य जातीय कबीलों के बचे हुए सदस्यों की हैसियत से, भाग लेते थे। शिल्पियों में रथकार आदि जैसे कुछ वर्गों का स्थान ऊँचा था और उन्हें यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार दिखाई देता है कि उत्तर वैदिक काल में भी वर्णभेद अधिक प्रखर नहीं हुआ था।

परिवार स्तर पर, हम देखते हैं कि पिता का अधिकार बढ़ता गया। वह अपने पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित कर सकता था। राजपरिवार में ज्येष्ठाधिकार का प्रचलन प्रबल होता गया। पूर्व पुरुषों की पूजा होने लगी। स्त्रियों का दर्जा सामान्यत: गिरा यद्यपि कुछ महिलाओं ने शास्त्रार्थों में भाग लिया और कुछ रानियाँ पति के राज्याभिषेक अनुष्ठानों में साथ रहीं, पर सामान्यत: स्त्रियों का स्थान पुरुषों के नीचे और अधीनस्थ माना जाने लगा।

उत्तर वैदिक काल में गोत्र-प्रथा स्थापित हुई। गोत्र शब्द का मूल अर्थ है गोष्ठ या वह स्थान जहाँ समूचे कुल का गोधन पाला जाता था, परंतु बाद में इसका अर्थ एक ही मूल पुरुष से उत्पन्न लोगों का समुदाय हो गया। फिर गोत्र से बाहर विवाह करने की प्रथा चल पड़ी। तदनुसार एक ही गोत्र या मूल पुरुष वाले लोगों के बीच आपस में विवाह निषिद्ध हो गया।

वैदिक काल में आश्रम अर्थात् जीवन के चार चरण सुप्रतिष्ठित नहीं हुए थे। वैदिकोत्तर काल के ग्रंथों में हमें चार आश्रम स्पष्ट दिखाई देते हैं : ब्रह्मचर्य या छात्रावस्था, गार्हस्थ्य या गृहस्थावस्था, वानप्रस्थ या वनवासावस्था और संन्यास या सांसारिक जीवन से विरत होकर रहने की अवस्था। उत्तर वैदिक ग्रंथों में आदि से केवल तीन आश्रमों का उल्लेख है। अन्तिम या चतुर्थ आश्रम उत्तर वैदिक काल में सुप्रतिष्ठित नहीं हुआ था, हालाँकि संन्यास अज्ञात नहीं था। वैदिकोत्तर काल में भी केवल गार्हस्थ्य आश्रम सभी वर्णों में सामान्यत: प्रचलित था।

देवता, अनुष्ठान और दर्शन

उत्तर वैदिक काल में उत्तरी दोआब ब्राह्मणों

के प्रभाव में आर्य संस्कृति का केन्द्र स्थल बन गया। लगता है सारा उत्तर वैदिक साहित्य कुरु-पंचालों के इसी प्रदेश में विकसित हुआ। यज्ञ इस संस्कृति का मूल था और यज्ञ के साथ-साथ अनेकानेक अनुष्ठान और मंत्रविधियाँ प्रचलित हुई।

देवताओं में दो सबसे बड़े देवता इंद्र और अग्नि अब उतने प्रमुख नहीं रहे। इनकी जगह उत्तर वैदिक देव-मंडल में सृजन के देवता प्रजापति को सर्वोच्च स्थान मिला। ऋग्वैदिक काल के कुछ अन्य गौण देवता भी प्रमुख हुए। पशुओं के देवता रुद्र ने उत्तर वैदिक काल में महत्ता पाई। विष्णु को वे लोग अपना पालक और रक्षक मानने लगे जो लोग ऋग्वैदिक काल के अपने अर्द्ध खानाबदोशी जीवन को छोड़ स्थायी रूप से बस गए थे। इसके अलावा, देवताओं के प्रतीक के रूप में कुछ वस्तुओं की भी पूजा प्रचलित हुई। उत्तर वैदिक काल में मूर्ति-पूजा के आरंभ का कुछ आभास मिलने लगता है। चूँकि समाज ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त हो गया था, इसलिए कुछ वर्णों के अपने देवता भी हो गए। पूषन्, जो पशुओं की रक्षा करने वाला माना जाता था, शूद्रों का देवता हो गया, हालाँकि ऋग्वेद-युग में पशुपालन सारी आर्य-जाति का मुख्य व्यवसाय था।

देवताओं की आराधना के जो भौतिक उद्देश्य पूर्व में थे वे ही इस काल में भी रहे। लेकिन आराधना की रीति में महान् अंतर आया। स्तुतिपाठ पहले की तरह चलते रहे, लेकिन वे देवताओं को प्रसन्न करने की प्रमुख रीति नहीं रहे; प्रत्युत यज्ञ करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया और यज्ञ के सार्वजनिक तथा घरेलू दोनों रूप प्रचलित हुए। सार्वजनिक यज्ञ राजा अपनी सारी प्रजा के साथ करता था और प्रजा में अक्सर एक ही कबीले के लोग होते। निजी यज्ञ अलग-अलग व्यक्ति अपने-अपने घर में करते थे, क्योंकि इस काल में वैदिक लोग स्थायी निवासों में रहते थे और उनके नियमित कुटुंब होते थे। घर का प्रत्येक व्यक्ति अग्नि में आहुति देता था और ऐसा प्रत्येक कर्म अनुष्ठान या यज्ञ का रूप धारण कर लेता था। यज्ञ में बड़े पैमाने पर पशुबलि दी जाती थी, जिससे खास तौर से पशुधन का ह्रास होता गया। अतिथि गोघ्न कहलाते थे क्योंकि उन्हें गोमांस खिलाया जाता था।

यज्ञों में कर्म के साथ मंत्र पढ़े जाते थे। यज्ञकर्ताओं को इन मन्त्रों का उच्चारण बड़ी सतर्कता से करना होता था। यज्ञ करने वाला **यजमान** कहलाता था और यज्ञ का फल बहुत कुछ इस पर निर्भर माना जाता था कि यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण कितनी शुद्धता से किया गया। वैदिक आर्यों में प्रचलित बहुत से अनुष्ठान हिन्द-यूरोपीय भाषाभाषियों के कर्मकांड से मिलते हैं, लेकिन कुछ हिन्द-भूमि में विकसित प्रतीत होते हैं।

इन सारे मंत्रों और यज्ञों का सृजन, अंगीकरण और विस्तारण पुरोहितों ने किया, जो ब्राह्मण कहलाते थे। ब्राह्मण धार्मिक ज्ञान-विज्ञान पर अपना एकाधिकार समझते थे। उन्होंने बहुत-सारे अनुष्ठानों को चलाया, जिनमें कुछ आर्येतर लोगों से भी लिए। इतने सारे अनुष्ठानों को चलाने और उनको विस्तृत बनाने का क्या कारण रहा होगा यह तो पता नहीं चलता, लेकिन इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इसके पीछे धन-लोलुपता की भावना रही होगी। कहा गया है

कि राजसूय यज्ञ कराने वाले पुरोहित को दक्षिणा में 240,000 गायें मिलती थीं।

यज्ञ की दक्षिणा में सामान्यतः गायें और दासियाँ तो दी ही जाती थीं, साथ-साथ सोना, कपड़ा और घोड़े भी दिए जाते थे। कभी-कभी पुरोहित दक्षिणा में राज्य का कुछ भाग भी माँग लेते थे। किंतु यज्ञ की दक्षिणा में भूमि का दिया जाना उत्तर वैदिक काल में प्रचलित नहीं हुआ था। **शतपथ ब्राह्मण** में कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ में पुरोहित को उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम चारों दिशाएँ दे देनी हैं। यदि वास्तव में ऐसा हो, तो राजा के पास क्या बचा होगा? अतः इसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि पुरोहित जहाँ तक संभव हो अधिक से अधिक भूमि हड़पना चाहते थे। परंतु यथार्थ में भूमि अधिक मात्रा में ब्राह्मणों के हाथ नहीं गई होगी। एक जगह इस बात का भी उल्लेख है कि भूमि जब ब्राह्मण को दी जाने लगी तो उसने ब्राह्मण के हाथ जाना अस्वीकार कर दिया।

वैदिक काल के अन्तिम दौर में, पुरोहितों के प्रभुत्व के विरुद्ध तथा यज्ञ और कर्मकांडों के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया शुरू हुई। यह प्रतिक्रिया पंचालों और विदेह के राज्य में विशेष कर हुई, जहाँ 600 ई. पू. के आसपास उपनिषदों का संकलन हुआ था। इन दार्शनिक ग्रंथों में कर्मकांड की निंदा की गई और यथार्थ विश्वास एवं ज्ञान को महत्त्व दिया गया। उपनिषदों में कहा गया है कि अपनी **आत्मा** का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और ब्रह्म के साथ आत्मा का संबंध ठीक से जानना चाहिए। तत्कालीन शक्तिशाली राजाओं की तरह ब्रह्म की परिकल्पना परम सत्ता के रूप में की गई। पंचाल और विदेह के कई क्षत्रिय राजाओं ने भी इस प्रकार के चिंतन को अपनाया और ब्राह्मण धर्म में सुधार लाने के लिए उपयुक्त वातावरण बनाया। उनके उपदेशों से स्थायित्व और अखंडता की भावना को बल मिला। आत्मा अपरिवर्ती, अविनाशी और अमर है इस बात पर बल देने से उस स्थायित्व की भावना को बल मिला जिसकी अत्यधिक आवश्यकता क्षत्रिय शासकों के अधीन उदीयमान राजसत्ता को थी। आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के बीच सम्बन्ध की भावना से प्रजा में राजा के प्रति भक्ति जगी।

उत्तर वैदिक काल में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रदेशाश्रित राज्यों की शुरुआत हुई। युद्ध केवल पशुओं को हथियाने के लिए ही नहीं, बल्कि राज्यक्षेत्र पर कब्जा करने के लिए भी होने लगे। कौरवों और पांडवों के बीच हुआ प्रख्यात महाभारत-युद्ध इसी काल की स्थिति का प्रतिबिंब माना जा सकता है। आरंभिक वैदिक काल का प्रधान पशुचारी समाज अब कृषि-प्रधान हो गया। पूर्व के कबायली पशुचारक अब किसान बन गए और बार-बार राजस्व या नज़राना दे-देकर अपने राजा का भरण-पोषण करने में समर्थ हो गए। राजा कबायली किसानों के बूते पर समृद्ध होते गए और उन पुरोहितों को प्रचुर दान-दक्षिणा देते गए जो वैश्य कोटि अर्थात् आम जनता के विरुद्ध हमेशा अपने दाता का पक्ष लेते थे। शूद्र इस काल में भी छोटा सेवक-वर्ग बना रहा। कबायली समाज टूट कर वर्णों में विभक्त नया समाज बन गया। किंतु वर्णमूलक भेदभावों पर अत्यधिक बल नहीं दिया जा सका। ब्राह्मणों के सहयोग के बावजूद राजन्य

या क्षत्रिय राजतंत्र की स्थापना नहीं कर पाए थे। तब तक कोई राज्य कैसे चल सकता है जब तक कोई नियमित कर-प्रणाली न हो, और वेतन भोगी सेना न हो। सेना करों के भरोसे ही रखी जा सकती थी। परंतु खेती के प्रचलित तरीके में पर्याप्त कर और राजस्व उगाहने की गुंजाइश नहीं थी।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :

   अश्वमेध, वाजपेय, संग्रीहीतृ, विश्, उपनयन, गोत्र, आश्रम, यज्ञ, चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.)।

2. 'उत्तर वैदिक अवस्था' से क्या अभिप्राय है? इस काल के अध्ययन के लिए प्रमुख स्रोत क्या-क्या हैं?

3. ऋग्वैदिक लोगों की अपेक्षा उत्तर वैदिक लोगों के भौतिक जीवन में क्या अंतर था? उदाहरण दें।

4. उत्तर वैदिक काल की राजनीतिक पद्धति का वर्णन करें। इसमें ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा क्या अंतर आया?

5. उत्तर वैदिक काल के सामाजिक संघटन का वर्णन करें।

6. उत्तर वैदिक काल में वैदिकजनों के प्रसार का विवरण प्रस्तुत करें।

7. उत्तर वैदिक काल में धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं में क्या-क्या परिवर्तन हुए? विवेचन करें कि समाज में ब्राह्मणों का महत्त्व क्यों बढ़ा। बताएँ कि उपनिषदों में मुख्यत: किन-किन विचारों को व्यक्त किया गया है।

अध्याय 10

जैन और बौद्ध धर्म

ईसा-पूर्व छठी सदी के उत्तरार्द्ध में मध्य गंगा के मैदानों में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। इस युग के करीब 62 धार्मिक संप्रदाय ज्ञात हैं। इनमें से कई संप्रदाय पूर्वोत्तर भारत में रहने वाले विभिन्न समुदायों में प्रचलित धार्मिक प्रथाओं और अनुष्ठान-विधियों पर आधारित थे। इनमें जैन संप्रदाय और बौद्ध संप्रदाय सबसे महत्त्व के थे, और ये दोनों धार्मिक सुधार के परम शक्तिशाली आंदोलन के रूप में उभरे।

उद्भव के कारण

वैदिकोत्तर काल में समाज स्पष्टत: चार वर्णों में विभाजित था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हर वर्ण के कर्त्तव्य अलग-अलग निर्धारित थे, और इस पर जोर दिया जाता था कि वर्ण जन्ममूलक है और दो उच्च वर्णों को कुछ विशेषाधिकार दिए गए। ब्राह्मण, जिन्हें पुरोहितों और शिक्षकों का कर्त्तव्य सौंपा गया था, समाज में अपना स्थान सबसे ऊँचा होने का दावा करते थे। वे कई विशेषाधिकारों के दावेदार थे, जैसे दान लेना, करों से छुटकारा, दंडों की माफी आदि। उत्तर वैदिक ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ ब्राह्मणों ने ऐसे अधिकारों का लाभ उठाया। वर्णक्रम में क्षत्रियों का स्थान दूसरा था। वे युद्ध करते थे, शासन करते थे और किसानों से उगाहे गए करों पर जीते थे। वैश्य खेती, पशुपालन और व्यापार करते थे, और ये ही मुख्य करदाता थे। यद्यपि इन्हें दो उच्च वर्णों के साथ द्विज नामक समूह में स्थान मिला था। द्विज को जनेऊ पहनने का और वेद पढ़ने का अधिकार था, पर शूद्र को इससे वंचित रखा गया था। शूद्रों का कर्त्तव्य ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना था, और स्त्रियों की भाँति उन्हें भी वेद पढ़ने के अधिकार से अलग रखा गया था। वैदिकोत्तर काल में वे गृहदास, कृषिदास, शिल्पी और मज़दूर के रूप में दिखाई देते हैं। वे स्वभाव से ही क्रूरकर्मा, लोभी और चोर कहे गए हैं, और कुछ अस्पृश्य भी माने जाते थे। वर्णव्यवस्था में जो जितने ऊँचे वर्ण का होता था वह उतना ही शुद्ध और सुविधाधिकारी समझा जाता था। अपराधी जितने ही नीच वर्ण का होता उसके लिए सज़ा उतनी ही अधिक कठोर होती थी।

यह स्वभाविक ही था कि इस तरह के वर्ण-विभाजन वाले समाज में तनाव पैदा हो। वैश्यों और शूद्रों में इसकी कैसी प्रतिक्रिया थी यह

जानने का कोई साधन नहीं है। परंतु क्षत्रिय लोग, जो शासक के रूप में काम करते थे, ब्राह्मणों के धर्म विषयक प्रभुत्व पर प्रबल आपत्ति करते थे, और लगता है कि उन्होंने वर्णव्यवस्था को जन्ममूलक मानने के विरुद्ध एक प्रकार का आंदोलन छेड़ दिया था। विविध विशेषाधिकारों का दावा करने वाले पुरोहितों या ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विरुद्ध क्षत्रियों का खड़ा होना नये धर्मों के उद्भव का अन्यतम कारण हुआ। जैन धर्म के संस्थापक वर्धमान महावीर और बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध दोनों क्षत्रिय वंश के थे, और दोनों ने ब्राह्मणों की मान्यता को चुनौती दी।

परंतु इन धर्मों के उद्भव का यथार्थ कारण है पूर्वोत्तर भारत में नई कृषिमूलक अर्थव्यवस्था का विस्तार। पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी एवं दक्षिणी बिहार सहित पूर्वोत्तर भारत मे वर्षा की दर लगभग 100 सेंटीमीटर है। यहाँ, जब तक भारी पैमाने पर बस्ती नहीं बनी थी, घने जंगल छाए हुए थे। ऐसे घने जंगलों को साफ करना लोहे की कुल्हाड़ी के बिना आसान नहीं था। यद्यपि इस क्षेत्र में 600 ई.पू. से पहले भी कुछ लोग बसते थे, पर उनके औजार हड्डी, पत्थर और तांबे के थे, और वे नदी के किनारों, झीलों के पास और संगमस्थलों में कष्ट से जीवन बिताते थे, क्योंकि वहाँ बाढ़ और कटाव के फलस्वरूप बसने लायक खाली जमीन मिलती थी। 600 ई. पू. के आसपास जब इधर लोहे का इस्तेमाल होने लगा, मध्य गंगा के मैदानों में लोग भारी संख्या में बसने लगे। इस क्षेत्र की मिट्टी में नमी अधिक है, अतः पूर्व काल के लोहे के बहुत-से औजार तो बच नहीं सके, फिर भी कुछेक कुल्हाड़ियाँ लगभग 600-500 ई.पू. के स्तर से निकली हैं। लोहे के औजारों के इस्तेमाल की बदौलत जंगलों की सफाई, खेती और बड़ी-बड़ी बस्तियाँ संभव हुईं। लोहे के फाल वाले हलों पर आधारित कृषि-मूलक अर्थव्यवस्था में बैल का इस्तेमाल जरूरी था, और पशुपालन के बिना बैल आएँ कहाँ से। परंतु इसके विपरीत वैदिक कर्मकांड के अनुसार यज्ञों में पशु अंधाधुंध मारे जाने लगे। यह खेती की प्रगति में बाधक सिद्ध हुआ। असंख्य यज्ञों में बछड़ों और साँडों के लगातार मारे जाते रहने से पशुधन क्षीण होता गया। मगध के दक्षिणी और पूर्वी छोरों पर बसे कबायली लोग भी पशुओं को मार-मार कर खाते गए लेकिन यदि इस नई कृषि-मूलक अर्थव्यवस्था को चलाना था तो इस पशुवध को रोकना आवश्यक ही था।

इस काल में पूर्वोत्तर भारत में अनेक नगरों की स्थापना हुई; उदाहरणार्थ, कौशांबी (प्रयाग के समीप), कुशीनगर (जिला देवरिया, उत्तर प्रदेश), वाराणसी, वैशाली (इसी नाम का नवस्थापित जिला, उत्तर बिहार), चिरांद (सारन जिला) और राजगीर (पटना से लगभग 100 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व)। अन्यान्य नगरों के अतिरिक्त इन नगरों में बहुत-से शिल्पी और व्यापारी रहते थे, जिन्होंने सर्वप्रथम सिक्के चलाए। सबसे पुराने सिक्के ईसा-पूर्व पांचवीं सदी के हैं, और वे पंचमार्क्ड या आहत सिक्के कहलाते हैं। आरंभ में उनका प्रचलन पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में हुआ। स्वभावतः सिक्कों के प्रचलन से व्यापार-वाणिज्य बढ़े और उसमें वैश्यों का महत्त्व बढ़ा। ब्राह्मण-प्रधान समाज में वैश्यों का स्थान तृतीय कोटि में था, प्रथम और द्वितीय कोटियों में क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रिय आते थे। स्वभावतः वे ऐसे किसी धर्म

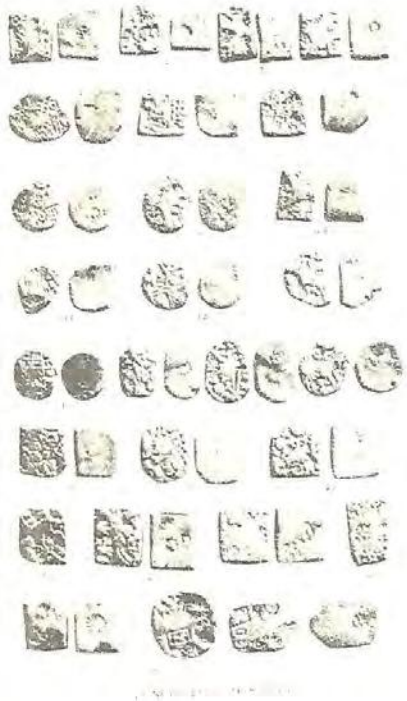

पंचमार्क सिक्के

की खोज में थे जहाँ उनकी सामाजिक स्थिति सुधरे। क्षत्रियों के अतिरिक्त वैश्यों ने महावीर और गौतम बुद्ध दोनों की उदारतापूर्वक सहायता की। वणिकों ने, जो सेट्ठि कहलाते थे, गौतम बुद्ध और उनके शिष्यों को प्रचुर दान दिए। इसके कई कारण थे। पहला यह कि जैन और बौद्ध धर्म की आरंभिक अवस्था में तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। दूसरे, वे अहिंसा का उपदेश देते थे जिससे विभिन्न राजाओं के बीच होने वाले युद्धों का अंत हो सकता था और उसके फलस्वरूप व्यापार-वाणिज्य में उन्नति हो सकती थी। तीसरे, ब्राह्मणों की कानून संबंधी पुस्तकों में, जो धर्मसूत्र कहलाती थीं, सूद पर धन लगाने के कारोबार को निंदनीय समझा जाता था और सूद पर जीने वाले को अधम कहा जाता था। अतः जो वैश्य व्यापार-वाणिज्य में वृद्धि होने के कारण महाजनी करते थे वे आदर नहीं पाते थे और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उत्सुक थे।

दूसरी ओर तरह-तरह की निजी संपत्ति के संचय के विरुद्ध भी कड़ी प्रतिक्रिया थी। पुराने विचार के लोग सिक्कों को, जो अवश्य ही चाँदी और तांबे के होते थे, इस्तेमाल में लाना या जमा करना पसंद नहीं करते थे। वे लोग नए-नए ढंग के निवासों और परिधानों से, नई परिवहन प्रणालियों से परहेज करते थे, तथा युद्ध और हिंसा से घृणा करते थे। संपत्ति के नए-नए प्रकारों से समाज में असमानता पनपी। इस असमानता के कारण आम लोगों का जीवन दुख-दर्द से भर गया था। इसलिए सामान्य लोग कामना करते थे कि आदिम जीवन लौट आए। वे फिर उस संन्यास के आदर्श की ओर लौटना चाहते थे जिसमें संपत्ति के नए-नए प्रकारों और जीवन की नई पद्धति के लिए जगह नहीं थी। बौद्ध और जैन दोनों संप्रदाय सरल, शुद्ध और संयमित जीवन के पक्षधर थे। बौद्ध और जैन दोनों भिक्षुओं को आदेश था कि वे जीवन में विलास की वस्तुओं का उपभोग नहीं करें। उन्हें सोना और चाँदी छूना मना था। उन्हें अपने दाताओं से उतना ही ग्रहण करना था जितने से उनकी प्राण-रक्षा हो। इसलिए

उन्होंने गंगा घाटी के नए जीवन में विकसित भौतिक सुख-सुविधाओं का विरोध किया। दूसरे शब्दों में, ईसा-पूर्व छठी-पाँचवीं सदी में मध्य गंगा के मैदान में हम भौतिक जीवन में हुए परिवर्तनों के विरुद्ध उसी प्रकार की प्रतिक्रिया देखते हैं जैसी प्रतिक्रिया आधुनिक काल में औद्योगिक क्रांति से आए परिवर्तनों के विरुद्ध देख रहे हैं। औद्योगिक क्रांति ने जिस प्रकार बहुत लोगों के मन में यंत्र-पूर्व युग के जीवन में लौट जाने की चाह जगाई है उसी प्रकार अतीत के लोग भी लौह-युग के पूर्व की जिंदगी में लौट जाना चाहते थे।

वर्धमान महावीर और जैन संप्रदाय

जैन धर्मावलम्बियों का विश्वास है कि उनके सबसे महान धर्मोपदेष्टा महावीर के पहले तेईस और आचार्य हुए हैं जो **तीर्थंकर** कहलाते थे। यदि महावीर को अन्तिम या चौबीसवां तीर्थंकर मानें तो जैन धर्म का उद्भव-काल ईसा-पूर्व नवीं सदी ठहरता है। परंतु आरंभ के अधिकतर तीर्थंकर, अर्थात पंद्रहवे तीर्थंकर तक, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में उत्पन्न बताए गए हैं, इसलिए उनकी ऐतिहासिकता नितांत संदिग्ध है। मध्य गंगा के मैदान का कोई भी भाग ईसा पूर्व छठी सदी से पहले ठीक से आबाद नहीं हुआ था। स्पष्ट है कि इन **तीर्थंकरों** की, जो अधिकतर मध्य गंगा के मैदान में उत्पन्न हुए और जिन्होंने बिहार में **निर्वाण** प्राप्त किया, मिथक-कथा जैन संप्रदाय की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए गढ़ ली गई है। जैन धर्म के प्राचीनतम सिद्धांतों के उपदेष्टा तेईसवें **तीर्थंकर** पार्श्वनाथ माने जाते हैं जो वाराणसी के निवासी थे। वे राज्य सुख को छोड़ संन्यासी हो गए किंतु यथार्थ में जैन धर्म की स्थापना उनके आध्यात्मिक शिष्य वर्धमान महावीर ने की।

महान् सुधारक वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का ठीक-ठीक समय निश्चित करना कठिन है। एक परंपरा के अनुसार वर्धमान महावीर का जन्म 540 ई.पू. में वैशाली के पास किसी गांव में हुआ। वैशाली की पहचान उत्तर बिहार में इसी नाम के नवस्थापित जिले में अवस्थित बसाढ़ से की गई है। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय कुल के प्रधान थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था जो बिम्बिसार के ससुर लिच्छवि-नरेश चेतक की बहन थी। इस प्रकार महावीर के परिवार का संबंध मगध के राजपरिवार से था। उच्च कुलों से संबंध रखने के कारण अपने धर्म-प्रसार के क्रम में उन्हें राजाओं और राजसचिवों के साथ संपर्क करना आसान हुआ।

आरंभ में महावीर गार्हस्थ्य जीवन में थे, किंतु सत्य की खोज में वे 30 वर्ष की अवस्था में सांसारिक जीवन का परित्याग करके यती (संन्यासी) हो गए। 12 वर्षों तक वे जहाँ-तहाँ भटकते रहे। वे एक गांव में एक दिन से अधिक और एक शहर में पांच दिन से अधिक न टिकते थे। कहा जाता है कि अपनी बारह साल की लंबी यात्रा के दौरान उन्होंने एक बार भी अपने वस्त्र नहीं बदले किंतु जब 42 वर्ष की अवस्था में उन्हें **कैवल्य** प्राप्त हो गया तो उन्होंने वस्त्र का एकदम त्याग ही कर दिया। **कैवल्य** द्वारा उन्होंने सुख-दुख पर विजय प्राप्त की। इसी विजय के कारण वे महावीर अर्थात् महान् शूर, या जिन अर्थात् विजेता कहलाए और उनके अनुयायी जैन कहलाते हैं। कोसल, मगध, मिथिला, चंपा आदि प्रदेशों में घूम-घूम कर वे अपने धर्म का प्रचार 30 वर्षों तक करते रहे। उनका निर्वाण 468 ई. पू. में

बहत्तर साल की उम्र में आज की राजगीर के समीप पावापुरी में हुआ। दूसरी परंपरा के अनुसार उनका देहांत 527 ई. पू. में हुआ।

परंतु पुरातात्विक साक्ष्य के आधार पर उन्हें निश्चित रूप से छठी शताब्दी ई. पू. में नहीं रखा जा सकता है। जिन नगरों और अन्य वासस्थानों से उनका संबंध था उनका उदय 500 ई. पू. तक नहीं हुआ था।

जैन धर्म के सिद्धांत

जैन धर्म के पांच व्रत हैं : (1) **अहिंसा** या हिंसा नहीं करना, (2) **अमृषा** या झूठ न बोलना, (3) **अचौर्य** या चोरी न करना, (4) **अपरिग्रह** या संपत्ति अर्जित नहीं करना, और (5) **ब्रह्मचर्य** या इन्द्रिय निग्रह करना। कहा जाता है कि इनमें चार व्रत पहले से चले आ रहे थे, महावीर ने केवल पाँचवाँ व्रत जोड़ा। जैन धर्म में अहिंसा या किसी प्राणी को न सताने के व्रत को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। कभी-कभी इस व्रत के विचित्र परिणाम दिखाई देते हैं, जैसे कुछ जैन धर्मावलंबी राजा पशु की हत्या करने वालों को फांसी पर चढ़ा देते थे। महावीर के पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने तो अपने अनुयायियों को निचले और ऊपरी अंगों को वस्त्र से ढकने की अनुमति दी थी, पर महावीर ने वस्त्र का सर्वथा त्याग करने का आदेश दे दिया। इसका आशय यह था कि वे अपने अनुयायियों के जीवन में और भी अधिक संयम लाना चाहते थे। इसके चलते, बाद में जैन धर्म दो संप्रदायों में विभक्त हो गया-**श्वेताम्बर** अर्थात् सफेद वस्त्र धारण करने वाले, और **दिगम्बर** अर्थात् नग्न रहने वाले।

जैन धर्म में देवताओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, पर उनका स्थान **जिन** से नीचे रखा गया है। बौद्ध धर्म में वर्णव्यवस्था की जो निंदा है वह इस धर्म में नहीं है। महावीर के अनुसार, पूर्व जन्म में अर्जित पुण्य या पाप के अनुसार ही किसी का जन्म उच्च या निम्न कुल में होता है। महावीर ने चाण्डालों में भी मानवीय गुणों का होना संभव बताया है। उनके मत में शुद्ध और अच्छे आचरण वाले निम्न जाति के लोग भी मोक्ष पा सकते हैं। जैन धर्म में मुख्यत: सांसारिक बंधनों से छुटकारा पाने के उपाय बताए गए हैं। ऐसा छुटकारा या मोक्ष पाने के लिए कर्मकांडीय अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, यह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् ध्यान और सम्यक् आचरण से प्राप्त किया जा सकता है। ये तीनों जैन धर्म का **त्रिरत्न** अर्थात तीन जौहर माने जाते हैं।

जैन धर्म में युद्ध और कृषि दोनों वर्जित हैं, क्योंकि दोनों में जीवों की हिंसा होती है। फलत: जैन धर्मावलम्बियों में व्यापार और वाणिज्य करने वाले की संख्या अधिक हो गयी।

जैन धर्म का प्रसार

जैन धर्म के उपदेशों के प्रचार-प्रसार के लिए महावीर ने अपने अनुयायियों का संघ बनाया जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों को स्थान मिला। महावीर के अनुयायियों की संख्या 14,000 बताई गई है, जो कोई बड़ी संख्या नहीं है। चूंकि जैन धर्म ने अपने को ब्राह्मण धर्म से स्पष्टत: पृथक् नहीं किया, इसलिए वह लोगों को अधिक संख्या में आकृष्ट करने में असफल रहा। ऐसा रहते हुए भी जैन धर्म धीरे-धीरे दक्षिण और पश्चिम भारत मे फैला जहाँ ब्राह्मणीय धर्म कमज़ोर था। एक परवर्ती परंपरा के अनुसार, कर्नाटक में जैन धर्म

का प्रचार सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य (322-298 ई. पू) ने किया। उन्होंने जैन धर्म को अपना लिया, राज्य को त्याग दिया और अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में जैन साधु होकर कर्नाटक में जैन धर्म का प्रचार करते हुए बिताए। लेकिन इस परंपरा की पुष्टि अन्य किसी स्रोत से नहीं होती है। दक्षिण भारत में जैन धर्म के फैलने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि भद्रावीर के निर्वाण के 200 वर्ष बाद मगध में भारी अकाल पड़ा; अकाल बारह वर्षों तक रहा; अत: बहुत से जैन भाद्रभद्र के नेतृत्व में प्राण बचाने के लिए दक्षिणापथ चले गए, शेष जैन लोग स्थलबाहु के नेतृत्व में मगध में ही रह गए। प्रवासी जैनों ने दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रचार किया। अकाल समाप्त होने पर जब वे मगध लौट आए तो स्थानीय जैनों से उनका मतभेद हो गया। दक्षिण से लौटे जैनों का दावा था कि अकाल की अवधि में भी उन लोगों ने अपने धार्मिक नियमों का पालन किया है, लेकिन जो मगध में रहे उन्होंने नियमों का पालन नहीं किया और शिथिल हो गए। इस मतभेद को दूर करने के लिए और जैन धर्म के मुख्य उपदेशों को संकलित करने के लिए पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) में एक परिषद् का आयोजन किया गया। लेकिन दक्षिणी जैनों ने इस परिषद् का बहिष्कार किया और इसके निर्णयों को मानना अस्वीकार कर दिया। तब से दक्षिणी जैन **दिगम्बर** कहलाए और मगध के जैन **श्वेताम्बर**। अकाल होने की परंपरा बाद की है और यह संदेहास्पद मानी जाती है। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैन दो संप्रदायों में बंट गए थे।

परंतु कर्नाटक में जैन धर्म के फैलने का पुरातात्विक साक्ष्य ईसा की तीसरी सदी से पहले का नहीं मिलता है। बाद की सदियों में, विशेष कर पाँचवीं सदी में कर्नाटक में बहुत सारे जैन मठ स्थापित हुए जो **बसदि** कहलाते थे, और उनके भरणपोषण के लिए उन्हें राजाओं से भूमिदान मिले।

कलिंग या उड़ीसा में जैन धर्म का प्रचार ईसा-पूर्व चौथी सदी में हुआ; और ईसा-पूर्व पहली सदी में इसे आंध्र और मगध के राजाओं को पराजित करने वाले कलिंग-नरेश खारवेल का संरक्षण मिला। ईसा-पूर्व दूसरी और पहली सदी में जैन धर्म तमिलनाडु के दक्षिणी भागों में भी पहुँच गया था। बाद की सदियों में जैन धर्म मालवा, गुजरात और राजस्थान में फैला, और इन क्षेत्रों में आज भी जैन धर्मावलम्बियों की संख्या अधिक है, तथा मुख्यत: वे व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए हैं। यद्यपि जैन धर्म को उतना राजाश्रय नहीं मिला जितना बौद्ध धर्म को, और पूर्व काल में इसका प्रसार भी उतना तेज नहीं हुआ, तथापि यह जहाँ-कहीं पहुँचा अपना अस्तित्व बनाए हुए है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म तो मानों भारतीय उपमहादेश से लुप्त ही हो गया।

जैन धर्म का योगदान

जैन धर्म ने ही सबसे पहले वर्ण व्यवस्था और वैदिक कर्मकांड की बुराइयों को रोकने के लिए गंभीर प्रयास किया। आरंभ में जैनों ने मुख्यत: ब्राह्मणों द्वारा संपोषित संस्कृत भाषा का परित्याग किया और अपने धर्मोपदेश के लिए आम लोगों की बोलचाल की प्राकृत भाषा को अपनाया। उनके धार्मिक ग्रंथ अर्धमागधी भाषा में लिखे गए और ये

ग्रंथ ईसा की छठी सदी में गुजरात में वलभी नामक स्थान में, जो एक महान् विद्या-केन्द्र था, अन्तिम रूप से संकलित किए गए। जैनों ने प्राकृत को अपनाया, इससे प्राकृत भाषा और साहित्य की समृद्धि हुई। प्राकृत भाषा से कई क्षेत्रीय भाषाएँ विकसित हुईं। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं- शौरसेनी, जिससे मराठी भाषा निकली है। जैनों ने अपभ्रंश भाषा में पहली बार कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे और इसका पहला व्याकरण तैयार किया। जैन साहित्य में महाकाव्य, पुराण, आख्यायिका और नाटक हैं। जैन लेखों का बहुत बड़ा भाग आज भी पांडुलिपि के रूप में पड़ा है और अप्रकाशित है। गुजरात और राजस्थान के जैन मठों में ऐसी पांडुलिपियाँ पाई जाती हैं। जैनों ने मध्य काल के आरंभ में संस्कृत का भी खूब प्रयोग किया और इसमें बहुत-से ग्रंथ लिखे। अंतत: जैनों ने कन्नड़ के विकास में भी यथेष्ठ योगदान दिया; इस भाषा में उन्होंने प्रचुर लेखन किया है।

बौद्धों की तरह जैन लोग भी आरंभ में मूर्तिपूजक नहीं थे। बाद में वे महावीर और तीर्थंकरों की भी पूजा करने लगे। इसके लिए सुंदर और कभी-कभी विशाल प्रस्तर-प्रतिमाएँ विशेषकर कर्नाटक, गुजरात, राजस्थान और मध्य प्रदेश में निर्मित हुईं। प्राचीन काल की जैन कला उतनी उत्कृष्ट नहीं है जितनी बौद्ध कला, किंतु मध्यकाल की कला और स्थापत्य में जैनों का प्रशंसनीय योगदान है।

गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध या सिद्धार्थ महावीर के समकालीन थे। परंपरा के आधार पर कहा जाता है कि उनका जन्म 563 ई. पू. में शाक्य नामक क्षत्रिय कुल में कपिलवस्तु के निकट नेपाल तराई में अवस्थित लुम्बिनी में हुआ था। कपिलवस्तु की पहचान बस्ती जिले में पिपरहवा से की गई है। प्रतीत होता है कि गौतम के पिता कपिलवस्तु के निर्वाचित राजा और गणतान्त्रिक शाक्यों के प्रधान थे। उनकी माता कोसल-राजवंश की कन्या थी। इस प्रकार, महावीर की तरह वह भी उच्च कुल वाले थे। गणराज्य में उत्पन्न होने के कारण उनमें कुछ समतावादी भावना आई थी।

बचपन से ही गौतम का ध्यान आध्यात्मिक चिंतन की ओर था। शीघ्र ही उनका विवाह करा दिया गया, पर दांपत्य-जीवन में उनका मन नहीं रमा। वे लोगों के सांसारिक दु:ख देख-देखकर द्रवित हो जाते और ऐसे दु:खों के निवारण का उपाय सोचने लगते। 29 वर्ष की उम्र में महावीर की ही तरह वे घर से निकल पड़े। सात वर्षों तक भटकते रहने के बाद 35 वर्ष की उम्र में बोध गया में एक पीपल के वृक्ष के नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। तबसे वे बुद्ध अर्थात प्रज्ञावान कहलाने लगे। बोधिवृक्ष

गौतम बुद्ध ने अपने ज्ञान का प्रथम प्रवचन वाराणसी के सारनाथ नामक स्थान में किया। उन्होंने लंबी-लंबी यात्रा कर-कर के अपना धर्म-संदेश दूर-दूर तक पहुँचाया। वह शरीर से खूब तगड़े थे, इसलिए वे एक दिन में 20 से 30 किलोमीटर तक पैदल चल लेते थे। वे लगातार चालीस साल तक उपदेश देते, चिंतन-मनन करते, घूमते और भटकते रहे; केवल बरसात में ही एक स्थान पर टिके रहते थे। इस लंबी अवधि में

उनका ब्राह्मणों सहित बहुत से प्रतिद्वंद्वी कट्टरपंथियों से मुकाबला हुआ, पर वे शास्त्रार्थ में सभी को पराजित करते गए। उनके धर्मप्रचार के कार्यों में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और स्त्री-पुरुष के बीच कोई भेदभाव नहीं रहता था। एक परंपरा के अनुसार गौतम बुद्ध 80 वर्ष की उम्र में 483 ई. पू. में कुशीनगर नामक स्थान में स्वर्गवासी हुए। इस स्थान की पहचान पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के कसिया नामक गाँव से की जाती है। किंतु पुरातत्व के आधार पर वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध को निश्चित रूप से छठी शताब्दी ई. पू. में रखना कठिन है। दोनों का संबंध नगरों से है जिनका उदय 500 ई. पू. तक नहीं हुआ था।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत

बुद्ध बड़े व्यावहारिक सुधारक थे। उन्होंने अपने समय की वास्तविकताओं को खुली आँखों से देखा। वे उन निरर्थक वादविवादों में नहीं उलझे जो उनके समय में **आत्मा** (जीव) और **परमात्मा** (ब्रह्म) के बारे में जोरों से चल रहे थे। उन्होंने अपने को सांसारिक समस्याओं में लगाया। उन्होंने कहा कि संसार दुःखमय है, और लोग केवल काम (इच्छा, लालसा) के कारण दुःख पाते हैं। यदि काम अर्थात् लालसा पर विजय पाई जाए तो निर्वाण प्राप्त हो जाएगा, जिसका अर्थ है कि जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाएगी।

गौतम बुद्ध ने दुःख की निवृत्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग (अष्टविध साधन) बताया। यह **अष्टांगिक मार्ग** ईसा-पूर्व तीसरी सदी के आसपास के एक ग्रंथ में बुद्ध का बताया हुआ कहा गया है। ये आठ साधन हैं-सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। यदि कोई व्यक्ति इन आठ मार्गों का अनुसरण करे तो उसे पुरोहितों के फेर में नहीं पड़ना पड़ेगा और वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेगा। उनकी शिक्षा है कि न अत्यधिक विलास करना चाहिए न अत्यधिक संयम ही। वे मध्यम मार्ग के प्रशंसक थे।

जैन तीर्थंकरों की तरह बुद्ध ने भी अपने अनुयायियों के लिए आचार-नियम (विनय) निर्धारित किए। इस आचार-संहिता के मुख्य नियम हैं- (1) पराये धन का लोभ नहीं करना, (2) हिंसा नहीं करना, (3) नशे का सेवन न करना, (4) झूठ नहीं बोलना और (5) दुराचार से दूर रहना। सामाजिक आचरण के ये नियम सामान्य रूप से प्रायः सभी धर्मों में निर्धारित हैं।

बौद्ध धर्म की विलक्षणताएँ और इसके प्रसार के कारण

बौद्ध धर्म ईश्वर और आत्मा को नहीं मानता है। इस बात को हम भारत के धर्मों के इतिहास में क्रांति कह सकते हैं। बौद्ध धर्म शुरू में दार्शनिक वाद-विवादों के जंजाल में फंसा नहीं था, इसलिए यह सामान्य लोगों को भाया। यह विशेष रूप से निम्न वर्णों का समर्थन पा सका, क्योंकि इसमें वर्ण व्यवस्था की निंदा की गई है। बौद्ध संघ का दरवाजा हर किसी के लिए खुला रहता था चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। संघ में प्रवेश का अधिकार स्त्रियों को भी था, जिससे उन्हें पुरुषों की बराबरी प्राप्त होती थी। ब्राह्मण धर्म की तुलना में बौद्ध धर्म अधिक उदार और अधिक जनतांत्रिक था।

बौद्ध धर्म वैदिक क्षेत्र के बाहर के लोगों को अधिक भाया, और वे लोग आसानी से इस धर्म में दीक्षित हुए। मगध के निवासी इस धर्म की ओर तुरंत उन्मुख हुए, क्योंकि कट्टर ब्राह्मण उन्हें नीच मानते थे और मगध आर्यों की पुण्य भूमि आर्यावर्त्त अर्थात् आधुनिक उत्तर प्रदेश की सीमा के बाहर पड़ता था। अभी भी उत्तर बिहार के लोग गंगा के दक्षिण मगध में मरना पसंद नहीं करते हैं।

बुद्ध के व्यक्तित्व और धर्मोपदेश करने की उनकी प्रणाली दोनों ही बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायक हुए। वे भलाई करके बुराई को भगाने तथा प्रेम करके घृणा को भगाने का प्रयास करते थे। निंदा और गाली से उन्हें क्रोध नहीं आता था। कठिन स्थितियों में भी वे धीर और शांत बने रहते थे, और अपने विरोधियों का सामना चातुर्य और प्रत्युत्पन्न मति से करते थे। कहा जाता है कि एक बार एक अज्ञानी व्यक्ति ने उन्हें गालियाँ दीं। वे चुपचाप सुनते रहे। उस व्यक्ति का गाली देना बंद हुआ तो उन्होंने पूछा : "वत्स, यदि कोई दान को स्वीकार नहीं करे तो उस दान का क्या होगा?" विरोधी ने उत्तर दिया: "वह देने वाले के पास ही रह जाएगा।" तब बुद्ध ने कहा : "वत्स, मैं तुम्हारी गालियाँ लेना स्वीकार नहीं करता।"

जनसाधारण की भाषा पालि को अपनाने से भी बौद्ध धर्म के प्रचार में बल मिला। इससे आम जनता में बौद्ध धर्म का प्रचार आसान हुआ। गौतम बुद्ध ने **संघ** की स्थापना की, जिसमें हर व्यक्ति जाति या लिंग के भेद के बिना प्रवेश कर सकता था। भिक्षुओं के लिए एक ही शर्त थी कि उन्हें संघ के नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करना होगा। बौद्ध संघ में शामिल होने के बाद इसके सदस्यों को इन्द्रियनिग्रह, अपरिग्रह (धनहीनता) और श्रद्धा का संकल्प लेना पड़ता था। इस प्रकार बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख अंग थे : **बुद्ध, संघ** और **धम्म**। संघ के तत्वावधान में सुगठित प्रचार की व्यवस्था होने से बुद्ध के जीवन काल में ही बौद्ध धर्म ने तेजी से प्रगति की। मगध, कोसल और कौशाम्बी के राजाओं, अनेक गणराज्यों और उनकी जनता ने बौद्ध धर्म को अपना लिया।

बुद्ध के निर्वाण के दो सौ साल बाद प्रसिद्ध मौर्य सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। यह युग-प्रवर्तक घटना सिद्ध हुई। अशोक ने अपने धर्मदूतों के द्वारा इस धर्म को मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया और श्रीलंका में फैलाया और इसे विश्व धर्म का रूप दिया। आज भी श्रीलंका, बर्मा और तिब्बत में तथा चीन और जापान के कुछ भागों में बौद्ध धर्म प्रचलित हैं। अपनी जन्मभूमि से तो यह धर्म लुप्त हो गया, परंतु दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया और पूर्वी एशिया के देशों में जीता-जागता है।

बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण

ईसा की बारहवीं सदी आते-आते बौद्ध धर्म भारत से लुप्त-सा हो गया। कुछ परिवर्तित रूप में यह बंगाल और बिहार में ग्यारहवीं सदी तक रहा, किंतु उसके बाद यह धर्म सारे देश से पूर्णतः चला गया। ऐसा क्यों हुआ? हम देखते हैं कि आरंभ में हर धर्म सुधार की भावना से प्रेरित होता है, परंतु कालक्रमेण वह उन्हीं कर्मकांडों और अनुष्ठानों के जाल में फंस जाता है जिनकी वह आरंभ में निंदा करता था। बौद्ध धर्म में भी स्वरूप-परिवर्तन का ऐसा ही चक्र चला। इसमें भी ब्राह्मण-धर्म की वे

बुराइयाँ घुस गईं जिनके विरुद्ध इसने आरंभ में लड़ाई छेड़ी थी। बौद्ध धर्म की चुनौती का मुकाबला करने के लिए ब्राह्मणों ने अपने धर्म को सुधारा। उन्होंने गोधन की रक्षा पर बल दिया तथा स्त्रियों और शूद्रों के लिए भी धर्म का मार्ग प्रशस्त किया। दूसरी ओर बौद्ध धर्म में विकृतियाँ आती गईं। धीरे-धीरे बौद्ध भिक्षु जनजीवन की मुख्य धारा से कटते गए। उन्होंने जनसामान्य की भाषा पालि को छोड़ दिया और संस्कृत को ग्रहण कर लिया जो केवल विद्वानों की भाषा थी। ईसा की पहली सदी से वे बड़ी मात्रा में प्रतिमा-पूजन करने लगे और उपासकों से खूब चढ़ावा लेने लगे। इस चढ़ावे के अतिरिक्त बौद्ध विहारों को राजाओं से भी भारी-भारी संपत्ति के दान मिलने लगे। इन सभी से बौद्ध भिक्षुओं का जीवन सुख का जीवन बन गया। नालंदा जैसे बौद्ध विहार तो दो-दो सौ गाँवों से कर तहसीलते थे। सातवीं सदी के आते-आते बौद्ध विहार विलासी लोगों के प्रभुत्व में आ गए और उन कुकर्मों के केन्द्र बन गए जिनका गौतम बुद्ध ने कड़ाई के साथ निषेध किया था। बौद्ध धर्म का यह नया रूप वज्रयान नाम से प्रसिद्ध हुआ। विहारों में अपार संपत्ति और स्त्रियों के प्रवेश होने से उनकी स्थिति और भी बिगड़ी। बौद्ध भिक्षु नारी को भोग की वस्तु समझने लगे। कहा गया है कि एक समय बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनंद से कहा था : "यदि विहारों में स्त्रियों का प्रवेश न हुआ होता तो यह धर्म हजार वर्ष टिकता, लेकिन जब स्त्रियों को प्रवेशाधिकार दे दिया गया, तो अब यह धर्म केवल पाँच सौ वर्ष टिकेगा"।

कहा जाता है कि ब्राह्मण शासक पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों को सताया। सताए जाने के कई उदाहरण ईसा की छठी-सातवीं सदियों में मिलते हैं। शैव संप्रदाय के हूण राजा मिहिरकुल ने सैंकड़ों बौद्धों को मौत के घाट उतारा। गौड़ देश के शिवभक्त शशांक ने बोधगया में उस बोधिवृक्ष को काट डाला जिसके नीचे बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। हुआन सांग ने लिखा है कि 1600 स्तूप और विहार तोड़ डाले गए, और हजारों भिक्षुओं और उपासकों को मार डाला गया। इसमें कुछ-न-कुछ सच्चाई अवश्य होगी। इस पर बौद्धों की प्रतिक्रिया कई देवमालाओं में देखी जा सकती है जहाँ बोधिसत्वों को हिंदू देवताओं के ऊपर खड़ा दिखाया गया है। मध्य काल के आरंभ में दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव दोनों संप्रदायों के लोगों ने जैनों और बौद्धों का कड़ा विरोध किया। ऐसे संघर्षों से बौद्ध धर्म अवश्य कमज़ोर हुआ होगा।

विहारों में अपार संपत्ति को देखकर तुर्की हमलावरों की ललचाई नज़र उन पर पड़ी। ये विहार उन लोभी हमलावरों के विशेष लक्ष्य हो गए। तुर्कों ने बिहार में अनेक बौद्ध भिक्षुओं का संहार किया यद्यपि कुछ भिक्षु जान बचाकर नेपाल और तिब्बत भाग गए। मोटे तौर पर, बारहवीं सदी तक बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से करीब-करीब गायब हो चुका था।

बौद्ध धर्म की उपादेयता और प्रभाव

संघ बद्ध बौद्ध धर्म अंततः लुप्त हो जाने पर भी भारत के इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ गया। ईसा-पूर्व छठी सदी में पूर्वोत्तर भारत की जनता के सामने जो समस्याएँ खड़ी थीं उनकी ओर बौद्धों ने प्रबल जागरूकता दिखाई। लोहे के फालवाले हल से चली खेती, व्यापार और सिक्कों

के प्रचलन से व्यापारियों और अमीरों को धन संचित करने का मौका मिला, अस्सी कोटि धन वाले व्यक्ति की भी चर्चा मिलती है। इस सभी से स्वभावतः सामाजिक और आर्थिक असमानता भारी मात्रा में उत्पन्न हुई। इसलिए बौद्ध धर्म ने घोषणा की कि धन-संचय नहीं करना चाहिए। इस धर्म के अनुसार दरिद्रता घृणा, क्रूरता और हिंसा की जननी है। इन बुराइयों को दूर करने के लिए बुद्ध ने उपदेश दिया कि किसानों को बीज और अन्य सुविधाएँ मिलनी चाहिए, व्यापारियों को धन मिलना चाहिए और श्रमिकों को मज़दूरी मिलनी चाहिए। इन उपायों की अनुशंसा सांसारिक दरिद्रता को दूर करने के लिए की गई। बौद्ध धर्म यह भी उपदेश देता है कि जो दरिद्र व्यक्ति भिक्षुओं को भीख देगा वह अगले जन्म में धनवान होगा।

भिक्षुओं के आचरण के लिए बनाई गई नियम संहिता ईसा पूर्व छठी और पांचवीं सदी वाले पूर्वोत्तर भारत की भौतिक स्थिति के प्रति हो रही प्रतिक्रिया की झलक देती है। इसमें भिक्षुओं के भोजन, परिधान और यौन संबंध पर अंकुश लगाए गए हैं। भिक्षु सोना और चांदी ग्रहण नहीं कर सकते थे, खरीद-बिक्री नहीं कर सकते थे। ये नियम तो बुद्ध की मृत्यु के बाद शिथिल कर दिए गए; परंतु आरंभिक नियम एक प्रकार के आदिम साम्यवाद की ओर लौटने का संकेत देते हैं, जो साम्यवाद हमें व्यापार और उन्नत खेती न करने वाले कबायली समाज में लक्षित होता है। भिक्षुओं के लिए बनाए गए ये आचार-नियम पूर्वोत्तर भारत में ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी में विकसित मुद्रा के प्रचलन, निजी संपत्ति और विलासपूर्णजीवन के विरुद्ध आंशिक विद्रोह की झलक देते हैं। उन दिनों मुद्रा और संपत्ति विलास की वस्तुएँ मानी जाती थीं।

बौद्ध धर्म में ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी के भौतिक जीवन में उत्पन्न बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया और साथ ही लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में हुए परिवर्तनों को स्थायी बनाने की ओर भी कदम उठाया गया। संघ में कर्जदारों का प्रवेश वर्जित कर दिया गया। इससे स्पष्टतः महाजनों और धनवानों को लाभ हुआ, क्योंकि कर्जदार अब संघ में शामिल होकर उनके शिकंजे से मुक्त नहीं हो सकते थे। इसी प्रकार संघ ने दासों के प्रवेश-निषेध का नियम बनाया जो दासों के स्वामियों के लिए लाभकर हुआ। इस प्रकार गौतम बुद्ध के उपदेशों और नियमों में भौतिक जीवन में आए परिवर्तनों को पूरी ध्यान ध्यान में रखा गया और सैद्धान्तिक रूप से उसे दृढ़ बनाया गया।

यों तो बौद्ध भिक्षु संसार से विरक्त रहते और बार-बार लोभी ब्राह्मणों की निंदा करते थे, फिर भी कई मामलों में ब्राह्मणों से उनका साम्य था। दोनों उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते थे, और समाज से मिली भीख या दान पर जीते थे। दोनों ही बताते थे कि परिवार का पालन करना, निजी संपत्ति की रक्षा करना और राजा का आदर करना अच्छा है। दोनों वर्गमूलक समाज व्यवस्था के समर्थक थे। भेद इतना ही था कि भिक्षु वर्ण को गुण और कर्म के अनुसार मानते थे, पर ब्राह्मण जन्म के अनुसार।

निःसंदेह बौद्ध धर्म का लक्ष्य था मानव को मुक्ति या निर्वाण का मार्ग दिखाना। जो लोग पुराने कबायली समाज के विघटन और निजी संपत्ति के प्रचलन से उत्पन्न हुई घोर सामाजिक

असमानताओं को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे उन्हें तो बौद्ध धर्म में कुछ राहत मिली, किंतु ऐसी राहत तो भिक्षुओं के लिए ही संभव थी; गृहस्थ अनुयायियों के लिए तो छुटकारे का कोई उपाय नहीं था, अतः उन्हें मौजूदा स्थिति से समझौता कर लेने का ही उपदेश दिया गया।

बौद्ध धर्म ने स्त्रियों और शूद्रों के लिए अपने द्वार खोलकर समाज पर गहरा प्रभाव जमाया। ब्राह्मण धर्म ने स्त्रियों और शूद्रों को एक ही दर्जे में रखा और उनके लिए न यज्ञोपवीत संस्कार का विधान किया और न वेदाध्ययन का। बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर उन्हें इस अधिकार-हीनता से मुक्ति मिल गई।

बौद्ध धर्म ने अहिंसा और जीवमात्र के प्रति दया की भावना जगाकर देश में पशुधन की वृद्धि की। प्राचीनतम बौद्ध ग्रंथ सुत्तनिपात में गाय को भोजन, रूप और सुख देने वाली (अन्नदा वन्नदा सुखदा) कहा गया है और इस कारण उसकी रक्षा करने का उपदेश दिया गया है। यह उपदेश ऐन मौके पर आया जब आर्येतर लोग मांस के लिए और आर्य लोग धर्म के लिए पशुधन का संहार करते जा रहे थे। ब्राह्मण धर्म में गाय की पूजनीयता और अहिंसा पर जोर पड़ने का कारण स्पष्टतः बौद्ध धर्म के उपदेशों का प्रभाव था।

बौद्ध धर्म ने बौद्धिक और साहित्यिक जगत् में भी चेतना जगाई। इसने लोगों को यह सुझाया कि किसी वस्तु को यों ही नहीं, बल्कि भली-भांति गुणदोष का विवेचन करके ग्रहण करें। बहुत हद तक अंधविश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। इससे लोगों में बुद्धिवाद पनपा। अपने नए धर्म के सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के लिए बौद्धों ने नए प्रकार से साहित्यसर्जना की। उन्होंने अपने लेखन से पालि को समृद्ध किया। आरंभिक पालि साहित्य तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है। प्रथम कोटि में बुद्ध के वचन और उपदेश हैं, दूसरी में संघ के सदस्यों द्वारा पालनीय नियम आते हैं, और तीसरी में धम्म का दार्शनिक विवेचन है।

ईसा की प्रथम तीन सदियों में पालि और संस्कृत को मिला कर बौद्धों ने एक नयी भाषा चलायी जिसे मिश्रित (hybrid) संस्कृत कहते हैं। बौद्धों की साहित्यिक गतिविधि मध्य युग में भी चलती रही। पूर्वी भारत की कुछ प्रख्यात अपभ्रंश कृतियाँ बौद्धों की देन है। बौद्ध विहार महान् विद्याकेन्द्र हो गए, जिन्हें आवासी विश्वविद्यालय की संज्ञा दी जा सकती है। इन में बिहार में नालंदा और विक्रमशीला तथा गुजरात में वलभी उल्लेखनीय है।

प्राचीन भारत की कला पर बौद्ध धर्म का स्पष्ट प्रभाव है। भारत में पूजित पहली मानव-प्रतिमाएँ शायद बुद्ध की ही हैं। श्रद्धालु उपासकों ने बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं को पत्थरों में उकेरा। बिहार के गया में और मध्य प्रदेश के साँची और भरहुत में जो चित्रफलक (पैनल) मिले हैं वे बौद्ध कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। ईसा की पहली ही सदी से गौतम बुद्ध की फलक-प्रतिमाएँ बनने लगीं। भारत के पश्चिमोत्तर सीमांत में यूनान और भारत के मूर्तिकारों ने नए ढंग की कला की सृष्टि करने के लिए सम्मिलित रूप से प्रयास किया जिसका परिणाम गंधार कला के नाम से विख्यात है। इस प्रदेश में बनी प्रतिमाओं में देशी और विदेशी दोनों प्रभाव स्पष्ट हैं। भिक्षुओं के निवास के लिए चट्टान तराश-तराश कर कमरे बनाए गए और इस प्रकार गया की बराबर

पहाड़ियों में और पश्चिम भारत में नासिक के आसपास की पहाड़ियों में गुहा-वास्तुशिल्प का आरंभ हुआ। बौद्ध कला दक्षिण में कृष्णा डेल्टा में और उत्तर में मथुरा में फूली-फली।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :
   आर्यावर्त, वर्णव्यवस्था, द्विज, तीर्थंकर, निर्वाण, जिन, अहिंसा, संघ, धम्म।
2. ईसा पूर्व छठी सदी में नए धार्मिक संप्रदायों के उद्भव के कारण बताएँ।
3. जैन धर्म के मुख्य उपदेश क्या-क्या हैं? भारतीय समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।
4. बौद्ध धर्म के मुख्य उपदेशों का वर्णन करें। भारतीय समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।
5. जैन और बौद्ध धर्म के उद्भव की सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी और इन दोनों धर्मों के सामाजिक पहलू क्या थे?
6. बताएँ कि बौद्ध धर्म के प्रसार के क्या-क्या कारण थे। बौद्धसंघ के संघटन और उसकी भूमिका का विवेचन करें।
7. भारत में बौद्ध धर्म का तो पतन हो गया पर जैन धर्म कुछ भागों में जमा रहा, इसके कारण की समीक्षा करें।
8. मगध नए-नए धार्मिक आंदोलनों का केन्द्र क्यों हुआ?
9. बताएँ कि बौद्ध धर्म का पतन हो जाने के बाद भी भारत में इस धर्म का प्रभाव कैसे और किन-किन पहलुओं में जमा रहा।
10. बौद्ध और जैन संप्रदायों को धार्मिक सुधार का आंदोलन क्यों कहा जाता है?
11. भारतीय साहित्य और कला में बौद्ध और जैन संप्रदायों के योगदान का वर्णन करें। इस परियोजना के अंगस्वरूप, जैन और बौद्ध साहित्य तथा चित्रों की सूची बनाएँ।
12. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर महावीर और बुद्ध के जीवन से संबद्ध स्थलों को तथा जैन और बौद्ध कला एवं स्थापत्य के स्थानों को अंकित करें।

अध्याय 11

जनपद-राज्य और प्रथम मगध साम्राज्य

ईसा-पूर्व छठी सदी से पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार में लोहे का व्यापक प्रयोग होने से बड़े-बड़े प्रादेशिक या जनपद राज्यों के निर्माण के लिए उपयुक्त परिस्थिति बन गई। लोहे के हथियारों के कारण योद्धा-वर्ग महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगे। खेती के नए औज़ारों और उपकरणों की मदद से किसान आवश्यकता से अधिक अनाज पैदा करने लगे। अब राजा अपने सैनिक और प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए इस फाजिल अनाज को बटोर सकता था। यह फाजिल अनाज उन शहरों को भी मिल सकता था जो ईसा-पूर्व छठी-पांचवीं सदियों में उदित हुए थे। इन भौतिक लाभों के कारण किसानों का अपनी जमीन से चिपक जाना स्वाभाविक था। साथ ही वे अपने पड़ोस के क्षेत्रों में भी जमीन हड़प कर फैलने लगे। शहरों को अपने कार्यकलाप का आधार बनाकर राज्यों को खड़े होते देख लोगों में प्रादेशिक भावना प्रबल हुई। लोगों की जो प्रबल निष्ठा अपने **जन** या कबीले के प्रति थी वह अब अपने **जनपद** या स्वसंबद्ध भूभाग के प्रति हो गई।

महाजनपद

बुद्ध के समय में हम 16 बड़े-बड़े राज्य पाते हैं जो **महाजनपद** कहलाते थे। इनमें अधिकतर राज्य विंध्य के उत्तर में थे और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत से बिहार तक फैले हुए थे। इनमें मगध, कोसल, वत्स और अवन्ति ये चार शायद अधिक शक्तिशाली थे। पूरब से शुरू करने पर पहले अंग जनपद था जिसमें आधुनिक मुंगेर और भागलपुर जिले पड़ते हैं। इसकी राजधानी चंपा थी, जहाँ ईसा-पूर्व छठी सदी से आबादी होने के प्रमाण मिलते हैं। यहाँ पांचवी सदी ई.पू. के लगभग का मिट्टी का किला मिला है। अंततोगत्वा अंग जनपद को पड़ोस के शक्तिशाली मगध राज्य ने अपने में मिला लिया।

मगध में आधुनिक पटना और गया ज़िला तथा शाहाबाद का कुछ हिस्सा पड़ता था। यह अपने समय का सबसे प्रमुख राज्य बन गया। गंगा के उत्तर में आज के तिरहुत प्रमंडल में वज्जियों का राज्य था। यह आठ जनों का संघ था। इनमें सबसे प्रबल लिच्छवि थे। इनकी राजधानी वैशाली में थी, जिसकी पहचान आधुनिक वैशाली ज़िले के बसाढ़ नामक गांव से की जाती है। पुराण वैशाली को अधिक प्राचीन नगरी बताते हैं, परंतु, पुरातत्व के अनुसार बसाढ़ की स्थापना ईसा-पूर्व छठी सदी से पहले नहीं हुई थी।

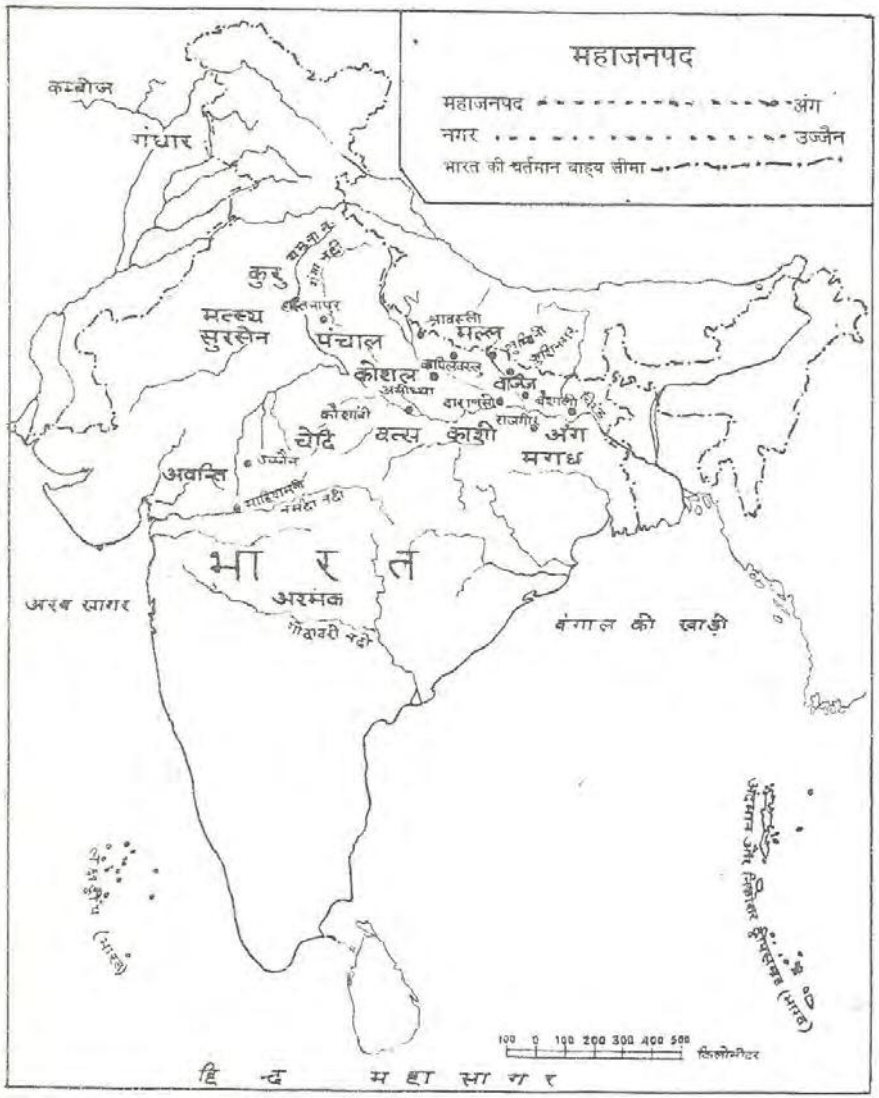

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

इसके पश्चिम में काशी जनपद था, जिसकी राजधानी वाराणसी थी। राजघाट में की गई खुदाई से पता चलता है कि सब से पुराना वास वहाँ लगभग 500 ई. पू. का था, और उस समय नगर मिट्टी के बांध से घिरा हुआ था। जान पड़ता है कि आरंभ में काशी सबसे शक्तिशाली राज्य था। परंतु बाद में उसने कोसल की शक्ति के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।

कोसल जनपद में पूर्वी उत्तर प्रदेश पड़ता था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जिसकी पहचान उत्तर प्रदेश के गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर के सहेत-महेत स्थान से की जाती है। खुदाई से जानकारी मिली है कि ईसा पूर्व-छठी सदी में यहाँ कोई बड़ी बस्ती नहीं थी। लेकिन हम वहाँ मिट्टी के किले की शुरूआत पाते हैं। कोसल में महत्त्वपूर्ण नगरी अयोध्या भी थी, जिसका संबंध रामकथा से जोड़ा जाता है। परंतु उत्खनन से पता चलता है कि 500 ई. पू. के पहले यहाँ आबादी नाम मात्र की थी। कोसल में शाक्यों का कपिलवस्तु गणराज्य भी शामिल था। कपिलवस्तु राजधानी की पहचान बस्ती जिले के पिपरहवा स्थान से की गई है। पिपरहवा 500 ई. पू. के पहले आबाद नहीं दिखाई पड़ता है। शाक्यों की दूसरी राजधानी पिपरहवा से 15 किलोमीटर दूर नेपाल में लुम्बिनी नामक स्थान पर थी। अशोक के एक अभिलेख में इसे गौतम बुद्ध का जन्मस्थान कहा गया है। नेपाल के लुम्बिनी नामक स्थान में बुद्ध का जन्म हुआ और यहाँ उनका लालन-पालन हुआ।

कोसल के पड़ोस में मल्लों का गणराज्य था। इसकी सीमा वज्जि राज्य की उत्तरी सीमा से जुड़ी थी। मल्लों की राजधानी कुसीनारा में थी, यहाँ बुद्ध की मृत्यु हुई थी। कुसीनारा की पहचान देवरिया जिले के कसिया नामक स्थान से की गई है।

पश्चिम की ओर, यमुना के तट पर वत्स जनपद था। इसकी राजधानी इलाहाबाद के पास कौशांबी में थी। वत्स लोग वही कुरुजन थे जो हस्तिनापुर छोड़कर कौशांबी में आकर बसे थे। उन्होंने कौशांबी को इसलिए पसंद किया कि वह स्थल गंगा-यमुना के संगम के नज़दीक था। जैसा कि उत्खननों से पता चला है, ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी में राजधानी कौशांबी की मिट्टी से किलेबंदी की गई थी।

हमें पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्राचीन कुरु पंचाल जनपदों के अस्तित्व का भी पता है, परंतु उत्तर वैदिक काल की तरह अब उनका राजनीतिक महत्त्व नहीं रह गया था।

अवन्ति राज्य मध्य मालवा और मध्य प्रदेश के सीमावर्ती नगरों में फैला था। इस राज्य के दो भाग थे, उत्तर भाग की राजधानी उज्जैन थी और दक्षिण भाग की माहिष्मती। उत्खननों से पता चलता है कि ये दोनों नगर ईसा-पूर्व छठी सदी से महत्त्व प्राप्त करते गए, और अंततोगत्वा उज्जैन ने माहिष्मती को पछाड़ दिया। यहाँ बड़े पैमाने पर लौहकर्म का विकास हुआ और इसकी मज़बूत किलेबंदी की गई।

ईसा-पूर्व छठी सदी के आगे के भारत का राजनीतिक इतिहास इन राज्यों के बीच प्रभुत्व के लिए संघर्षों का इतिहास है। अंततः मगध राज्य सबसे शक्तिशाली बन गया और साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

मगध साम्राज्य की स्थापना और विस्तार

बिम्बिसार के शासन काल में मगध ने विशिष्ट

स्थान प्राप्त किया। वह हर्यंक कुल का था तथा बुद्ध का समकालीन था। उसके द्वारा विजय और विस्तार की शुरू की गई नीति अशोक की कलिंग विजय के साथ समाप्त हुई। बिम्बिसार ने अंग देश पर अधिकार कर लिया और इसका शासन अपने पुत्र अजातशत्रु को सौंप दिया। बिम्बिसार ने वैवाहिक संबंधों से भी अपनी स्थिति को मज़बूत किया। उसने तीन विवाह किए। उसकी प्रथम पत्नी कोसलराज की पुत्री और पसेनजित् की बहन थी। उस के साथ दहेज में प्राप्त काशी ग्राम से उसे एक लाख की आय होती थी। इससे पता चलता है कि राजस्व सिक्कों में वसूल किया जाता था। इस विवाह से कोसल के साथ उसकी शत्रुता समाप्त हो गई और इससे यह संभव हो गया कि वह दूसरे राज्यों के साथ निपट सके। उसकी दूसरी पत्नी वैशाली की लिच्छवि -राजकुमारी चेल्लणा थी जिसने अजातशत्रु को जन्म दिया, और तीसरी रानी पंजाब के मद्र कुल के प्रधान की पुत्री थी। विभिन्न राजकुलों से वैवाहिक संबंधों के कारण बिम्बिसार को बड़ी राजनीतिक प्रतिष्ठा मिली और इस प्रकार मगध राज्य को पश्चिम और उत्तर की ओर फैलाने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

मगध की असली शत्रुता अवन्ति से थी, जिसकी राजधानी उज्जैन में थी। इसके राजा चण्डप्रद्योत महासेन की बिम्बिसार से लड़ाई हुई थी, किंतु दोनों ने अंत में दोस्त बन जाना ही उपयुक्त समझा। बाद में जब प्रद्योत को पीलिया रोग हो गया तो बिम्बिसार ने अवन्तिराज के अनुरोध पर अपने राजवैद्य जीवक को उज्जैन भेजा था। गंधार के राजा के साथ हुए युद्ध में प्रद्योत को विजय नहीं मिली थी, किंतु गंधार के इसी राजा ने बिम्बिसार के पास एक पत्र और दूतमंडल भेजा था। इस प्रकार, विजय और कूटनीति से बिम्बिसार ने मगध को ईसा-पूर्व छठी सदी में सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बना दिया था। बताया जाता है कि उसके राज्य में 80,000 गाँव थे पर यह संख्या अतिरंजित मालूम पड़ती है।

मगध की पहली राजधानी राजगीर में थी उस समय इसे गिरिव्रज कहते थे। यह स्थल पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था और उनके खुले भागों को पत्थरों की दीवारों से चारों ओर से घेर दिया गया था। इस तरह राजगीर अभेद्य दुर्ग हो गया था।

बौद्ध ग्रंथों के अनुसार बिम्बिसार ने लगभग 544 से 492 ई. पू. तक बावन साल शासन किया। उसके बाद उसका पुत्र अजातशत्रु (492-460 ई. पू) सिंहासन पर बैठा। अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या करके सिंहासन पर कब्जा किया था। उसके शासन काल में बिम्बिसार राजकुल का वैभव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। उसने दो लड़ाइयाँ लड़ीं, और तीसरी के लिए तैयारियाँ की थीं। अपने समूचे शासन-काल में उसने विस्तार की आक्रामक नीति से काम लिया। इस कारण काशी और कोसल ने मिलकर उसका मुकाबला किया। मगध और कोसल के बीच लंबे समय तक संघर्ष जारी रहा। अंत में अजातशत्रु की विजय हुई। कोसल नरेश को अजातशत्रु के साथ अपनी पुत्री का ब्याह करने और अपने जमाई को काशी सौंप कर सुलह करने के लिए विवश होना पड़ा।

अजातशत्रु ने रिश्तेदारी का कोई लिहाज नहीं

रखा। यद्यपि उसकी माता लिच्छवि-कुल की राजकुमारी थी, फिर भी उसने वैशाली पर हमला किया। बहाना यह ढूँढा गया कि लिच्छवि कोसल के मित्र हैं। इसने लिच्छवियों में फूट डालने के लिए षड्यंत्र रचा और अंत में उन पर हमला करके उन्हें हराया और उनके स्वातंत्र्य को नष्ट कर डाला। वैशाली को नष्ट करने में उसे सोलह साल का लंबा अर्सा लगा। अंत में उसे इसलिए सफलता मिली कि उसने पत्थर फेंकने वाले एक युद्ध-यंत्र का इस्तेमाल किया। उसके पास एक ऐसा रथ था, जिसमें गदा जैसा हथियार जुड़ा हुआ था। इससे युद्ध में लोगों को बड़ी संख्या में मारा जा सकता था। इस प्रकार, काशी और वैशाली को मिला लेने के बाद मगध के साम्राज्य का और अधिक विस्तार हुआ।

अजातशत्रु के प्रतिद्वंद्वियों में अवन्ति का शासक अधिक शक्तिशाली था। अवन्ति के राजाओं ने कौशांबी के वत्सों को हराया था और अब वे मगध पर हमला करने की धमकी दे रहे थे। इसी खतरे का सामना करने के लिए अजातशत्रु ने राजगीर की किलेबंदी की। किलेबंदी की दीवारों के अवशेष आज भी देखने को मिलते हैं। परंतु अजातशत्रु के जीवनकाल में अवन्ति को मगध पर हमला करने का अवसर नहीं मिला।

अजातशत्रु के बाद उदायिन् (460-444 ई. पू.) मगध की गद्दी पर बैठा। उसके शासन की महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि उसने पटना में गंगा और सोन के संगम पर एक किला बनवाया। इसका कारण यह था कि पटना मगध साम्राज्य के केन्द्र भाग में पड़ता था। मगध का साम्राज्य अब उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में छोटानागपुर की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। पटना की स्थिति, जैसा कि आगे पता चलेगा, सामरिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की थी।

उदायिन् के बाद शिशुनागों के वंश का शासन शुरू हुआ। वे राजधानी को कुछ समय के लिए वैशाली ले गए। अवन्ति (जिसकी राजधानी उज्जैन थी) की शक्ति को तोड़ देना उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी। इसके साथ ही अवन्ति और मगध के बीच की सौ साल पुरानी शत्रुता का अंत हो गया। इसके बाद अवन्ति राज्य मगध साम्राज्य का हिस्सा बन गया और मौर्य साम्राज्य के अंत समय तक बना रहा।

शिशुनागों के बाद नंदों का शासन शुरू हुआ। ये मगध के सबसे शक्तिशाली शासक सिद्ध हुए। इनका शासन इतना शक्तिशाली था कि सिकन्दर ने, जो उस समय पंजाब पर हमला कर चुका था, पूर्व की ओर आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं की। नंदों ने कलिंग को जीत कर मगध की शक्ति को बढ़ाया। विजय स्मारक के रूप में वे कलिंग से जिन की मूर्ति उठा लाए थे। ये सभी बातें महापद्म नंद के शासनकाल में घटित हुईं। उसने अपने को एकराट कहा है। जान पड़ता है कि उसने न केवल कलिंग पर कब्जा किया, बल्कि उसके खिलाफ विद्रोह करने वाले कोसल को भी हथिया लिया।

नंद शासक परम धनी और शक्तिशाली थे। कहा जाता है कि इनकी सेना में 200,000 पदाति, 20,000 घुड़सवार और 3,000 से लेकर 6,000 तक हाथी थे। इतनी विशाल सेना का रखरखाव अच्छी-खासी प्रभावी कर-संग्रह प्रणाली द्वारा ही संभव है। जो भी हो नंदों पर चढ़ाई करने की सिकंदर को हिम्मत नहीं हुई।

बाद के नंद शासक दुर्बल और अलोकप्रिय सिद्ध हुए। उनके शासन के स्थान पर मगध में मौर्य वंश का शासन स्थापित हुआ। मौर्यों के

शासन काल में मगध का वैभव अपने शिखर पर पहुँच गया था।

मगध की सफलता के कारण

मौर्यों के उत्थान के पहले की दो सदियों में मगध के साम्राज्य के विकास का दौर समकालीन ईरानी साम्राज्य के दौर के समान रहा। इस काल में भारत में सबसे बड़े राज्य की स्थापना बिम्बिसार, अजातशत्रु और महापद्म नंद जैसे कई साहसी और महत्त्वाकांक्षी शासकों के प्रयासों से हुई थी। इन्होंने अच्छे या बुरे हर उपाय से अपने राज्यों का विस्तार किया और उन्हें मजबूत बनाया। परंतु मगध के विस्तार का यही एक कारण नहीं था।

कुछ और महत्त्वपूर्ण कारण भी थे। लौह युग में मगध की भौगोलिक स्थिति बड़ी उपयुक्त थी, क्योंकि लोहे के समृद्ध भंडार मगध की आरंभिक राजधानी राजगीर से बहुत दूर नहीं थे। समृद्ध लौह खनिज के भंडार समीप ही सुविधा से उपलब्ध होने के कारण मगध के शासक अपने लिए प्रभावशाली हथियार तैयार करा सके। उनके विरोधी ऐसे हथियार आसानी से नहीं प्राप्त कर सकते थे। लोहे की खानें पूर्वी मध्य प्रदेश में भी मिलती हैं, जो उज्जैन राजधानी वाले अवन्ति राज्य से अधिक दूर नहीं थीं। 500 ई. पू. के आसपास उज्जैन में निश्चय ही लोहे को गलाने और तपाकर ढालने का भी काम होता था। वहाँ के लोहार संभवतः बहुत अच्छी किस्म के हथियार तैयार करते थे। यही कारण है कि उत्तर भारत की प्रभुता के लिए अवन्ति और मगध के बीच कड़ा संघर्ष हुआ। उज्जैन पर कब्जा करने में मगध को लगभग सौ साल का समय लगा।

मगध के लिए कुछ और भी अनुकूल परिस्थितियाँ थीं। मगध की दोनों राजधानियों-प्रथम राजगीर और द्वितीय पाटलिपुत्र-सामरिक दृष्टि से परम महत्त्वपूर्ण स्थानों पर थीं। राजगीर पाँच पहाड़ियों की शृंखला से घिरा था, इसलिए वह दुर्भेद्य था। तोपों का आविष्कार बहुत बाद में हुआ। उन दिनों राजगीर जैसे दुर्ग को तोड़ना आसान काम नहीं था। ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी में मगध के शासक अपनी राजधानी पाटलिपुत्र ले गए। केन्द्र भाग में स्थित इस स्थल के साथ सभी दिशाओं से संचार-संबंध स्थापित किए जा सकते थे। पाटलिपुत्र गंगा, गंडक और सोन नदियों के संगम पर था, और पाटलिपुत्र से थोड़ी दूरी पर घागरा नदी भी गंगा से मिलती थी। प्राक्-औद्योगिक दिनों में जब यातायात में बड़ी कठिनाइयाँ थीं, नदी-मार्गों को पकड़ करके ही सेना उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूरब की ओर आगे बढ़ती थी। इसके अलावा लगभग चारों ओर से नदियों द्वारा घिरे होने के कारण पटना की स्थिति अभेद्य हो गई थी। सोन और गंगा इसे पश्चिम और उत्तर की ओर से घेरे हुए थीं, तो पुनपुन दक्षिण और पूर्व की ओर से। इस प्रकार पाटलिपुत्र सही माने में एक जलदुर्ग था। उन दिनों इस नगर पर कब्जा करना आसान नहीं था।

मगध राज्य मध्य गंगा के मैदान के मध्य में पड़ता था। इस परम उर्वरक प्रदेश से जंगल साफ हो चुके थे। भारी वर्षा होती थी, इसलिए सिंचाई के बिना भी इलाके को उत्पादक बनाया जा सकता था। प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि इस प्रदेश में अनेक प्रकार के चावल पैदा होते थे। प्रयाग से पश्चिम के क्षेत्र की अपेक्षा यह प्रदेश कहीं अधिक उपजाऊ था। परिणामतः यहाँ के किसान

...की अनाज पैदा कर लेते थे और भरण-पोषण के बाद भी उनके पास अनाज बचता था। शासक कर के रूप में इस फ़ाजिल उपज को एकत्र कर लेते थे।

मगध के शासकों ने नगरों के उत्थान और धातु के बने सिक्कों के प्रचलन से भी लाभ उठाया। पूर्वोत्तर भारत में व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि के कारण शासक अब वाणिज्य वस्तुओं पर चुंगी लगा सकते थे, और इस प्रकार अपनी सेना के खर्च के लिए धन एकत्र कर सकते थे।

सैनिक संगठन के मामले में मगध को एक खास सुविधा प्राप्त थी। भारतीय राज्य घोड़े और रथ के उपयोग से भली-भाँति परिचित थे, किंतु मगध ही पहला राज्य था जिसने अपने पड़ोसियों के विरुद्ध युद्ध में हाथियों का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया। देश के पूर्वांचल से मगध के शासकों के पास हाथी पहुँचते थे। यूनानी स्रोतों से ज्ञात होता है कि नंदों की सेना में 6,000 हाथी थे। दुर्गों को भेदने में तथा सड़कों से और अन्य यातायात-सुविधाओं से रहित प्रदेशों में और कछाड़ी क्षेत्रों में कूच करने में हाथियों का इस्तेमाल किया जा सकता था।

अंत में यह उल्लेखनीय है कि मगध का समाज रूढ़िविरोधी था। कट्टर ब्राह्मण यहाँ बसे हुए किरात और मगध लोगों को निम्न कोटि के समझते थे। परंतु वैदिक लोगों के आगमन से यहाँ जातियों का सुखद मिश्रण हुआ। चूँकि इस प्रदेश का वैदिकीकरण हाल में हुआ था, इसलिए पूर्व काल से ही वैदिक प्रभाव में आए हुए राज्यों की अपेक्षा मगध में विस्तार के लिए उत्साह अधिक था। इन्हीं सब कारणों से मगध दूसरे राज्यों को हराने में और भारत में प्रथम साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

अभ्यास

1. बताएँ कि ईसा-पूर्व छठी सदी में भारत की राजनीतिक स्थिति कैसी थी। प्राचीन भारत के इतिहास में महाजनपदों के उदय के महत्त्व का वर्णन करें।
2. साम्राज्य के रूप में मगध के उत्थान के कारणों का विवेचन करें।
3. मगध साम्राज्य के विस्तार का निरूपण करें। बताएँ कि इसके लिए मगध के शासकों ने क्या-क्या तरीके अपनाए।
4. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर ईसा-पूर्व छठी सदी में उदित महाजनपदों को अंकित करें। उन स्थानों और क्षेत्रों के आधुनिक नाम सूचित करें जहाँ ये जनपद थे।
5. महाजनपदों से संबद्ध उन स्थलों के नाम बताएँ जहाँ उत्खनन किया गया है। उत्खनित स्थलों के चित्रों को इकट्ठा करने की चेष्टा करें।

अध्याय 12

ईरानी और मकदूनियाई आक्रमण

ईरानी आक्रमण

पूर्वोत्तर भारत के छोटे-छोटे रजवाड़ों और गणराज्यों का विलय धीरे-धीरे मगध साम्राज्य में हो गया। परंतु पश्चिमोत्तर भारत की स्थिति ईसा-पूर्व छठी सदी के पूर्वार्द्ध के दौरान भिन्न थी। कंबोज, गंधार और मद्र आदि के राजा आपस में ही लड़ते रहते थे। इस क्षेत्र में मगध जैसा कोई शक्तिशाली साम्राज्य नहीं था जो इन आपस में लड़ने वाले समुदायों को संगठित साम्राज्य के रूप में परिणत कर सकता। यह क्षेत्र समृद्ध भी था। इतना ही नहीं, हिंदूकुश के दर्रों से इस क्षेत्र में बाहर से आसानी से घुसा जा सकता था।

जिस समय मगध के राजा अपना साम्राज्य बढ़ा रहे थे उस समय ईरान के हखमनी शासक भी अपना राज्य विस्तार कर रहे थे। ईरान के शासकों ने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर व्याप्त राजनीतिक फूट से फायदा उठाया। ईरानी शासक दारयवहु (देरियस) 516 ई. पू. में पश्चिमोत्तर भारत में घुस गया और उसने पंजाब, सिंधु नदी के पश्चिम के इलाके और सिंध को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। यह क्षेत्र फ़ारस (ईरान) का बीसवाँ प्रांत या क्षत्रपी बन गया। फ़ारस साम्राज्य में कुल मिलाकर अट्ठाईस क्षत्रपियाँ थीं। भारतीय क्षत्रपी में सिंधु, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत तथा पंजाब का सिंधु नदी के पश्चिम वाला हिस्सा था। यह साम्राज्य का सबसे अधिक आबाद और उपजाऊ हिस्सा था। इस क्षेत्र से 360 टैलेन्ट (मुद्रा तथा भार का प्राचीन माप) सोना राजस्व के रूप में आता था, जो फ़ारस के सभी एशियाई प्रांतों से मिलने वाले कुल राजस्व का एक -तिहाई था। भारतीय प्रजा को ईरानी फौज में भी भरती किया जाने लगा। दारयवहु के उत्तराधिकारी क्षयार्ष (ज़रसिस) ने यूनानियों के खिलाफ लंबी लड़ाई में भारतीयों को अपनी फौज में शामिल किया। ऐसा लगता है कि भारत पर सिकन्दर के हमले तक पश्चिमोत्तर भारत के हिस्से ईरानी साम्राज्य का अंग बने रहे।

संपर्क के परिणाम

भारत और ईरान का यह संपर्क करीब दो सौ सालों तक बना रहा। इससे भारत और ईरान के बीच व्यापार को बढ़ावा मिला। इस संपर्क के सांस्कृतिक परिणाम और भी महत्त्वपूर्ण हुए। ईरानी लिपिकार (कातिब) भारत में लेखन का एक खास रूप ले आए जो आगे चलकर खरोष्ठी नाम से

नशहूर हुआ। यह लिपि अरबी की तरह दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी। ईसा-पूर्व तीसरी सदी में पश्चिमोत्तर भारत में अशोक के कुछ अभिलेख इसी लिपि में लिखे गए। यह लिपि ईसा की तीसरी सदी तक इस देश में चलती रही। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में ईरानी सिक्के भी मिलते हैं, जिनसे ईरान के साथ व्यापार होने का संकेत मिलता है। किंतु यह सोचना गलत होगा कि ईरान के साथ संपर्क के परिणामस्वरूप ही आहत मुद्राएँ भारत में प्रचलित हुईं। फिर भी मौर्य वास्तु-कला पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। अशोककालीन स्मारक, विशेष कर घंटा के आकार के गुंबज, कुछ हद तक ईरानी प्रतिरूपों पर आधारित थे। अशोक के राज्यादेशों की प्रस्तावना और उनमें प्रयुक्त शब्दों में भी ईरानी प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, ईरानी शब्द दिपी के लिए अशोककालीन लेखकों ने लिपि शब्द का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त, यूनानियों को भारत की अपार संपत्ति की जो जानकारी मिली वह इन ईरानियों के जरिए ही। इस जानकारी से भारत की संपत्ति के लिए उनका लालच बढ़ गया और अंततोगत्वा भारत पर सिकन्दर ने आक्रमण कर दिया।

सिकन्दर का आक्रमण

ईसा-पूर्व चौथी सदी में विश्व पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए यूनानियों और ईरानियों के बीच संघर्ष हुए। मकदूनियावासी सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानियों ने आखिरकार ईरानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया। सिकन्दर ने न सिर्फ एशिया माइनर (तुर्की) और इराक को, बल्कि ईरान को भी जीत लिया। ईरान से वह भारत की ओर बढ़ा। स्तष्टतया वह भारत की अपार संपत्ति पर ललचाया था। इतिहास के पिता कहे जाने वाले हिरोदोतस और अन्य यूनानी लेखकों ने भारत का वर्णन अपार संपत्ति वाले देश के रूप में किया था। इस वर्णन को पढ़कर सिकन्दर भारत पर हमला करने के लिए प्रेरित हुआ। सिकन्दर में भौगोलिक अन्वेषण और प्राकृतिक इतिहास के प्रति तीव्र ललक थी। उसने सुन रखा था कि भारत की पूर्वी सीमा पर कैस्पियन सागर ही फैला है। वह विगत विजेताओं की शानदार उपलब्धियों से भी प्रभावित था। वह उनका अनुकरण कर उनसे भी आगे निकल जाना चाहता था।

पश्चिमोत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति उसकी इस योजना के लिए उपयुक्त थी। यह क्षेत्र अनेक राजतंत्रों और कबायली गणराज्यों में बँटा हुआ था, जिन्हें अपने-अपने क्षेत्र से लगाव था, और जिन राज्यों पर उनका शासन था उनसे उन्हें बड़ा गहरा प्रेम था। सिकन्दर ने पाया कि इन रजवाड़ों को एक-एक कर जीत लेना आसान है। इन इलाकों के शासकों में दो सुविख्यात थे: पहला तक्षशिला का राजा आम्भि, और दूसरा पोरस जिसका राज्य झेलम और चिनाब के बीच पड़ता था। दोनों एक साथ मिलकर सिकन्दर को आगे बढ़ने से रोक सकते थे। मगर वे दोनों संयुक्त मोर्चा नहीं बना सके और न ही खैबर दर्रे पर कोई निगरानी रखी गई।

ईरान पर विजय पा लेने के बाद सिकन्दर काबुल की ओर बढ़ा, जहाँ से खैबर दर्रा पार करते हुए वह 326 ई. पू. में भारत आया। सिंधु नदी तक पहुँचने में उसे पाँच महीने लगे। तक्षशिला के शासक आम्भि ने आक्रमणकारी के सामने तुरंत घुटने टेक दिए। सिकन्दर ने अपनी फौजी ताकत बढ़ाई और खज़ाने में हुई कमी को पूरा किया। झेलम नदी के किनारे पहुँचने पर सिकन्दर का

पहला और सबसे शक्तिशाली प्रतिरोध पोरस ने किया। सिकन्दर ने पोरस को हरा दिया, मगर वह उस भारतीय राजा की बहादुरी और साहस से बड़ा प्रभावित हुआ। इसलिए उसने उसका राज्य वापस कर दिया तथा पोरस को अपना सहयोगी बना लिया। इसके बाद वह व्यास नदी तक पहुँचा। वह पूरब की तरफ और भी बढ़ना चाहता था मगर उसकी फौज ने उसका साथ देने से इनकार कर दिया। यूनानी सैनिक लड़ते-लड़ते थक गये थे। और बीमारियों ने उन्हें धर दबाया था। भारत की गरम आबोहवा और दस सालों से लगातार विजय-अभियान में लगे रहने के कारण वे घर लौटने के लिए अत्यन्त आतुर हो गए थे। उन्हें सिंधु के किनारे भारतीय शौर्य का भी आभास मिल चुका था। इससे उनमें आगे बढ़ने की कोई इच्छा नहीं रह गई। यूनानी इतिहासकार एरियन ने लिखा है : "युद्धकला में भारतवासी अन्य तत्कालीन जनों से अत्यन्त श्रेष्ठ थे"। यूनानी सैनिकों को विशेष रूप से खबर थी कि गंगा के किनारे एक भारी शक्ति है। साफ तौर पर यह मगध राज्य के बारे में बतलाया गया था। मगध पर नंद वंश का शासन था और उसकी सेना सिकन्दर की सेना से कहीं बड़ी थी इसलिए सिकन्दर आगे बढ़ने के लिए बार-बार अपील करता रह गया पर यूनानी सैनिक टस से मस नहीं हुए। सिकन्दर ने दुःख भरे स्वर में कहा : "मैं उन दिलों में उत्साह भरना चाहता हूँ जो निष्ठाहीन और कायरतापूर्ण डर से दबे हुए हैं।" इस प्रकार वह राजा जो अपने शत्रुओं से कभी नहीं हारा अपने ही लोगों से हार मानने को मजबूर हो गया। वह वापस लौटने को बाध्य हो गया और पूर्वी साम्राज्य का उसका सपना अधूरा रह गया। वापस लौटते हुए सिकन्दर ने भारतीय सीमा के अंत तक पहुँचते-पहुँचते अनेक छोटे-छोटे गणराज्यों को पराजित कर दिया। वह भारत में लगभग उन्नीस महीने (326-325) रहा जिसके दौरान वह हमेशा लड़ाई में ही लगा रहा। उसे अपने जीते हुए भू-भाग को सुव्यवस्थित करने का शायद ही मौका मिला। फिर भी उसने कुछ प्रबंध किए। अधिकांश विजित राज्य उनके शासकों को लौटा दिए गए, जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। परंतु उसने अपने भू-भाग को तीन हिस्सों में बाँट दिया और तीन यूनानी गवर्नरों (स्थानीय शासकों) के हाथ सौंप दिया। इस क्षेत्र में अपनी सत्ता कायम रखने के उद्देश्य से उसने यहाँ कई नगर भी बसाए।

सिकन्दर के आक्रमण के परिणाम

सिकन्दर के आक्रमण ने प्राचीन यूरोप को प्राचीन भारत के निकट संपर्क में आने का अवसर दिया। इसके कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। सिकन्दर का भारतीय अभियान खूब सफल रहा। उसने अपने साम्राज्य में एक नया भारतीय प्रांत जोड़ा जो ईरान द्वारा जीते गए भूभाग से काफी बड़ा था। यह अलग बात है कि यूनानी कब्जे का भारतीय भूभाग जल्द ही तत्कालीन मौर्य शासकों के कब्जे में चला गया।

इस आक्रमण का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम था भारत और यूनान के बीच विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्यक्ष संपर्क की स्थापना। सिकन्दर के अभियान से चार भिन्न-भिन्न स्थल-मार्गों और जलमार्गों के द्वार खुले। इससे यूनानी व्यापारियों और शिल्पियों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ तथा व्यापार की तत्कालीन सुविधाएँ बढ़ीं।

यद्यपि कहा जाता है कि कुछ यूनानी सिकन्दर के आक्रमण से पहले भी पश्चिमोत्तर भारत में

रहते थे, तथापि आक्रमण के फलस्वरूप इस इलाके में और यूनानी उपनिवेश स्थापित हुए। उनमें अधिक महत्त्व के थे: काबुल क्षेत्र में सिकन्दरिया शहर, झेलम के तट पर बुकेफाल और सिंध में सिकन्दरिया। इन क्षेत्रों को तो मौर्य शासकों ने जीत लिया, पर इन उपनिवेशों का सफाया नहीं किया, और कुछ यूनानी चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के शासन काल में भी वहाँ बने रहे।

सिकन्दर को उस रहस्यमय महासागर के भूगोल में गहरी दिलचस्पी हो गई जिसे उसने पहली बार सिंधु के मुहाने पर देखा था। इसलिए उसने अपने नये बेड़े को अपने मित्र नियार्कस के नेतृत्व में सिंधु नदी के मुहाने से फरात नदी के मुहाने तक समुद्र तट का पता लगाने और बंदरगाहों को ढूँढने के लिए रवाना किया। इसीलिए सिकन्दर के इतिहासकार मूल्यवान भौगोलिक विवरण छोड़ गए हैं। उन्होंने सिकन्दर के अभियान का तिथिसहित इतिहास भी लिख छोड़ा है जिससे हमें भारत में हुई घटनाओं का तिथिक्रम निश्चित आधार पर तैयार करने में सहायता मिलती है। सिकन्दर के इतिहासकार हमें सामाजिक और आर्थिक हालत के बारे में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं। वे हमें सती प्रथा, गरीब मां-बाप द्वारा अपनी लड़कियों को बेचने और पश्चिमोत्तर भारत के उत्तम नस्ल वाले गाय-बैलों के बारे में बतलाते हैं। सिकन्दर ने वहाँ से दो लाख गाय-बैल यूनान में इस्तेमाल के लिए मकदूनिया भेजे। बढ़ईगिरी भारत की सबसे उन्नत दस्तकारी थी। बढ़ई रथ, नाव और जहाज बनाते थे।

पश्चिमोत्तर भारत के छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता को नष्ट कर सिकन्दर के आक्रमण ने इस क्षेत्र में मौर्य साम्राज्य के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। सुना जाता है कि मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त ने सिकन्दर के सैन्यतंत्र की कार्य प्रणाली को थोड़ा-बहुत देखा था और उसने उसका कुछ ज्ञान प्राप्त किया था जिससे उसे नंद वंश की सत्ता को उखाड़ने में सहायता मिली।

अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताइए :
   क्षत्रपी, दिपी, लिपि, टैलेन्ट।
2. बताएँ कि भारत पर ईरानी आक्रमण का क्या-क्या प्रभाव पड़ा।
3. भारत पर हुए सिकन्दर के आक्रमण का विवरण दीजिए। इसके क्या परिणाम हुए?
4. युरेशिया के बाह्यरैखिक मानचित्र पर मकदूनिया साम्राज्य को उसके विस्तार की चरम अवस्था में दिखाएँ।

5. युरेशिया के बाह्यरैखिक मानचित्र पर सिकन्दर का साम्राज्य दिखाएँ और पाठ्यपुस्तक में उल्लिखित राज्य, देश, नदियाँ और स्थान अंकित करें।
6. सिकन्दर के अभियान के दस्तावेजों के सहारे हम बाद की घटनाओं के लिए एक निश्चित भारतीय तिथिक्रम निर्धारित करने में समर्थ हुए हैं। इस कथन की व्याख्या करें और विवेचन करें कि यह कथन क्यों सत्य है।

अध्याय 13

बुद्धकाल में राज्य और वर्ण-समाज

भौतिक जीवन

उत्तरी भारत में विशेष कर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार मे लोगों का भौतिक जीवन कैसा था, इसका आभास पुरातात्विक साक्ष्य के साथ-साथ पालि ग्रंथों और संस्कृत सूत्र-साहित्य के अध्ययन से पाया जा सकता है। पुरातत्व के अनुसार ईसा-पूर्व छठी सदी उत्तरी काला पालिशदार मृद्‌भांड अवस्था का आरंभ काल है। इस मृद्‌भांड को अंग्रेजी संक्षेपाक्षर एन.बी.पी.डब्ल्यू. अर्थात नार्दर्न ब्लैक पालिशड वेयर कहते हैं। यह मृद्‌भांड बहुत ही चिकना और चमकीला होता था। इसकी बनावट उत्कृष्ट कोटि की थी और संभवत: इसका उपयोग धनवान लोग भोजनपात्र के रूप में करते थे। इस मृद्‌भांड के साथ आम तौर से लोहे के उपकरण भी पाए जाते है, विशेषकर शिल्पकर्म और कृषिकर्म में काम आने वाले उपकरण। इसी काल में धातु-मुद्रा का प्रचलन भी आरंभ हुआ। पकी ईंटों और दल्लेदार कुओं का प्रयोग इस काल के मध्य में अर्थात् ईसा-पूर्व तीसरी सदी मे शुरू हुआ।

एन.बी.पी.डब्ल्यू. काल में ही गंगा के मैदानो में नगरीकरण की शुरुआत हुई। यह भारत का द्वितीय नगरीकरण कहलाता है। हड़प्पाई नगर ईसा-पूर्व 1900 के आसपास अन्तिम रूप से लुप्त हो गए। इसके बाद लगभग 1400 वर्षों तक भारत में कोई शहर नहीं पाया जाता है। ईसा-पूर्व लगभग पाँचवीं सदी में मध्य गंगा के मैदान में नगरों के प्रकट होने के साथ ही भारत में द्वितीय नगरीकरण की शुरूआत हुई। पालि और संस्कृत ग्रंथों में उल्लिखित अनेक नगरों को खोद निकाला गया है, जैसे कौशांबी, श्रावस्ती, अयोध्या, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, राजगीर, पाटलिपुत्र और चंपा। हर एक में एन.बी.पी.डब्ल्यू. युग या उसकी मध्य अवस्था की बस्तियाँ और मिट्टी की संरचनाएँ मिली हैं। पटना में लकड़ी के लकड़कोट (पैलिसेड) मिले हैं जो मौर्य-पूर्व काल (सातवीं-छठी सदी) के हो सकते हैं। मध्य गंगा के मैदान में लकड़ी के बाड़ाबंदी का यह पहला उदाहरण है। घर अधिकतर कच्ची ईंट और लकड़ी के बने थे, जो संभवत: मध्य गंगा के मैदानों की नम जलवायु में नष्ट हो गए हैं। यद्यपि पालि ग्रंथों में सतमंजिले प्रासादों का उल्लेख मिलता है, परंतु वे कहीं भी पाए नहीं गए हैं। अब तक जो संरचनाएँ निकली हैं वे भव्य नहीं लगतीं, लेकिन अन्यान्य भौतिक अवशेष संकेत देते हैं कि ताम्रपाषाणीय चित्रित धूसर मृद्‌भांड (पी.जी.डब्ल्यू.) वाली बस्तियों की तुलना में उत्तरी काला पालिशदार मृद्‌भांड (एन.बी.पी.डब्ल्यू.) वाली बस्तियों की आबादी में भारी वृद्धि हुई थी।

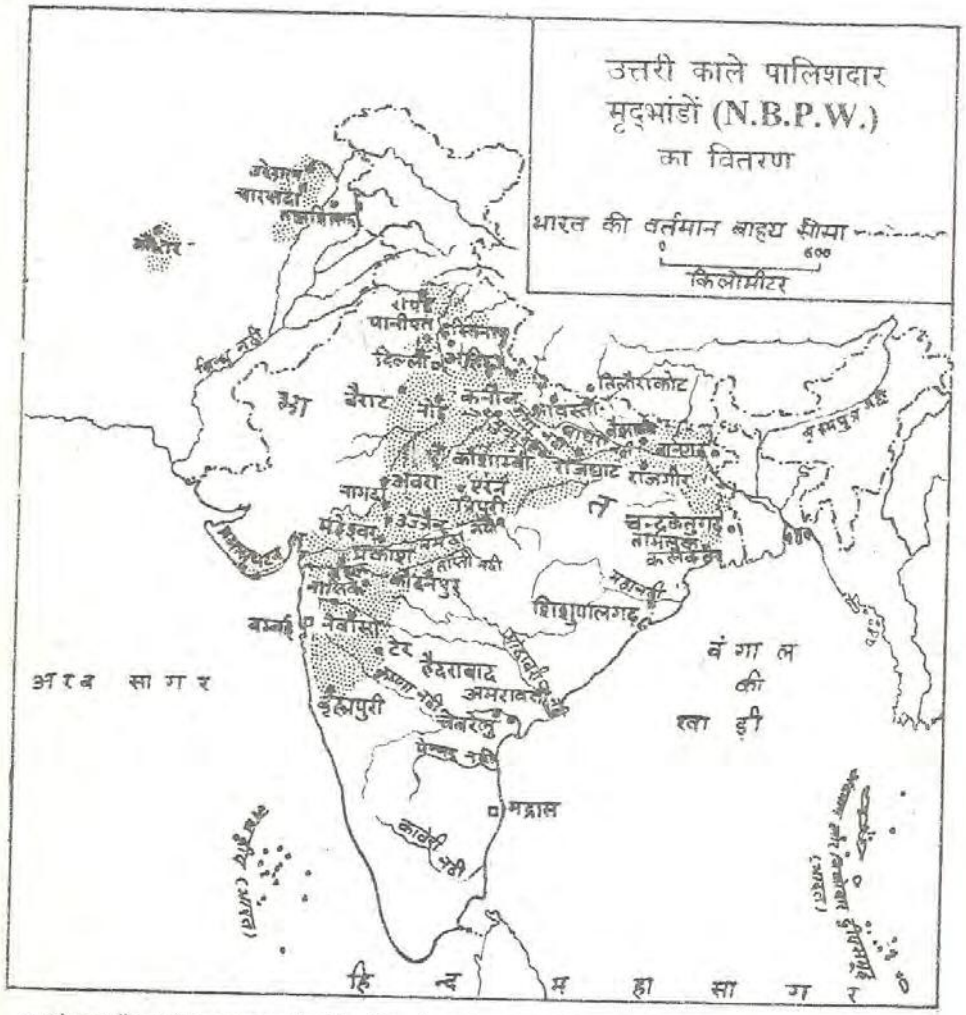

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

उत्तरी काले पालिशदार मृद्‌भांडों (एन.बी.पी.डब्ल्यू.) का वितरण

अनेक नगर शासन के मुख्यालय थे, पर उनका मूल प्रयोजन जो भी रहा हो, अंततः वे बाजार बन आए और वहाँ शिल्पी और वणिक, आ कर बसते गए। कहीं-कहीं तो शिल्पियों या कारीगरों की घनी आबादी हो गई। सद्दलपुत्त कुंभकार के पास वैशाली के शहर में कुंभकारों की 500 दुकानें थीं। शिल्पी और वणिक दोनों अपने-अपने प्रमुखों के नेतृत्व में **श्रेणियाँ** बनाकर संगठित थे। हमें शिल्पियों की 18 श्रेणियों का उल्लेख मिलता है, लेकिन विशेष रूप में उल्लेख केवल लुहारों, बढ़इयों, चर्मकारों और रंगकारों की श्रेणियों का हुआ है। शिल्पी और वणिक दोनों नगरों में अपने-अपने नियत भागों में रहते थे। हम जानते हैं कि वाराणसी में **वेस्स** या वणिक लोगों की गली थी। इसी तरह हाथीदाँत के शिल्पियों की गली की भी चर्चा है। इस तरह श्रेणी-व्यवस्था और स्थानीयकरण के परिणामस्वरूप शिल्पियों में विशेषीकरण आया। आम तौर से शिल्प या दस्तकारी वंशगत थी जिसके फलस्वरूप बेटा अपने कुल का व्यवसाय अपने पिता से सीख लेता था।

शिल्पियों द्वारा बनाई गई वस्तुएँ वणिक लोग दूर-दूर तक ले जाते थे। पाँच सौ गाड़ी माल की चर्चा बार-बार आई है। इनमें कपड़ा, हाथीदाँत की वस्तुएँ, बरतन आदि सामान रहते थे। इस काल के सभी प्रमुख नगर नदी के किनारे और व्यापार मार्गों के पास बसे थे, और एक-दूसरे से जुड़े थे। श्रावस्ती नगरी कौशांबी और वाराणसी दोनों से जुड़ी थी। वाराणसी तो बुद्ध के युग में महान् व्यापार-केन्द्र था। व्यापार मार्ग श्रावस्ती से पूर्व और दक्षिण की ओर निकलकर कपिलवस्तु और कुशीनगर (कसिया) होते हुए वाराणसी तक गया था। सौदागर पटना में गंगा पार कर के राजगीर जाते थे। वे नदी-मार्ग से आधुनिक भागलपुर के निकट चंपा भी जाते थे। यदि जातक-कथाओं को आधार मानें तो कोसल और मगध के वणिक मथुरा होते हुए उत्तर की ओर बढ़ते-बढ़ते तक्षशिला तक पहुँच जाते थे। इसी तरह वे मथुरा से दक्षिण और पश्चिम की ओर बढ़ते-बढ़ते उज्जैन और गुजरात के समुद्रतटीय प्रदेश तक पहुँच जाते थे।

मुद्रा के प्रचलन से व्यापार को बढ़ावा मिला। वैदिक ग्रंथों में आए **निष्क** और **शतमान** शब्द मुद्रा के नाम माने जाते हैं। लेकिन प्रतीत होता है कि वे धातु के बने अलंकरण रहे होंगे। वस्तुतः प्राप्त सिक्के तो ईसा-पूर्व छठी-पाँचवीं सदी से पहले के नहीं हैं। मालूम होता है कि वैदिक काल में लेन-देन का काम वस्तु-विनिमय प्रणाली से चलता होगा, और कभी-कभी पशु का व्यवहार भी मुद्रा की तरह किया जाता होगा। धातु के सिक्के सबसे पहले गौतम बुद्ध के युग में मिलते हैं। आरंभ में सिक्के अधिकतर चाँदी के होते थे, हालाँकि कुछ ताँबे के भी मिले हैं। ये सिक्के आहत (पंचमार्क्ड) कहलाते हैं क्योंकि ये धातु के टुकड़ों पर पेड़, मछली, साँड, हाथी, अर्द्धचंद्र आदि किसी वस्तु की आकृतियों का ठप्पा मार कर बनाए जाते थे। ठप्पा मारकर बनाए जाने के कारण भारतीय भाषाओं में इन्हें आहत मुद्रा कहते हैं। इन मुद्राओं की सबसे पुरानी निधियाँ (होर्ड्स) पूर्वी उत्तर प्रदेश और मगध में मिली हैं। यों आरंभ काल के कुछ सिक्के तक्षशिला में भी मिले हैं। पालि ग्रंथों से मुद्रा के प्रचुर प्रचलन का संकेत मिलता है और यह भी पता चलता है कि वेतन और मूल्य का भुगतान सिक्कों में किया जाता था। सिक्के का प्रचलन इतना व्यापक हो गया था कि मरे चूहे का मूल्य भी सिक्के में आँका गया है।

हड़प्पा सभ्यता के अंत पश्चात् लिखने की कला अशोक से करीब दो सौ साल पहले शुरू हुई हो। आरंभ के अभिलेख, शायद पत्थर और धातु पर अंकित न होने के कारण लुप्त हो गए हैं। लेखन से न केवल नियमों और कर्मकांडों का संकलन संभव हुआ, बल्कि लेखा-जोखा रखना भी आसान हो गया, जो व्यापार में, कर-संग्रह में और बड़ी-बड़ी वेतनभोगी सेना रखने में परमावश्यक था। इसी काल में सूक्ष्म मापन विषयक ग्रन्थ भी रचे गए, जो **शुल्वसूत्र** कहलाते हैं। ये ग्रंथ प्रमाणित करते हैं कि इससे पूर्व लेखन-कला प्रचलित हो चली थी। इन ग्रंथों से खेतों और घरों के सीमांकन में सहायता मिली।

यद्यपि एन.बी.पी.डब्ल्यू. की कोई ग्रामीण बस्ती नहीं मिली है, पर इस मृद्भांड के ठीकरे बिहार के मैदानों में और पूर्वी और मध्य उत्तर प्रदेश के मैदानों में 400 से भी अधिक स्थानों में पाए गए हैं। सुदृढ़ ग्रामीण आधार के बिना मध्य गंगा मैदान में शिल्प, वाणिज्य और नगरीकरण का होना हम सोच भी नहीं सकते हैं। राजा, पुरोहित, शिल्पी, वणिक, प्रशासक, सैनिक अधिकारी और अन्यान्य कार्यकर्त्ता, इन सबों का शहर में रहना तब तक संभव नहीं है जब तक कि इनके भरण-पोषण के लिए कर, बलि (नजराना) और राजांश पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो। नगरवासी कृषकेतर लोगों का पेट ग्रामवासी कृषक भरते थे। इसके बदले ग्रामवासियों को औज़ार, कपड़ा आदि वस्तुएँ नगरवासी शिल्पियों और व्यापारियों से मिलती थीं। कहा गया है कि गाँव के एक व्यापारी ने नगर के एक वणिक के जिम्मे 500 हल रखे थे। अवश्य ही ये हल लोहे के फाल वाले होंगे। कौशांबी में एन.बी.पी.डब्ल्यू. में लोहे के कई औज़ार पाए गए हैं, जैसे कुल्हाड़ी, बसूला, छुरी, उस्तरा, कील, हँसिया आदि। इनमें से कई तो लगभग ईसा-पूर्व छठी-चौथी सदियों के स्तरों में मिले हैं, और लगता है ये उन किसानों के इस्तेमाल के लिए होंगे जो नगदी या जिंसी कीमत चुकाकर इन्हें खरीदते होंगे।

पालि ग्रंथों में अनगिनत गाँवों का उल्लेख है, और लगता है कि नगर गाँवों के समूह के बीच बसते थे। प्रतीत होता है कि ऐसी संकेन्द्रित ग्रामीण बस्तियाँ, जहाँ सभी लोग एक जगह बसे हों और उनके खेत अधिकतर बस्ती के बाहर फैले हों, सबसे पहले गौतम बुद्ध के युग में मध्य गंगा के मैदानों में उभरी। पालि ग्रंथों में गाँव के तीन भेद किए गए हैं। प्रथम कोटि में वे सामान्य गाँव हैं जिनमें विविध वर्णों और जातियों का निवास हो। ऐसे गाँवों की संख्या सबसे अधिक मालूम पड़ती है, और इनका मुखिया **भोजक** कहलाता था। द्वितीय कोटि में ऐसे उपनगरीय गाँव थे जिन्हें शिल्पी-ग्राम कह सकते हैं, जैसे वाराणसी के निकट एक बढ़ई का गाँव या रथकार ग्राम था। अवश्य ही ऐसे गाँव अन्य गाँवों के लिए बाज़ार का काम करते होंगे, और नगरों को देहात से जोड़ते होंगे। तृतीय कोटि में सीमांत ग्राम आते हैं, जो जंगल से संलग्न देहातों की सीमा पर बसे होते थे। इन गाँवों के निवासी मुख्यतः बहेलिये और शिकारी होते थे जो अपना आहार बटोर कर जीते थे।

गाँव की भूमि खेती के लिए उपयुक्त टुकड़ों में विभाजित करके हर परिवार के बीच बँटी रहती थी। हर परिवार अपने-अपने हिस्से के खेतों में अपने परिवार के लोगों को या आवश्यकतानुसार कृषि-मज़दूरों को भी लगाकर खेती करता था।

खेतों को घेरने और सिंचाई की नहर बनाने का काम ग्राम-प्रमुख के तत्वावधान में किसान लोग मिलजुलकर कर लेते थे।

किसान अपनी उपज का छठा भाग कर या राजांश के रूप में चुकाते थे। कर की वसूली सीधे राजा के कर्मचारी करते थे, और आम-तौर से किसान और राज्य दोनों के बीच में कोई दरमियानी हकदार नहीं होता था। परंतु कुछ गाँव ब्राह्मणों और वणिकों को उपभोग के लिए सौंपे हुए थे। खेत के ऐसे बड़े-बड़े टुकड़ों की भी सूचना है जहाँ दासों और कृषि-मज़दूरों को लगाकर खेती कराई जाती थी। धनी किसान **गहपति** (पालि शब्द) कहलाते थे। ये लगभग वैश्यों के ही एक उपवर्ग में आते थे।

इस काल में पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में पैदा होने वाला मुख्य अनाज चावल था। पालि ग्रंथों में नाना प्रकार के धानों और धनखेतों का वर्णन है। इस काल के पालि और संस्कृत ग्रंथों में रोपाई का पर्यायवाची शब्द मिलता है, और लगता है कि धान की रोपाई की प्रणाली बुद्ध के युग में व्यापक रूप में प्रचलित हो गई थी। धान की रोपाई या पानी में धान उपजाने की प्रणाली से उत्पादकता में भारी बढ़ोत्तरी हुई। इसके अतिरिक्त किसान जौ, दलहन, ज्वार, कपास और ईख की भी खेती करते थे। लोहे के फाल के प्रचलन के फलस्वरूप तथा इलाहाबाद और राजमहल के बीच की जलोढ़ मिट्टी की उर्वरता के फलस्वरूप खेती में भारी उन्नति हुई।

तकनीकी ज्ञान नगरीय और ग्रामीण अर्थतंत्र की प्रगति का मूलमन्त्र बन गया। मध्य गंगा घाटी के वर्षापोषित, जंगलों से भरे, कड़ी मिट्टी वाले प्रदेश को सफाई, खेती और बस्ती के उपयुक्त बनाने में लोहे की भूमिका महत्त्वपूर्ण हुई। लोहार यह जानते थे कि लोहे के औज़ारों को कड़ा कैसे बनाएँ। राजघाट (वाराणसी) में मिले कुछ औज़ारों से प्रकट होता है कि वे सिंहभूम और मयूरभंज में मिलने वाले लौह अयस्क से बनाए गए थे। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि लोग देश की समृद्धतम लोहा-खानों से परिचित हो गए थे, और इससे शिल्पकर्म और कृषिकर्म के लिए औज़ारों की उपलब्धि अवश्य ही बढ़ी होगी।

भौतिक अवशेषों और पालि ग्रंथों के अध्ययन से अर्थव्यवस्था की जो तस्वीर उभरती है वह पश्चिमी उत्तर प्रदेश की उत्तर वैदिककालीन ग्रामीण अर्थव्यवस्था से भिन्न है, और उस अर्थव्यवस्था से भी भिन्न है जो बिहार और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों के कई ताम्रपाषाण समुदायों में पाई गई हैं। इसी क्षेत्र में हमें समुन्नत खाद्य-उत्पादक अर्थव्यवस्था मध्य गंगा के मैदानों की जलोढ़ मिट्टी पर फैलती हुई सबसे पहले दिखाई देती है। यह ऐसी अर्थव्यवस्था थी जिससे न केवल सीधे उत्पादकों का भरणपोषण होता था, बल्कि ऐसे बहुत-सारे अन्य लोगों का भी होता था जो न किसान थे, न शिल्पी। इस अर्थव्यवस्था से करों की नियमित वसूली और लम्बे समय के लिए सेना का रखरखाव सम्भव हुआ और इसी से ऐसी परिस्थिति पैदा हुई जिसमें बड़े-बड़े जनपद राज्य बन और टिक सकते थे।

प्रशासन-पद्धति

यों इस काल में हम बहुत-से राज्य देखते हैं, पर उनमें केवल कोसल और मगध शक्तिशाली हुए। दोनों क्षत्रिय वर्ण के आनुवंशिक राजाओं द्वारा शासित सर्वांगसम्पन्न राज्य थे। जातकों से,

अर्थात् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाओं से, ज्ञात होता है कि जनता अत्याचारी राजाओं और उनके प्रधान पुरोहितों को गद्दी से उतार देती थी और उनकी जगह नए राजाओं को बैठा देती थी। परंतु निष्कासन की घटना उतनी ही विरल थी जितनी निर्वाचन की। राजा के पद की प्रतिष्ठा सबसे ऊपर थी और उसके जानमाल की रक्षा का विशिष्ट प्रबंध रहता था। वह बुद्ध जैसे धार्मिक महापुरुषों के आगे ही नतमस्तक होता था। राजा प्रथमतः युद्ध-नेता होता था जो अपने राज्य के लिए विजय पर विजय करता जाता था। बिम्बिसार और अजातशुत्र इसके अच्छे उदाहरण हैं।

राजा अनेक अधिकारियों की सहायता से शासन करता था, जो ऊपर से लेकर नीचे गाँव के प्रधान तक क्रमबद्ध रहते थे। उच्च कोटि के अधिकारी **महामात्र** कहलाते थे। वे कई तरह के कार्य करते थे, जैसे मन्त्री, सेनानायक, न्यायाधिकारी, महालेखाकार, और अन्तःपुर-प्रधान के कार्य। शायद **आयुक्त** नाम से विदित अधिकारियों का वर्ग भी कुछ राज्यों में इसी तरह का कार्य करता था। प्रशासन में मंत्रियों की भूमिका बड़े महत्त्व की थी। मगध का वर्षकार और कोसल का दीर्घचारायण सफल और प्रभावशाली मन्त्री हुए। इनमें पहले ने वैशाली के लिच्छवियों के बीच फूट का बीज बोकर लिच्छवि गणराज्य पर अजातशत्रु को प्रभुत्व दिलाया; और दूसरे ने कोसल के राजा की भारी सहायता की। जान पड़ता है कि उच्च अधिकारी और मन्त्री अधिकतर ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग से चुने जाते थे। सामान्यतः वे राजा के अपने गोत्र के लोगों से नहीं लिए जाते थे। अब वैदिक काल जैसा बान्धवाश्रित राजतन्त्र नहीं रहा।

कोसल और मगध दोनों में चाँदी की आहत मुद्रा के प्रचलन के बावजूद प्रभावशाली ब्राह्मणों और सेट्ठियों को पारितोषिक के तौर पर राजस्व ग्राम दिए जाते थे। ऐसा करने में उन्हें अपने गोत्र के लोगों से अनुमति लेना आवश्यक नहीं था, जबकि उत्तर वैदिक काल में यह आवश्यक था। लेकिन ऐसे दान में दानग्राही को केवल राजस्व वसूलने का हक दिया जाता था, शासन करने का नहीं।

ग्रामांचल का प्रशासन गाँव के मुखिया के हाथ में रहता था। आरंभ में, वह कबायली लड़ाकू टोली के नेता के रूप में काम करता था, इसलिए वह **ग्रामणी** कहलाता था, जिसका अर्थ था **ग्राम** या कबायली लड़ाकू टोली का नेता। जब जीवन में स्थिरता आ गई और हल से खेती करने की प्रणाली जम गई तब कबायली लड़ाकू टोली स्थायी रूप से कृषक हो गयी। अतः मौर्य-पूर्व काल में **ग्रामणी** भी अपना रूप बदलकर गाँव का मुखिया हो गया। गाँव का मुखिया विभिन्न नामों से पुकारा जाता था, जैसे **ग्रामभोजक, ग्रामणी** या **ग्रामिक। ग्रामणी** पदनाम श्रीलंका में आज भी चलता है। कहा जाता है कि बिम्बिसार ने 86,000 **ग्रामिकों** को आहूत किया था। संख्या कहावती हो सकती है, लेकिन इससे प्रकट होता है कि ग्रामप्रधान का बड़ा महत्त्व था और उसका राजा के साथ सीधा संबंध रहता था। वह ग्रामवासियों पर कर निर्धारित करता था और वसूलता भी था। वह अपने इलाके में शान्ति-सुव्यवस्था भी बनाए रखता था। कभी-कभी अत्याचारी ग्रामप्रधान को गाँव के लोग दंड भी देते थे।

सेना और कराधान

राज्य की शक्ति में वास्तविक वृद्धि का संकेत इस बात से मिलता था कि उसकी पेशेवर या वैतनिक सेना कितनी बड़ी है। सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध के नन्दवंशी राजा के पास 20,000 घुड़सवार सैनिक, 200,000 पैदल सैनिक, 2000 चार घोड़े वाले रथ और लगभग 6000 हाथी थे। अश्वचालित रथ का महत्त्व उत्तरी-पूर्वी ही नहीं, उत्तर-पश्चिमी भारत में भी घटता जा रहा था, जहाँ कि उसका प्रचलन वैदिक जनों ने किया था। पश्चिमोत्तर भारत के शासक लोग बहुत कम हाथी रखते थे, जबकि उन में से बहुतों के पास उतने घोड़े थे जितने मगध नरेश के पास। भारी संख्या में हाथी रहने से ही मगध के राजा अधिक शक्तिशाली माने जाते थे।

भारी स्थायी सेना का भरणपोषण राज्य-कोष से करना होता था। हमें ज्ञात है कि नंद राजाओं के पास अपार सम्पत्ति थी और इसी के बल पर वे सेना का भरणपोषण करने में समर्थ थे, लेकिन हमें यह मालूम नहीं है कि किन-किन विशेष उपायों से वे इतना कर-संचय कर पाते थे। राजकोष-प्रणाली ठोस नींव पर खड़ी थी। योद्धा और पुरोहित अर्थात् क्षत्रिय और ब्राह्मण करों से मुक्त थे, और कर का सारा बोझ किसानों के सिर पर था, जिनमें अधिकतर वैश्य या **गृहपति** थे। वैदिक काल में कबीले के लोग अपने-अपने सरदार को स्वेच्छापूर्वक **बलि** अर्पित करते थे, पर बुद्ध के युग में आकर वह किसानों द्वारा अनिवार्य रूप से देय हो गई, और उसकी वसूली के लिए अधिकारी नियुक्त थे जो **बलिसाधक** कहलाते थे। जान पड़ता है कि राजा किसानों से उनकी उपज का छठा भाग कर के रूप में लेता था। करों का निर्धारण और वसूली गाँव के मुखिया की सहायता से राजा के कर्मचारी करते थे। लेखन के प्रचलन से कर-निर्धारण और कर-संग्रह में सुविधा हुई होगी। आहत मुद्राओं की अनेकानेक निधियों के मिलने से यह प्रकट होता है कि भुगतान नकद और जिंस (वस्तुएँ) दोनों रूपों में होता था। पूर्वोत्तर भारत में कर धान के रूप में चुकाया जाता था। इन करों के अतिरिक्त, किसानों को राजा के काम में बेगार देना (अर्थात् मुफ्त में खटना) पड़ता था। जातक कथाओं में आया है कि कर के दुर्वह भार से बचने के लिए किसान राज छोड़ देते थे।

शिल्पियों और व्यापारियों से भी कर वसूला जाता था। शिल्पियों से महीने में एक दिन राजा के लिए काम कराया जाता था, और व्यापारियों से उनके माल की बिक्री पर चुंगी वसूली जाती थी। चुंगी वसूलने वाला अधिकारी **शौल्किक** या शुल्काध्यक्ष कहलाता था।

प्रादेशिक या जनपदीय राज्यों की स्थापना ने पहले की **सभा** और **समिति** को समाप्त कर दिया। इस तरह की जन-सभाएँ उत्तर वैदिक काल में ही लुप्त हो गई थीं। चूँकि ये सभा-समितियाँ कबायली संगठन थीं, इसलिए ज्यों-ज्यों कबीले विघटित होकर वर्ण में लीन होते और अपनी पहचान खोते गए, त्यों-त्यों उक्त संगठन शिथिल होते-होते लुप्त हो गए। कबीलों का स्थान वर्णमूलक और जातिमूलक समुदायों ने लिया, इसलिए धर्मशास्त्रकारों ने जातीय नियमों और कुलाचारों को समुचित महत्त्व दिया। फिर भी ये नियम सामाजिक विषयों तक ही सीमित रहे। जन-सभाएँ

ऐसे छोटे-छोटे राज्यों में ही सफल हो सकती थीं जहाँ **कबीले** के सभी सदस्य आसानी से जुटाए जा सकते हों, जैसा कि वैदिक काल में संभव रहा होगा। कोसल और मगध जैसे बड़े-बड़े राज्यों के उदित होने के बाद ऐसी बड़ी जन-सभाएँ आयोजित करना संभव नहीं रहा, जिनमें विभिन्न सामाजिक वर्गों की और साम्राज्य से विभिन्न भागों के लोग जुट सकें। महज आवागमन की कठिनाई ही इतनी थी कि नियमित बैठकें भी नहीं की जा सकती थीं। फिर पुरानी जन-सभाएँ कबायली थीं, अतः नए राज्यों में बसे वैदिकेतर कबीलों को उन सभाओं में स्थान नहीं दिया जा सकता था। इस तरह परिवर्तित स्थिति में पुरानी जन-सभाओं का टिका रहना असंभव जैसा था। उनकी जगह **परिषद्** नाम की एक छोटी-सी समिति बनी जिसमें केवल ब्राह्मण ही सदस्य होते थे। इस काल में भी सभाएँ तो रहीं, किंतु एकतान्त्रिक राज्यों में नहीं। वे शाक्यों, लिच्छवियों आदि के छोटे-छोटे गणतांत्रिक राज्यों में चालू रहीं।

गणतांत्रिक प्रयोग

गणतांत्रिक शासन-पद्धति या तो सिन्धु घाटी में रही या पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के अंतर्गत हिमालय की तराइयों में। सिन्धु-घाटी में पाए गए गणराज्य वैदिक कबीलों के अवशेष रहे होंगे। हो सकता है कि कुछ गणराज्यों ने एकतांत्रिक राज्यों का स्थान लिया हो। कुछ मामलों में बिहार और उत्तर प्रदेश के लोग कबायली समानता के पुराने आदर्शों से प्रेरित रहे होंगे, जिनमें एकल राजा को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था।

गणराज्यों में वास्तविक सत्ता कबायली अल्पतंत्रों (सीमित लोगों के संघटनों) के हाथ में होती थी। शाक्यों और लिच्छवियों के गणराज्यों में शासक वर्ग एक ही गोत्र और एक ही वर्ण का होता था। वैशाली के लिच्छवियों के सभागार में 7707 राजा (प्रतिनिधि) बैठते थे, लेकिन ब्राह्मण इस में शामिल नहीं थे। मौर्योत्तर काल में मालवों और क्षुद्रकों के गणराज्य में क्षत्रियों और ब्राह्मणों तक ही नागरिकता सीमित थी, दासों और मज़दूरों को इससे बाहर रखा गया था। पंजाब में व्यास नदी के तटवर्ती एक राज्य के ऐसे ही लोग सदस्य हो सकते थे जो राज्य को कम से कम एक हाथी दे सकें। सिन्धु घाटी में अल्पतांत्रिक राज्य का यह अच्छा उदाहरण है।

शाक्यों और लिच्छवियों का प्रशासन-तंत्र सरल था। इसमें **राजा, उपराजा, सेनापति** और **भांडागारिक** (राजकोषाध्यक्ष) होते थे। कहा गया है कि लिच्छवियों के गणराज्यों में एक के ऊपर एक सात न्यायपीठ होते थे जो एक ही मामले की सुनवाई बारी-बारी से सात बार करते थे। लेकिन यह इतनी अच्छी व्यवस्था है कि इसके होने पर विश्वास करना कठिन है।

जो भी हो, बुद्ध के युग में कुछ ऐसे राज्य भी थे जिनका शासन अनुवांशिक राजा नहीं करते थे, बल्कि जनसभाओं के प्रति उत्तरदायी लोग करते थे। इस प्रकार, प्राचीन गणराज्यों के लोगों का राजनीतिक सत्ता में बराबरी का हिस्सा भले ही न रहा हो, परन्तु भारत में गणतंत्र की परम्परा की प्राचीनता बुद्ध के युग तक पाते हैं।

गणतंत्र और राजतंत्र के बीच बहुत-सी भिन्नताएँ थीं। राजतंत्र में प्रजा से राजस्व पाने का दावेदार एकमात्र राजा होता था, जबकि गणतंत्र में इसका दावेदार गण या गोत्र का प्रत्येक प्रधान होता था जो **राजन्** कहलाता था। 7707 लिच्छवि राजाओं में हर-एक का अलग-अलग कोषागार और प्रशासन-तंत्र

था। प्रत्येक राजतंत्र की नियमित स्थायी सेना होती थी और राज्य-सीमा के भीतर प्रजा के समूह या समूहों को शस्त्रास्त्र रखने की अनुमति नहीं थी। लेकिन कबायली अल्पतंत्र में हर राजा अपनी छोटी-छोटी सेना अपने सेनापति के अधीन रख सकता था, ताकि वह एक दूसरे का मुकाबला कर सके। राजतंत्र में ब्राह्मणों का बड़ा प्रभाव था, परन्तु आरंभिक गणराज्यों में उनका कोई स्थान नहीं था, और न उन्होंने अपने धर्मशास्त्रों में इस तरह के राज्यों को मान्यता ही दी। अन्त में, गणराज्य और राजतंत्र के बीच मुख्य अन्तर यह था कि गणतंत्र का संचालन अल्पतान्त्रिक सभाएँ करती थीं, न कि कोई एक व्यक्ति, लेकिन राजतंत्र में यह काम एक व्यक्ति करता था।

गणतंत्र की परंपरा मौर्य काल से कमज़ोर होने लगी। मौर्य-काल में एकतान्त्रिक राज्य कहीं अधिक मजबूत और प्रचलित थे। प्राचीन मनीषियों ने राजतंत्र को ही प्रचलित और उत्कृष्ट शासन-पद्धति माना। ये राज्य, शासन और राजपद सभी को एक समझते थे। चूँकि बुद्ध के युग में राज्य सुप्रतिष्ठित हो चुका था, विद्वान लोग इसके उद्भव पर विचार करने लगे। प्राचीन बौद्ध पालिग्रंथ **दीघनिकाय** में बताया गया है कि पुरातन काल में मनुष्य सुख से रहते थे। धीरे-धीरे वे धनवान होते गए और घर बनाकर अपनी स्त्रियों के साथ रहने लगे। तब से धन और स्त्री को लेकर आपस में झगड़े होने लगे। ऐसे झगड़ों को दूर करने के लिए उन्होंने एक व्यक्ति को अपना प्रमुख चुन लिया ताकि वह शान्ति की व्यवस्था करे और लोगों की रक्षा करे। इस रक्षा के प्रतिफल में उन्होंने अपने प्रमुख को अपने धान्य में से कुछ देते रहने की प्रतिज्ञा की। वही प्रमुख **राजा** कहलाने लगा, और इसी प्रकार राज्य का जन्म हुआ।

सामाजिक वर्गीकरण और विधिव्यवस्था

भारतीय विधि और न्याय-व्यवस्था का उद्भव इसी काल में हुआ। पहले कबायली कानून चलते थे, जिसमें वर्गभेद को कोई स्थान नहीं था। लेकिन इस काल में आकर कबायली समुदाय स्पष्टतया चार वर्गों में या वर्णों में बँट गया : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। अत: धर्मसूत्रों में हर वर्ण के लिए अपने-अपने कर्त्तव्य तय कर दिए गए, और वर्णभेद के आधार पर ही व्यवहार-विधि (सिविल लॉ) और दंडविधि (क्रिमिनल लॉ) तय हुई। जो वर्ण जितना ऊँचा था वह उतना ही पवित्र माना गया, और व्यवहार एवं दंड-विधि में उससे उतनी ही उच्च कोटि के नैतिक आचरण की अपेक्षा की गई। शूद्रों पर हर प्रकार की अपात्रता लाद दी गई। वे धार्मिक और कानूनी अधिकारों से वंचित किए गए, और समाज में सबसे नीचे दर्जे में रखे गए। उन्हें उपनयन-संस्कार का अधिकार न रहा। वे यदि ब्राह्मणों और अन्य वर्णों के प्रति अपराध करते थे तो अधिक कठोर दंड पाते थे। दूसरी ओर शूद्रों के प्रति किए गए अपराधों का हल्का दंड होता था। धर्मशास्त्रकारों ने यह प्रचार किया कि शूद्रों का जन्म सृष्टिकर्ता के चरण से हुआ है, इसलिए उच्चवर्ण वाले, विशेषत: ब्राहमण, शूद्रों के सम्पर्क से परहेज करते, उनका छुआ खाना नहीं खाते और उनके साथ वैवाहिक संबंध नहीं करते थे। शूद्र किसी ऊंचे पद पर रखा नहीं जा सकता था, और उससे भी महत्त्व की बात यह है कि शूद्रों को दास, शिल्पी और कृषि मज़दूर के रूप में द्विजों की सेवा करने को कहा गया। इस विषय में, जैन और बौद्ध संप्रदायों ने भी उनकी स्थिति नहीं सुधारी। उन्हें नए धार्मिक संघ में प्रवेश की अनुमति भले ही दे

नए धार्मिक संघ में प्रवेश की अनुमति भले ही दे दी गई, उनका सामान्य स्थान नीचे के नीचे ही रह गया। कहा गया है कि गौतम बुद्ध ब्राह्मणों की सभा में गए, क्षत्रियों की सभा में गए और गृहपतियों की सभा में गए, लेकिन शूद्रों की सभा में उनके जाने का कोई उल्लेख नहीं है।

दीवानी और फौजदारी मामले राजा के प्रतिनिधि देखते थे, जो झटपट कठोर दंड दे देते थे, जैसे कोड़ा लगाना, सिर काट लेना, जीभ खींच लेना आदि। बहुधा फौजदारी मामलों में दंड का विधान बदले की भावना से प्रेरित होता था अर्थात् आँख फोड़ने वाले की आँख निकाल ली जाती थी और दाँत तोड़ने वाले के दाँत।

ब्राह्मणों के विधिग्रंथों में नियम बनाते समय विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति का ध्यान तो रखा ही गया, उन वैदिकेतर कबायली समूहों के रीतिरिवाजों को भी अनदेखा न किया गया, जो वर्णाश्रित ब्राह्मणिक समाज में घुल-मिल गए थे और जिनकी संख्या विजयाभियानों के फलस्वरूप बढ़ती जा रही थी। इनमें से कुछ देसी कबायलियों की सामाजिक उद्भव-कथाएँ गढ़ ली गई और उन्हें अपने ही नियमों से शासित होने की छूट दे दी गई।

बुद्ध का युग कई कारणों से महत्त्वपूर्ण रहा। इसी काल में प्राचीन भारतीय राजतंत्र, अर्थतंत्र और समाज का अपना वास्तविक स्वरूप निखरा। कछारी इलाकों में, खासकर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में लोहे के औज़ारों से होने वाली खेती के फलस्वरूप उन्नत अन्न उत्पादक अर्थतंत्र का जन्म हुआ। किसानों से कर वसूलना संभव हुआ, और कर एवं बलि (नजराना) की नियमित वसूली के आधार पर बड़े-बड़े राज्य स्थापित हो सके। इस प्रणाली को बनाए रखने के लिए वर्णव्यवस्था रची गई और हर-एक वर्ण का कर्त्तव्य (पेशा) स्पष्ट रीति से निर्धारित कर दिया गया। इस व्यवस्था के अनुसार, शासकों और योद्धाओं को क्षत्रिय कहा गया, पुरोहितों और शिक्षकों को ब्राह्मण बतलाया गया, किसानों और करदाताओं को वैश्य कहा गया, और श्रमिकों के रूप में उक्त तीनों वर्णों की सेवा करने वाले को शूद्र कहा गया।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :

   एन. बी. पी. डब्ल्यू. फेज या उत्तरी काला पालिशदार मृद्भांड युग, पंचमार्क्ड या आहत मुद्राएँ, ग्रामिक, गृहपति, महामात्र, बलिसाधक।

2. इस काल के प्रौद्योगिक एवं आर्थिक विकासों का वर्णन करें। इन विकासों से भारतीय समाज में हुए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख करें।

3. वैदिकोत्तर काल की वर्णव्यवस्था का वर्णन करें। उस व्यवस्था में शूद्रों का क्या स्थान था?
4. विवेचन करें कि ईसा-पूर्व छठी सदी से चौथी सदी तक नगरीयकरण के कौन-कौन कारक थे? इस अवधि के नगरीकरण को भारत का द्वितीय नगरीकरण क्यों कहा जाता है?
5. राजतंत्रीय राज्यों की प्रशासन-पद्धति का वर्णन करें।
6. बुद्धकालीन गणराज्यों की शासन-पद्धति का वर्णन करें।
7. बुद्ध के काल में प्रचलित राजनीतिक पद्धतियों की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ बताएँ। वैदिक काल की राजनीतिक पद्धति से इन पद्धतियों में स्पष्ट अंतर क्या-क्या हैं?
8. भारत के बाहरैखिक मानचित्र पर इस काल में उदित हुए छोटे और बड़े नगर अंकित करें और इस काल के व्यापार-मार्ग भी दिखाएँ।

अध्याय 14

मौर्य युग

चन्द्रगुप्त मौर्य

मौर्य राजवंश की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने की। लगता है, वह साधारण कुल का था। ब्राह्मण परंपरा के अनुसार उसकी माता शूद्र जाति की मुरा नामक स्त्री थी जो नंदों के रनवास में रहती थी। लेकिन एक पुरानी बौद्ध परंपरा से ज्ञात होता है कि नेपाल की तराई से लगे गोरखपुर में मौर्य नामक क्षत्रिय कुल के लोग रहते थे। संभव है कि चंद्रगुप्त इसी वंश का था। अपने शासन के अन्तिम दिनों में जो. नंदों की कमजोरी और बदनामी बढ़ती जा रही थी उसका फायदा उठाते हुए चन्द्रगुप्त ने कौटिल्य नाम से विदित चाणक्य की सहायता से नंद राजवंश का तख्ता पलट दिया और मौर्यवंश का शासन कायम किया। चन्द्रगुप्त के शत्रुओं के विरुद्ध चाणक्य ने जो चालें चलीं उनकी विस्तृत कथा मुद्राराक्षस नामक नाटक में हैं जिसकी रचना विशाखदत्त ने नौवीं सदी में की। आधुनिक काल में इस विषय पर कई नाटक लिखे गए हैं।

जस्टिन नामक यूनानी लेखक के अनुसार, चन्द्रगुप्त ने अपनी 600,000 की फौज से सारे भारत को रौंद दिया। यह बात सही भी हो सकती है और नहीं भी, लेकिन यह सही है कि चन्द्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर भारत को सेल्यूकस की गुलामी से मुक्त किया। यह इलाका सिन्धु नदी के पश्चिम में पड़ता था। ऐसा लगता है कि इस यूनानी वाइसराय के साथ हुई लड़ाई में चन्द्रगुप्त विजयी रहा। अंत में, दोनों के बीच समझौता हो गया, और चन्द्रगुप्त से 500 हाथी लेकर उसके बदले सेल्यूकस ने उसे पूर्वी अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और सिन्धु के पश्चिम का क्षेत्र दे दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया, जिसमें पूरे बिहार तथा उड़ीसा और बंगाल के बड़े भागों के अतिरिक्त, पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत और दकन भी थे। फलतः मौर्यों का शासन, केवल तमिलनाडु को तथा पूर्वोत्तर भारत के कुछ भागों को छोड़ कर, सारे भारतीय उपमहादेश पर छा गया। उत्तर-पश्चिम में तो मौर्यों का आधिपत्य कई ऐसे भी इलाकों पर था जो ब्रिटिश साम्राज्य में भी शामिल नहीं थे।

साम्राज्य का संगठन

मौर्यों ने बड़ा ही विस्तृत प्रशासन-तंत्र स्थापित किया। इसकी झलक हमें मेगास्थनीज की पुस्तक इंडिका और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलती है।

मेगास्थनीज यूनान का राजदूत था और उसे सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में भेजा था। वह मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र में रहता था और उसने न केवल पाटलिपुत्र के, अपितु सारे मौर्य साम्राज्य के शासन का विवरण लिख छोड़ा है। उसका यह विवरण पूरा-पूरा नहीं बच पाया, परंतु उससे लिए गए उद्धरण कई परवर्ती यूनानी लेखकों की पुस्तकों में आए हैं। इन सारे टुकड़ों को इकट्ठा करके पुस्तक के रूप में इन्डिका के नाम से प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक से मौर्यकाल के प्रशासन, समाज और अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मेगास्थनीज के इस विवरण को कौटिल्य के अर्थशास्त्र से परिपूरित किया जा सकता है। यद्यपि अर्थशास्त्र को अंतिम रूप मौर्य शासन के कई सदियों के बाद दिया गया फिर भी इसके कुछ खंडों में आई बातें यथार्थ हैं और मौर्य प्रशासन एवं अर्थव्यवस्था के बारे में प्रामाणिक जानकारी देती हैं। इन दोनों स्रोतों के आधार पर हम चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रशासन-तंत्र का खाका खींच सकते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य स्वेच्छाचारी शासक था और सारे अधिकार अपने ही हाथों में रखे हुए था। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा का आदर्श उच्च होता था। उसका कथन है कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और प्रजा के दुःख में ही उसका दुःख। परंतु हमें मालूम नहीं कि राजा ने इस आदर्श का पालन कहाँ तक किया। मेगास्थनीज के अनुसार, राजा की सहायता करने के लिए एक परिषद् गठित थी। बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग इसके सदस्य थे। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि राजा इस परिषद् की सलाह मानने को बाध्य था; परन्तु ऊँचे अधिकारियों का चयन इस परिषद् के सदस्यों में से ही किया जाता था।

साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभक्त था। हर एक प्रांत एक-एक राजकुमार के जिम्मे लगा रहता था। राजकुमार राजवंश की किसी संतान को बनाया जाता था। प्रांत भी छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त थे। ग्रामांचल और नगरांचल दोनों के प्रशासन की व्यवस्था थी। उत्खननों से पता चलता है कि बहुत-सारे बड़े-बड़े नगर मौर्यकाल के हैं। पाटलिपुत्र, कौशांबी, उज्जयिनी और तक्षशिला चोटी के नगर थे। मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र का प्रशासन छह समितियाँ करती थीं। हर समिति में पाँच-पाँच सदस्य होते थे। ये समितियाँ सफाई, विदेशियों की रक्षा, जन्म और मृत्यु का लेखा, बाटों और मापों का नियमन और इस तरह के अन्यान्य कार्य करती थीं। मौर्य काल के कई प्रकार के बाट बिहार में विभिन्न स्थानों में पाए गए हैं।

इन सबों के अतिरिक्त केन्द्रीय शासन के राज्य के दो दर्जन से अधिक विभाग थे जो कम से कम राजधानी के निकटवर्ती क्षेत्रों में सामाजिक और आर्थिक गतिविधि पर नियंत्रण रखते थे। चन्द्रगुप्त के प्रशासन की सबसे बड़ी विशेषता है विशाल सेना रखना। प्लिनी नामक यूनानी लेखक के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में 600,000 पैदल सिपाही, 30,000 घुड़सवार और 9,000 हाथी थे। एक दूसरे स्रोत में कहा गया है कि मौर्यों के पास 8,000 अश्वचालित रथ थे। इन सबों के अलावा, लगता है कि मौर्यों के पास नौसेना भी थी। मेगास्थनीज के अनुसार सैनिक प्रशासन के लिए तीस अधिकारियों की एक परिषद् थी जो पाँच-पाँच सदस्यों की छह समितियों में विभक्त थी। लगता है कि पैदल, घुड़सवार, हाथी, रथ, नाव और सवारी, सेना के इन छह अंगों में से हर एक का प्रबंध एक-एक समिति को सौंपा गया था। मौर्य-सेना नंद-सेना से

लगभग तिगुनी थी। राजक्षेत्र और आयस्रोतों में बहुत अधिक वृद्धि होने की बदौलत ही ऐसा हुआ होगा।

इतनी विशाल सेना पर होने वाले भारी खर्च की पूर्ति चन्द्रगुप्त मौर्य कैसे कर पाता था? यदि हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर भरोसा करें तो लगता है कि साम्राज्य की सीमाओं के भीतर होने वाले लगभग सारे आर्थिक कार्यकलाप पर राजकीय नियंत्रण था। राज्य ने खेतिहरों और शूद्र मजदूरों की सहायता से परती जमीन तोड़कर कृषि-क्षेत्र को बढ़ाया। कृषि-क्षेत्र बढ़ने से राज्य को अच्छी खासी आय होने लगी, क्योंकि उस पर नए-नए बसाए गए किसानों से अच्छा राजस्व आने लगा। जान पड़ता है कि किसानों से वसूले गए कर उनकी उपज के चौथे हिस्से से छठे हिस्से तक होते थे। जिन किसानों को सिंचाई सुविधा दी गई उनसे सिंचाई-कर वसूला जाता था। इसके अलावा, आपातकाल में किसानों को अधिक उपजाने के लिए बाध्य किया जाता था। नगरों में बिक्री के लिए जो माल लाए जाते थे उन पर प्रवेशद्वार पर ही चुंगी ले ली जाती थी। खान, मद्य की बिक्री, हथियारों का निर्माण आदि पर राज्य का एकाधिकार था। इन सबों से अवश्य ही राज्य-कोष समृद्ध होता था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने सुसंगठित प्रशासन-तंत्र कायम किया और उसे ठोस वित्तीय आधार प्रदान किया।

अशोक (273-232 ई. पू.)

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार गद्दी पर बैठा, जिसके शासन की महत्त्वपूर्ण बात है यूनानी राजाओं के साथ निरंतर संबंध। उसका पुत्र अशोक मौर्य राजाओं में सबसे महान् हुआ। बौद्ध परंपरा के अनुसार, वह अपने आरंभिक जीवन में परम क्रूर था और अपने 99 भाइयों को कत्ल कर के राजगद्दी पर बैठा। लेकिन यह बात केवल किवदंती पर आधारित है, इसलिए गलत भी हो सकती है। बौद्ध लेखकों ने अशोक का जो जीवन-चरित लिखा है वह कल्पनाओं से भरा है, इसलिए उसे गम्भीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया जा सकता।

अशोक के अभिलेख

हम अशोक का इतिहास उसके अभिलेखों के आधार पर तैयार करते हैं। अशोक पहला भारतीय राजा हुआ जिसने अपने अभिलेखों के सहारे सीधे अपनी प्रजा को संबोधित किया। अशोक के अभिलेखों को पांच श्रेणियों में बांटा गया है : दीर्घ शिलालेख, लघु शिलालेख, पृथक शिलालेख, दीर्घ स्तंभलेख और लघु स्तंभलेख। अशोक का नाम केवल प्रथम लघु शिलालेख की प्रतियों में मिला है जो कर्नाटक के तीन स्थान और मध्य प्रदेश के एक स्थान पर पाई गई हैं। अन्य सभी अभिलेखों में केवल देवानांपिय पियदसि (देवों का प्यारा) उसकी उपाधि के रूप में मिलता है, और अशोक का नाम छोड़ दिया गया है।

ये अभिलेख शिलाओं पर, पत्थर के पालिशदार शीर्षयुक्त स्तम्भों पर, गुहाओं में और एक मामले में मिट्टी के कटोरे पर भी खुदे हुए हैं। ये न केवल भारतीय उपमहादेश में ही अपितु अफगानिस्तान में भी पाए गए हैं। अब तक ये 45 स्थानों में कुल 182 पाठांतरों में पाए गए हैं। इन अभिलेखों में राजा के आदेश सूचित किए गए हैं। प्राकृत में रचे ये अभिलेख साम्राज्य भर के अधिकांश भागों में ब्राह्मी लिपि में लिखित हैं। किंतु पश्चिमोत्तर भाग में ये खरोष्ठी और आरामाइक लिपियों में हैं और अफगानिस्तान में इनकी भाषा और लिपि आरामाइक और यूनानी दोनों है। अशोक के अभिलेख सामान्यतः प्राचीन राजमार्गों

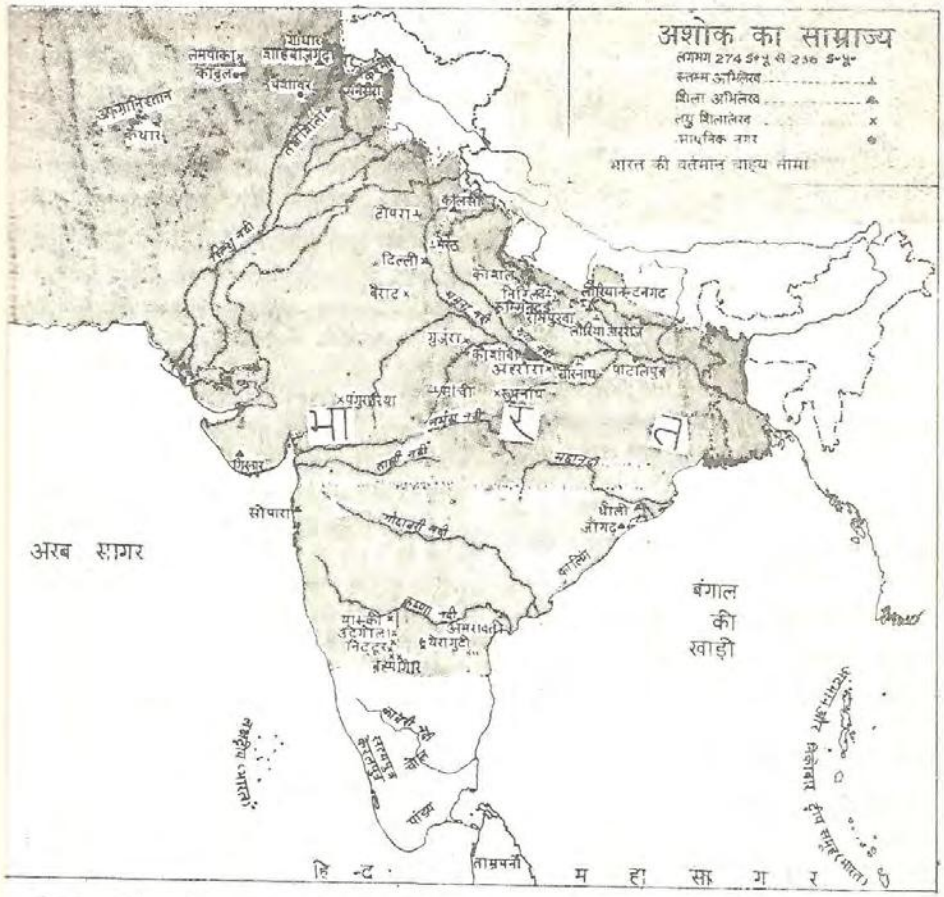

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

अशोक का साम्राज्य

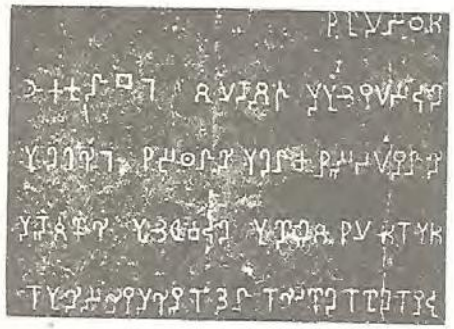

रुम्मिनदेई स्तंभ का अभिलेख
यह अभिलेख ब्राह्मी लिपि में है। अभिलेख की भाषा प्राकृत है।
अभिलेख को नागरी लिपि में नीचे दिया गया है।

1. देवानपियेन पियदसिन लाजिन बीसति – वसाभिसितेन
2. अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्य – मुनीति
3. सिला – विगड – भीचा कालापित सिला – थभे च उसपापिते
4. हिद भगवं जाते ति लुंमिनी – गामे उबलिके कटे
5. अठ – भागिये च

के किनारे स्थापित थे। इनसे अशोक के जीवनवृत, उसकी आन्तरिक और परराष्ट्रीय नीति, तथा उसके राज्य के विस्तार की जानकारी मिलती है।

कलिंग युद्ध का प्रभाव

अशोक की गृह और विदेश नीति बौद्ध धर्म के आदर्श से प्रेरित है। राजगद्दी पर बैठने के बाद उसने केवल एक युद्ध किया, जो कलिंग युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अपने कथन के अनुसार इस युद्ध में 1,00,000 लोग मारे गए, कई लाख बरबाद हुए और 1,50,000 बंदी बनाए गए। ये आंकड़े अतिश्योक्तिपूर्ण हैं, क्योंकि अशोक के अभिलेखों में **शतसहस्र** शब्द का प्रयोग कहावती तौर पर किया गया है। जो भी हो, इससे प्रतीत होता है कि इस युद्ध में हुए भारी नर-संहार से अशोक का हृदय दहल गया। इस युद्ध के कारण ब्राह्मण पुरोहितों और बौद्ध भिक्षुओं को भी बहुत कष्ट झेलने पड़े, जिससे अशोक को गहरी व्यथा और पश्चाताप हुआ। इसलिए उसने दूसरे राज्यों पर भौतिक विजय पाने की नीति छोड़ कर सांस्कृतिक विजय पाने की नीति अपनाई। दूसरे शब्दों में, भेरी-घोष के बदले **धम्म-घोष** होने लगा। हम अशोक के शब्दों में उसके 13वें मुख्य शिलालेख से एक उद्धरण दे रहे हैं :

> 'राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। युद्ध में एक लाख पचास हजार लोग बंदी बनाए गए, एक लाख मारे गए और उसके कई गुने नष्ट हुए। उसके बाद अब देवों का प्रिय निष्ठापूर्वक धम्म का पालन, धम्म की कामना और धम्म का उपदेश करने लगा। उसके बाद कलिंगविजयी देवों का प्रिय पश्चात्ताप करने लगा क्योंकि जब किसी देश को जीता जाता है तब वहाँ लोगों की हत्या, मृत्यु और पलायन होते हैं। ऐसा वध देवों के प्रिय को बड़ा दुखद और गंभीर लगा। देवों के प्रिय को इससे भी अधिक दुःख इसलिए है कि वहाँ जो कोई रहते हैं चाहे वे ब्राह्मण, श्रमण या अन्य सम्प्रदायों के हों या ऐसे गृहस्थ हों जो गुरुजनों के आज्ञाकारी और अपने मित्रों, परिचितों, साथियों, सम्बन्धियों, दासों और चाकरों के प्रति अच्छा व्यवहार करते हैं और निष्ठावान् हैं – वे सभी हिंसा, हत्या और अपने प्रियजनों के विछोह के दुःख को झेलते हैं। ... उस समय कलिंग को जीतने में जितने लोग मारे गए, मरे या बंदी हुए, अब यदि उसके सौवें या हजारवें भाग को भी वैसा ही भोगना पड़े तो देवों के प्रिय के लिए भारी व्यथाकारी होगा। ...देवताओं का प्रिय **धम्मविजय** को ही श्रेष्ठ विजय समझता है। ....'

अब अशोक ने कबायली समुदायों और सीमावर्ती राज्यों को अपने आदर्शात्मक विचारों से प्रभावित

किया। कलिंग के स्वतंत्र राज्यों के प्रजाजनों से कहा गया कि वे राजा को पिता के तुल्य समझकर उसकी आज्ञाओं का पालन करें और उस पर विश्वास करें। अपने अधिकारियों को उसने निर्देश दिया कि वे उसके इस विचार का प्रचार उसकी सारी प्रजा में करें। इसी प्रकार जंगल में रहने वाले जनजातियों से भी कहा गया कि वे भी **धम्म** के मार्ग पर चलें।

अब अशोक यह मानने लगा कि पराए राज्यों को सैनिक विजय के उपयुक्त क्षेत्र समझना अनुचित है। वह उन्हें आदर्श विचारों से जीतने का प्रयास करने लगा। पराए देशों में भी उसने मनुष्यों और पशुओं के कल्याण के लिए कदम उठाए। उन दिनों की स्थिति को देखते हुए यह सर्वथा नई चीज थी। उसने पश्चिम एशिया और यूनानी राज्यों में अपने शान्तिदूत भेजे। ये सभी बातें अशोक के अपने ही अभिलेखों के आधार पर कही जा सकती हैं। यदि बौद्ध परंपरा पर विश्वास किया जाए, तो अशोक ने श्रीलंका और मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने धर्मप्रचारक भेजे। इससे प्रतीत होता है कि प्रबुद्ध शासक के रूप में अशोक ने प्रचार के द्वारा अपने राजनैतिक प्रभाव का क्षेत्र बढ़ाया।

यह सोचना गलत होगा कि कलिंग युद्ध ने अशोक को नितांत शांतिवादी बना दिया। उसने हर हालत में 'शांति के लिए शांति' की नीति नहीं ग्रहण की। प्रत्युत, वह अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने की व्यावहारिक नीति पर चला। उसने विजय के बाद कलिंग को अपने कब्जे में रखा और अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि उसने चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से चली आ रही विशाल सेना को विघटित कर दिया। वह जनजातियों से बार-बार कहता रहा कि वे **धम्म** का मार्ग धरें, और साथ ही धमकी भी देता रहा कि यदि वे सामाजिक व्यवस्था और नैतिक नियम (**धम्म**) का उल्लंघन करेंगे तो बुरा परिणाम होगा। अपने साम्राज्य के भीतर उसने एक तरह के अधिकारियों की नियुक्ति की जो **राजूक** कहलाते थे और इन्हें प्रजा को न केवल पुरस्कार ही, बल्कि दंड देने का भी अधिकार सौंपा गया था। धर्म के सहारे साम्राज्य को सुदृढ़ करने की अशोक की नीति फलवती हुई। कन्धार अभिलेख से मालूम होता है कि उसकी इस नीति की सफलता बहेलियों और मछुआरों पर भी हुई और उन्होंने जीव-हिंसा को त्याग कर और सम्भवत: स्थिरवासी होकर कृषक का जीवन अपना लिया।

आंतरिक नीति और बौद्ध धर्म

कलिंग युद्ध के परिणामस्वरूप अशोक बौद्ध हो गया। परंपरा बताती है कि वह बौद्ध भिक्षु हो गया। बौद्धों को अपार दान दिया और बौद्ध धर्म-स्थानों की यात्रा की। उसकी इस यात्रा का संकेत उसके अभिलेखों में आए **धम्मयात्रा** शब्द से भी मिलता है।

पारंपरिक अनुश्रुति के अनुसार, अशोक ने बौद्धों का तीसरा सम्मेलन (**संगीति**) आयोजित किया, और धर्म प्रचारकों को केवल दक्षिण भारत ही नहीं, श्रीलंका, बर्मा आदि देशों में भी भेजा ताकि वहाँ के लोगों को बौद्ध धर्म में लाया जाए। ईसा-पूर्व दूसरी और पहली सदियों के ब्राह्मी अभिलेख श्रीलंका में मिले हैं।

अशोक ने अपने बारे में बड़ा उच्च आदर्श रखा। यह आदर्श था राजा का पिता के तुल्य होना। उसने अपने अधिकारियों को बार-बार कहा कि राजा प्रजा को अपनी सन्तति समझता है, यह बात वे प्रजा को बता दें। अधिकारियों से

उसने यह भी कहा कि राजा के प्रतिनिधि के नाते वे प्रजा की देखभाल किया करें। अशोक ने नारी सहित समाज के विभिन्न वर्गों के बीच धर्म का प्रचार करने के लिए **धम्ममहामात्र** बहाल किए। अपने साम्राज्य में न्याय-कार्य करने के लिए उसने **राजूकों** की भी नियुक्ति की।

वह कर्मकांडों का, विशेषत: स्त्रियों में प्रचलित अनुष्ठानों या रस्मों का विरोधी था। उसने कई तरह के पशु-पक्षियों की हिंसा पर रोक लगा दी और उसकी राजधानी में तो प्राणी को मारना पूर्णत: निषिद्ध था। उसने ऐसे तड़क-भड़क वाले सामाजिक समारोहों पर भी रोक लगा दी जिनमें लोग रंगरेलियाँ मनाते थे।

परंतु अशोक का धर्म संकुचित नहीं था। इसे हम सम्प्रदायवादी नहीं कह सकते हैं। इस धर्म का व्यापक लक्ष्य था समाज को सुव्यवस्थित बनाए रखना। इसका उपदेश था कि लोग माता-पिता की आज्ञा मानें, ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं का आदर करें, तथा दासों और सेवकों के प्रति दया करें। ये उपदेश बौद्ध धर्म में भी पाए जाते हैं और ब्राह्मण धर्म में भी।

अशोक ने लोगों को 'जियो और जीने दो' का पाठ पढ़ाया। उसने जीवों के प्रति दया और बांधवों के प्रति सद्व्यवहार की सीख दी। उसके उपदेशों का लक्ष्य था परिवार-संस्था और तत्कालीन सामाजिक वर्गव्यवस्था की रक्षा करना। वह बताता था कि जो लोग भला आचरण करेंगे वे स्वर्ग जाएँगे। उसने ऐसा नहीं कहा कि वे निर्वाण प्राप्त करेंगे, जो कि बौद्ध धर्म का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार अशोक के उपदेशों का उद्देश्य सहिष्णुता के आधार पर तत्कालीन समाज-व्यवस्था को बनाए रखना था। ऐसा नहीं लगता कि उसने किसी कट्टरपंथी धर्म का प्रचार किया।

इतिहास में अशोक का स्थान

कहा जाता है कि अशोक की शान्तिवादी नीति ने मौर्य साम्राज्य को बरबाद कर दिया, पर यह सही नहीं है। इसके विपरीत, अशोक ने अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। नि:सन्देह प्राचीन विश्व के इतिहास में वह महान् धर्मप्रचारक शासक हुआ। उसने अपनी आस्था के प्रति बड़े ही उत्साह और निष्ठा से काम किया और अपने साम्राज्य के अंदर और विदेश में सफलता पाई।

अशोक ने देश में राजनीतिक एकता स्थापित की। उसने एक धर्म, एक भाषा और प्राय: एक लिपि के सूत्र में सारे देश को बाँध दिया। उसके अधिकांश अभिलेख ब्राह्मी में हैं। पर देश के एकीकरण में उसने ब्राह्मी, खरोष्ठी, आरामाइक और यूनानी सभी लिपियों का सम्मान किया। स्पष्टत: उसने यूनानी, प्राकृत और संस्कृत जैसी भाषाओं को और विविध धार्मिक संप्रदायों को समन्वित किया। उसने सहनशील धार्मिक नीति चलाई। उसने प्रजा पर बौद्ध धर्म लादने की चेष्टा नहीं की, प्रत्युत उसने हर संप्रदाय के लिए दान दिए, भले ही वह संप्रदाय बौद्ध धर्म को न मानता हो या उस धर्म का विरोधी ही हो।

धर्मप्रचार के कार्य में अशोक को अपार उत्साह था। उसने साम्राज्य के सुदूर भागों में भी अपने अधिकारियों को तैनात किया। इससे प्रशासन-कार्य में लाभ हुआ और साथ ही विकसित गंगा के मैदान और पिछड़े दूरवर्ती प्रदेशों के बीच सांस्कृतिक संपर्क बढ़ा। भौतिक संस्कृति, जो साम्राज्य के मध्यवर्ती इलाकों की विशिष्टता थी, कलिंग और निचले दकन और उत्तरी बंगाल में भी फैल गई।

सबसे बढ़कर, इतिहास में अशोक का नाम उसकी शान्ति, अनाक्रमण और सांस्कृतिक विजय की नीति के लिए अमर है। प्राचीन भारत के

इतिहास में इस तरह की नीति अपनाने का कोई आदर्श अशोक के सामने नहीं था; और न इस तरह का कोई उदाहरण किसी देश में मिलता है। हाँ, मिस्र भले ही इसका अपवाद हो जहाँ अखनात्न ने ईसा-पूर्व चौदहवीं सदी में शान्तिवादी नीति को अपनाया था। लेकिन यह स्पष्ट है कि अशोक को अतीत के अपने इस मिस्री समचिन्तक की जानकारी नहीं थी। कौटिल्य ने तो राजा को सलाह दी कि राजा को शक्ति द्वारा विजय पाने की चेष्टा सदा करनी चाहिए, लेकिन अशोक ने इसके ठीक उलटी नीति अपनाई। उसने अपने उत्तराधिकारियों से आक्रमण और विजय की उस नीति को त्याग देने को कहा जिसे मगध के राजा कलिंग युद्ध तक अपनाते चले आ रहे थे। उसने उन्हें शांति की नीति अपनाने की सलाह दी, जो नीति दो सदियों से लगातार चले आ रहे आक्रमणात्मक युद्ध के बाद अत्यंत ही आवश्यक हो गई थी। अशोक निरंतर अपनी नीति पर दृढ़ रहा। यद्यपि उसके पास पर्याप्त साधन-संपदा थी और विशाल सेना थी, फिर भी उसने कलिंग विजय के बाद कोई युद्ध नहीं किया। इस अर्थ में वह अपने समय और अपनी पीढ़ी से बहुत आगे था।

फिर भी उसके राज्यपालों और करद राजाओं पर उसकी इस नीति का स्थायी असर नहीं पड़ा, जिन्होंने 232 ई. पू. में उसके राज्य-काल के समाप्त होते ही अपने आपको अपने-अपने क्षेत्र का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। इसी प्रकार अशोक की नीति उसके पड़ोसियों की मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं ला सकी। जब अशोक का राज्य-काल 232 ई. पू. में समाप्त हुआ तब से 30 वर्षों के अंदर ही पड़ोसी राजा उसके साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर झपट पड़े।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :
   धम्म, राजूक भेरीघोष, श्रमण, धम्मघोष, धम्ममहामात्र।
2. चंद्रगुप्त ने किस प्रकार मौर्यवंश का शासन स्थापित किया ?
3. कलिंग युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा ?
4. मौर्य साम्राज्य की प्रशासन-पद्धति का वर्णन करें।
5. अशोक ने बौद्ध धर्म को किस प्रकार बढ़ाया? धर्म के विषय में अशोक की धारणा क्या थी?
6. मौर्य काल में हुई तकनीकी प्रगति का वर्णन करें।
7. सम्राट् अशोक का मूल्यांकन करें।
8. मौर्यों के इतिहास के मुख्य स्रोत क्या-क्या हैं ? हर स्रोत पर एक-एक टिप्पणी लिखें।
9. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर अशोक के साम्राज्य का विस्तार दिखाएँ और पाठ्यपुस्तक में उल्लिखित स्थान अंकित करें।
10. विवेचन करें कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना से हुए राजनीतिक परिवर्तनों का क्या प्रभाव हुआ।

अध्याय 15

मौर्य शासन का महत्त्व

राजकीय नियंत्रण

हिन्दू विधिग्रंथों में बार-बार कहा गया है कि राजा को धर्मशास्त्रों में बताए गए नियमों और देश में प्रचलित आचारों के अनुसार शासन करना चाहिए। कौटिल्य ने राजा को सलाह दी है कि जब वर्णाश्रम-धर्म (वर्णों और आश्रमों पर आधारित समाज-व्यवस्था) लुप्त होने लगे तो राजा को धर्म की स्थापना करनी चाहिए। कौटिल्य ने राजा को **धर्मप्रवर्तक** अर्थात् सामाजिक व्यवस्था का संचालक कहा है। अशोक ने अपने अभिलेखों में बताया है कि राजा का आदेश अन्य आदेशों से ऊपर है। अशोक ने धर्म का प्रवर्तन किया और उसके मूलतत्वों को सारे देश में समझाने और स्थापित करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की।

राजा के निरंकुश अधिकार का दावा मगध के राजाओं द्वारा अपनाई गई सैनिक विजय की नीति के कारण आगे आया। अंग, वैशाली, काशी, कोसल, अवन्ति, कलिंग आदि को एक-एक करके मगध साम्राज्य में मिला लिया गया। इन सभी क्षेत्रों पर जो सैनिक नियंत्रण हुआ वह धीरे-धीरे जन-जीवन के हर अंग पर उत्पीड़क नियंत्रण के रूप में परिणत हो गया। मगध साम्राज्य के पास तलवार का इतना जोर था कि वह सभी क्षेत्रों पर अपना पूरा नियंत्रण लाद सका।

जनजीवन के हर क्षेत्र को अपने वश में रखने के लिए राज्य को विशाल अधिकारी वर्ग रखना पड़ता था। प्राचीन इतिहास के किसी भी अन्य काल में हम इतने सारे अधिकारियों को नहीं पाते जितने मौर्य काल में।

प्रशासन-तंत्र के साथ-साथ गुप्तचरों का भी विस्तृत जाल बिछा था। विभिन्न प्रकार के जासूस विदेशी शत्रुओं की गतिविधियों पर नजर रखते थे और संदिग्ध अधिकारियों के बारे में पता लगाया करते थे। भोले-भाले लोगों से अन्धविश्वास का सहारा लेकर कोष-संचय करने में भी वे सहायक सिद्ध होते थे।

शीर्षस्थ अधिकारी **तीर्थ** कहलाते थे। लगता है, अधिकतर अधिकारियों को नगद वेतन दिया जाता था। उच्चतम कोटि के अधिकारी थे **मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज**, जिन्हें उदारतापूर्ण पारिश्रमिक मिलता था। उन्हें 48 हजार पण की भारी रकम मिलती थी (पण 3/4 तोले के बराबर चाँदी का सिक्का होता था)। इसके ठीक विपरीत, सबसे निचले दर्जे के अधिकारियों को कुल मिलाकर 60 पण मिलते थे, हालाँकि कुछ कर्मचारियों

को महज दस-बीस पण ही दिए जाते थे। इससे लगता है कि उच्चतम और निम्नतम श्रेणियों के कर्मचारियों के बीच भारी विषमता थी।

आर्थिक नियंत्रण

यदि हम कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** को आधार बनाएँ तो लगेगा कि राज्य में 27 अध्यक्ष नियुक्त थे। उनका कार्य मुख्य रूप से राज्य की आर्थिक गतिविधियों का नियमन करना था। वे कृषि, व्यापार-वाणिज्य और बाट-माप का तथा कताई, बुनाई, खान आदि शिल्पों का नियमन-नियंत्रण करते थे। राज्य कृषकों की भलाई के लिए सिंचाई और जलवितरण की व्यवस्था करता था। मेगास्थनीज हमें बतलाता है कि मिस्र की भाँति ही मौर्य राज्य में अधिकारी जमीन को मापता और उन नहरों का निरीक्षण करता था जिनसे होकर पानी छोटी नहरों में पहुँचता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कृषि कार्यों में दासों को लगाए जाने की व्यवस्था है जो एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विकास था। मेगास्थनीज का कहना है कि उसने दास नहीं देखे। परंतु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि भारत में गृहदास वैदिक काल से ही पाए जाते थे। लगता है कि मौर्य काल में ही दासों को कृषिकार्यों में बड़े पैमाने पर लगाया गया। राज्य के पास बड़े-बड़े कृषि-क्षेत्र थे, जिनमें अनगिनत दास और मज़दूर खटाए जाते थे। कलिंग युद्ध के बाद जो डेढ़ लाख युद्धबन्दी कलिंग से पाटलिपुत्र लाए गए संभवतः वे कृषि-कार्य में ही लगा दिए गए होंगे। डेढ़ लाख की संख्या अतिशयोक्ति जैसी लगती है। जो भी हो उत्पादन की दृष्टि से प्राचीन भारतीय समाज दास-समाज नहीं था। यूनान और रोम में जो कार्य दास करते थे वह भारत में शूद्रों से लिया जाता था। शूद्रों को ऊपर के तीनों वर्णों की साझा-सम्पत्ति समझा जाता था। उन्हें दासों, शिल्पियों और कृषकों के रूप में ऊपर के तीनों वर्णों का काम करने के लिए बाध्य किया जाता था।

कई कारणों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजकीय नियंत्रण साम्राज्य के विशाल भाग में था, कम से कम केन्द्रीय भाग में तो अवश्य था। ऐसा नियंत्रण पाटलिपुत्र की अनुकूल अवस्थिति के कारण संभव हुआ। यहाँ से जलमार्ग के द्वारा राजकर्मचारी चारों ओर जा सकते थे। इसके अतिरिक्त, पाटलिपुत्र से एक राजमार्ग वैशाली और चम्पारण होते हुए नेपाल जाता था। यह भी ज्ञात है कि हिमालय की तराई में भी एक सड़क थी। यह सड़क वैशाली से चम्पारण होकर कपिलवस्तु, कलसी (देहरादून जिले में), हाजरा होते हुए अन्त में पेशावर पहुँचती थी। मेगास्थनीज ने एक सड़क की चर्चा की है जो पश्चिमोत्तर भारत को पटना से जोड़ती थी। सड़कें पटना और सासाराम के बीच भी थीं जो वहाँ से मिर्जापुर और मध्य भारत चली गई थी। राजधानी से एक सड़क पूर्वी मध्य प्रदेश होते हुए कलिंग जाती थी, और फिर कलिंग भी आन्ध्र और कर्नाटक से जुड़ा हुआ था। इन सारे मार्गों के कारण यातायात में सहूलियत होती थी और यातायात में घोड़ों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी। उत्तरी मैदानों में तो गंगा और अन्य नदियाँ भी यातायात के मार्ग थीं।

अशोक के अभिलेखों के मिलने के स्थान महत्त्वपूर्ण राजमार्गों पर पड़ते हैं। पत्थर के स्तंभ वाराणसी के पास चुनार में तैयार किए जाते थे और वहाँ से उत्तरी और दक्षिणी भारत में पहुँचाए जाते थे। संभवतः देश का जो आबाद हिस्सा मौर्यों के नियंत्रण में था वही मुगलों के और शायद ईस्ट इंडिया कंपनी के भी नियंत्रण में रहा। मध्यकाल में आकर राजमार्गों के किनारे अधिकाधिक बस्तियाँ

होने से और रकाबदार घोड़ों के प्रचलन से यातायात में उन्नति हुई। कंपनी ने जो बन्दूक का प्रयोग किया उसका आयात 1830 से लगातार वाष्पशक्तिचालित जहाजों से होता रहा।

ऐसा लगता है कि मौर्य शासकों को बहुत बड़ी जनसंख्या का सामना नहीं करना पड़ा होगा। किसी भी तरह मौर्य सेना में 6,50,000 से अधिक सिपाही नहीं थे। यदि मान लें कि आबादी का दस प्रतिशत भाग सेना में भरती हुआ तो मध्य गंगा के मैदानों की कुल आबादी 65,00,000 से अधिक नहीं रही होगी। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि उसका राज्यादेश पूर्वी छोर और दक्षिणी छोर के सिवा सारे देश में प्रचारित किया गया, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक के 9 स्थानों पर उसके अभिलेख मिलते है लेकिन यातायात की कठिनाइयों के कारण राज्य-नियंत्रण मध्य गंगा अंचल के बाहर उतना कारगर नहीं हुआ होगा।

प्राचीन भारत में कर-प्रणाली की दृष्टि से मौर्य काल महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य ने कृषकों, शिल्पियों और व्यापारियों से उगाहे जाने वाले बहुत-सारे करों का नामोल्लेख किया है। इन सारे करों के निर्धारण, वसूली और संग्रह के लिए दृढ़ और दक्ष संगठन की आवश्यकता थी। मौर्यों ने वसूली करने और ठीक से जमा रखने से अधिक महत्त्व कर-निर्धारण को दिया। **समाहर्ता** कर-निर्धारण का सर्वोच्च अधिकारी होता था, और **सन्निधाता** राजकीय कोषागार और भंडागार का संरक्षक होता था। राज्य को **समाहर्ता** के चलते जो नुकसान होता था उसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। वास्तव में, कर-निर्धारण का ऐसा विशद संगठन पहली बार मौर्य काल में ही देखा जाता है। **अर्थशास्त्र** में उल्लिखित करों की लंबी सूची मिलती है। यदि ये सारे कर वास्तव में उगाहे जाते होंगे तो प्रजा के पास निर्वाह के लिए नाममात्र बचता होगा।

अभिलेखों के आधार पर हम जानते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी राजकीय भंडार-घर होते थे, जिससे यह प्रकट होता है कि कर अनाज की शक्ल में भी कर वसूला जाता था, और अनाज के इन भंडार-घरों से अकाल, सूखा आदि के समय स्थानीय लोगों को सहायता दी जाती थी।

प्रतीत होता है कि मयूर, पर्वत और अर्धचन्द्र की छापवाली आहत रजत-मुद्राएँ मौर्य-साम्राज्य की मान्य मुद्राएँ थीं। ये मुद्राएँ भारी मात्रा में देश के बड़े भाग में मिली हैं। निःसंदेह, ये मुद्राएँ कर की वसूली और अधिकारियों के वेतन भुगतान में सुविधाप्रद हुई होंगी और अपनी शुद्ध समरूपता के कारण व्यापक क्षेत्र में बाजार की लेन-देन में भी सुविधा के साथ चली होंगी।

ललितकला और वास्तुकला

कला और वास्तुशिल्प में मौर्यों का योगदान बड़ा मूल्यवान है। पत्थर की इमारत बनाने का काम भारी पैमाने पर उन्होंने ही आरंभ किया। मेगास्थनीज ने कहा है कि पाटलिपुत्र स्थित मौर्य राजप्रासाद उतना ही भव्य था जितना ईरान की राजधानी में बना राजप्रासाद। पत्थर के स्तंभों के टुकड़े और उनके ठूँठ (stump) आधुनिक पटना नगर के किनारे कुम्हरार में पाए गए हैं जो 80 स्तंभों वाले विशाल भवन के अस्तित्व का संकेत देते हैं। इन अवशेषों से तो वैसी भव्यता का आभास नहीं मिलता है जैसी मेगास्थनीज ने बताई है, लेकिन वे इस बात का प्रमाण अवश्य देते हैं कि मौर्य शिल्पी पत्थर पर पालिश करने में कितने दक्ष थे। ये स्तम्भावशेष उतने ही चमकीले हैं जितने उत्तरी पालिशदार काले मृद्भांड (एन.बी.पी.डब्ल्यू)।

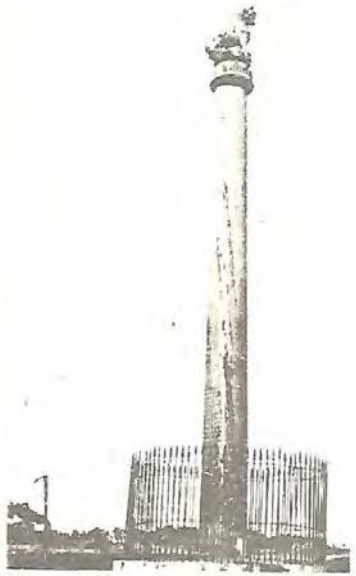

लौरिया-नंदनगढ़ का अशोक स्तंभ

रामपुरवा का वृषभ-शीर्ष

खदानों से पत्थर के बड़े-बड़े खंडों को ले जाना और सीधा खड़ा करने के बाद उन पर पालिश करना और नक्काशी करना अवश्य ही कठिन कार्य रहा होगा। यह सब अभियांत्रिकी का बड़ा चमत्कार लगता है। हर स्तम्भ पाण्डु रंगवाले बलुआ पत्थर के एक ही टुकड़े का बना है जिनका केवल शीर्ष भाग स्तंभों के ऊपर जोड़ा गया है और जिनमें तराशे गए सिंह और साँड विलक्षण वास्तुशिल्प के प्रमाण हैं। ये पालिशदार स्तम्भ देश भर में जहाँ-तहाँ खड़े किए गए, जिससे प्रकट होता है कि इन्हें ढोकर ले जाने और पालिशदार बनाने में अपेक्षित तकनीकी ज्ञान सारे देश में फैला हुआ था। मौर्य शिल्पियों ने बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए चट्टानों को काट कर गुफाएँ बनाने की परंपरा भी शुरू की। इसका सबसे पुराना उदाहरण बराबर की गुफाएँ जो गया से 30 किलोमीटर की दूरी पर है। बाद में इस प्रकार का गुहा-निर्माण पश्चिमी और दक्षिणी भारत में भी प्रचलित हुआ।

भौतिक संस्कृति का विस्तार और राज्यपद्धति

एक ओर मौर्यों ने पहली बार राज्य के सुसंगठित प्रशासनतंत्र का निर्माण किया जो साम्राज्य के केंद्रीय भाग में सक्रिय था, और दूसरी ओर उनके साम्राज्य-विस्तार ने व्यापार और धर्मप्रचार के द्वार खोल दिए। लगता है कि प्रशासकों,

मौर्य काल की एक मृण्मूर्ति

व्यापारियों और जैन तथा बौद्ध भिक्षुओं ने जो संपर्कसूत्र जोड़े उनके फलस्वरूप गंगा के मैदान की भौतिक संस्कृति साम्राज्य के सीमान्त क्षेत्रों में भी फैल गई। गंगा मैदान की इस नई भौतिक संस्कृति के आधार थे – लोहे का प्रचुर प्रयोग, आहत मुद्राओं की बहुतायत, लेखन कला का प्रयोग, उत्तरी काला पालिशदार मृद्भांड (एन.बी.पी.डब्ल्यू) नाम से प्रसिद्ध मिट्टी के बरतनों की भरमार, पकी ईंटों और छल्लेदार कुओं का प्रचलन और सबसे ऊपर पूर्वोत्तर भारत में नगरों का उदय। एरियन नामक यूनानी लेखक के अनुसार नगरों की संख्या इतनी थी कि उन्हें गिन कर ठीक-ठीक बताया नहीं जा सकता है। इस प्रकार देखते हैं कि गंगा के मैदानों में भौतिक संस्कृति मौर्य काल में बड़ी ही तेजी से विकसित हुई। दक्षिण बिहार में लौह अयस्क आसानी से उपलब्ध था, अतः लोहे के उपकरणों का प्रयोग खूब बढ़ा। इसी काल में मूठ वाली कुल्हाड़ियों, हँसिए और फालों का भी प्रचलन हुआ। आरावाला पहिया भी फैला। शस्त्रास्त्रों पर तो राज्य का एकाधिकार था, पर लोहे के अन्य औज़ार का प्रयोग किसी वर्ग में सीमित नहीं था। इनका इस्तेमाल और निर्माण-शिल्प गंगा के मैदान से साम्राज्य के सुदूर भागों में भी फैल गया होगा। मौर्य काल में ही पूर्वोत्तर भारत में सर्वप्रथम पकाई हुई ईंट का प्रयोग हुआ। मौर्य काल में बनी पकी ईंटों की संरचनाएँ बिहार और उत्तर प्रदेश में पाई गई हैं। मकान ईंट के भी बनते थे और लकड़ी के भी। प्राचीन काल में घने पेड़-पौधों की और विशेषकर साल वृक्ष की बहुतायत के कारण इमारती लकड़ी खूब उपलब्ध थी। मेगास्थनीज ने मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र में बने लकड़ी के भवनों का उल्लेख किया है। खुदाई से मालूम होता है कि लकड़ी के लट्ठों का प्रयोग बाढ़ और बाहरी आक्रमण से बचाव के लिए महत्त्वपूर्ण रक्षा-बाँध बनाने में किया गया था। पकी ईंटों का प्रयोग साम्राज्य के दूरवर्ती-प्रांतों में भी फैल गया। नम जलवायु और भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में मिट्टी की या कच्ची ईंट की वैसी टिकाऊ और बड़ी-बड़ी इमारतें बनाना संभव नहीं था, जैसी कि शुष्क क्षेत्रों में पाते हैं। इसलिए पकी ईंट का प्रयोग महान् वरदान सिद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे साम्राज्य के विभिन्न भागों में शहर पनपने लगे। इसी प्रकार छल्लेदार कुएँ, जो सबसे पहले मौर्य काल में गंगा घाटी में प्रकट हुए,

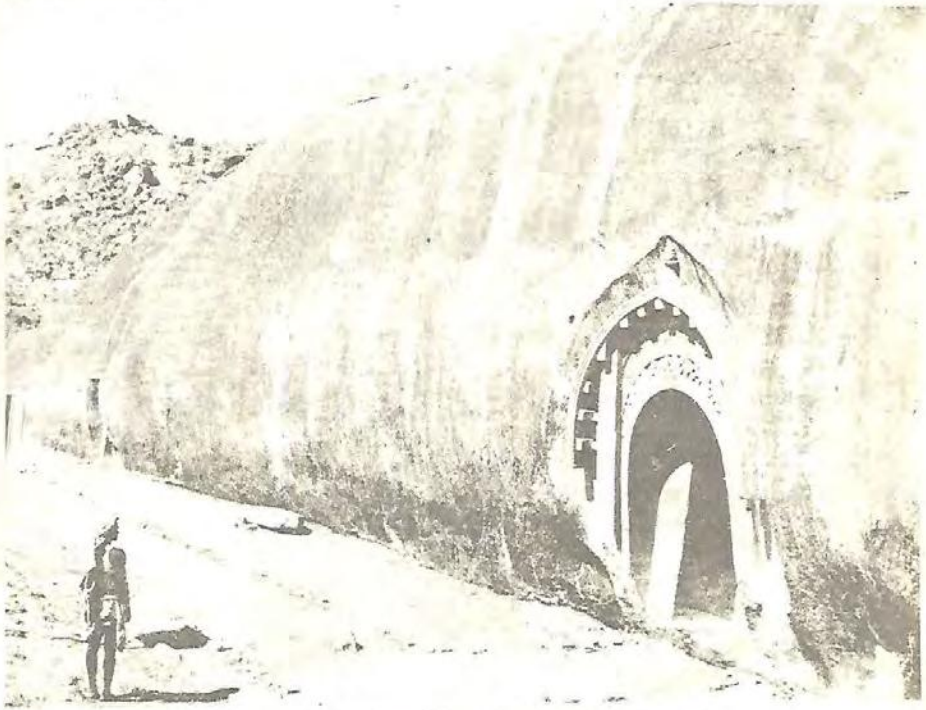

बराबर पहाड़ियों में स्थित लोमश ऋषि की गुफा का एक दृश्य

साम्राज्य के केंद्रीय भाग के बाहर भी फैल गए। चूँकि छल्लेदार कुँओं से लोगों को घरेलू काम के लिए पानी मिल जाता था, इसलिए यह आवश्यक नहीं रहा कि बस्तियाँ नदी के किनारे ही हों। घनी आबादी वाली बस्तियों में ऐसे कुँए जल-निकास के लिए खाई का काम करते थे।

लगता है कि मध्य गंगा के मैदान की भौतिक संस्कृति के तत्व, कुछ परिवर्तनों के साथ, उत्तरी बंगाल, कलिंग, आन्ध्र और कर्नाटक में भी पहुँचे। इसमें संदेह नहीं कि इन क्षेत्रों की अपनी संस्कृतियाँ भी स्वतंत्र रूप से पनप रही थी। बांग्लादेश में, जहाँ जिला बोगरा में मौर्य ब्राह्मी लिपि में महास्थान का अभिलेख पाया गया है, वहीं दिनाजपुर जिले के बनगढ़ में उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड (एन. बी.पी.डब्ल्यू.) मिले हैं। ऐसे मृद्भांडों के टुकड़े पश्चिम बंगाल के चौबीस परगना जिले के चन्द्रकेतुगढ़ जैसे स्थानों में भी मिले हैं। उड़ीसा के शिशुपालगढ़ में भी गंगा क्षेत्र से सम्पर्क के लक्षण दिखाई देते हैं। शिशुपालगढ़ की बस्ती मौर्य काल की ईसा-पूर्व तीसरी सदी की मानी जाती है और इसमें उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड के साथ-साथ लोहे के उपकरण और आहत मुद्राएँ मिली हैं। चूँकि शिशुपालगढ़, धौली और जौगड़ के पास है, जहाँ भारत के पूर्व समुद्रतट से गुजरने वाले प्राचीन

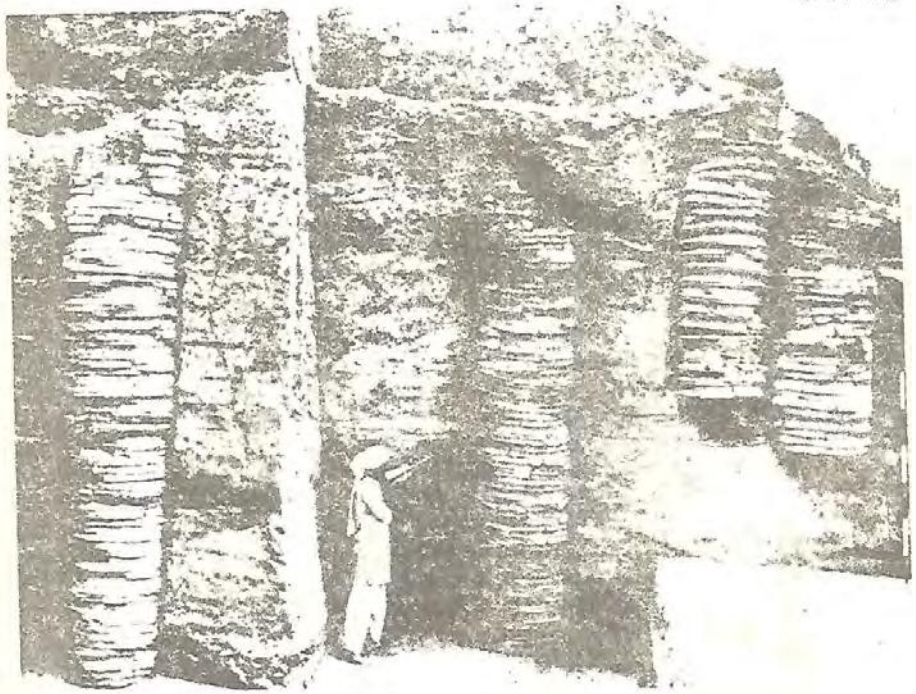

रोपड़ में प्राप्त छल्लेदार कुँए

राजमार्ग पर अशोक के अभिलेख पाए गए हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में भौतिक संस्कृति मगध के साथ संपर्क के परिणामस्वरूप पहुँची होगी। यह संपर्क ईसा-पूर्व चौथी सदी से ही आरंभ हुआ होगा, जब, संभवतः नंदों ने कलिंग पर अधिकार किया था। लेकिन यह संपर्क ईसा-पूर्व तीसरी सदी में आकर कलिंग-विजय के बाद ही घना हुआ होगा। संभवतः कलिंग-विजय के बाद सांत्वना के तौर पर अशोक ने अपने साम्राज्य में मिलाई गई उड़ीसा की कुछ बस्तियों को समुन्नत किया हो।

यद्यपि मौर्यकाल में आन्ध्र और कर्नाटक में कई स्थानों पर लोहे के औजार और हथियार पाए गए हैं, तथापि लोहे की उन्नत कारीगरी (टेक्नोलोजी) उन कारीगरों की देन है, जो अनेक प्रकार के बड़े-बड़े पत्थरों के गोलाकार शवाधान (दफनाने की जगह) बनाने के लिए मशहूर थे। लेकिन इनमें से कुछ स्थानों में अशोक के अभिलेख और ईसा-पूर्व तीसरी सदी के उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड के टुकड़े मिले हैं। उदाहरणार्थ, आन्ध्र के अमरावती में तथा कर्नाटक के कई स्थानों में अशोक के अभिलेख पाए गए हैं। इसलिए ऐसा लगता है कि पूर्वी समुद्र तट से भौतिक संस्कृति के तत्व मौर्य संपर्कों के जरिए निचले दकन पठार में प्रविष्ट हुए।

मौर्य संपर्कों के जरिए ही इस्पात बनाने की कला देश के कुछ भागों में फैल गई होगी। 200 ई. पू. के आस-पास की या इससे भी पहले की इस्पात की वस्तुएँ मध्य गंगा के मैदानों में पाई गई हैं। इस्पात के प्रचार से कलिंग में जंगल की सफाई और खेती के सुधरे तरीकों का इस्तेमाल होने लगा होगा, और इसके फलस्वरूप उस क्षेत्र में चेदि राज्य के उदय के लिए उपयुक्त स्थिति उत्पन्न हुई होगी। यद्यपि दकन में सातवाहन ईसा-पूर्व पहली सदी में ही सत्ता में आए फिर भी कुछ हद तक उनके साम्राज्य का स्वरूप मौर्य साम्राज्य जैसा था। सातवाहनों ने मौर्यों की कुछ प्रशासनिक इकाइयों को अपनाया। उनके राज्य में कई विषयों में मौर्य प्रणाली का अनुकरण किया गया।

प्रायद्वीपीय भारत में राज्य स्थापित करने की प्रेरणा न केवल चेदियों और सातवाहनों को बल्कि चेरों (केरलपुत्रों), चोलों और पाण्ड्यों को भी मौर्यों से ही मिली हुई लगती है। अशोक के अभिलेखों के अनुसार, चेर, चोल, पाण्ड्य, सतियपुत तथा ताम्रपर्णी या श्रीलंका के लोग मौर्य साम्राज्य की सीमा से लगे क्षेत्रों में बसते थे। इसलिए उन सबों के राज्य मौर्य राज्य से मिलते-जुलते थे। मौर्य राजधानी में आए मेगास्थनीज को पाण्ड्यों की जानकारी थी। अशोक अपने को 'देवों का प्यारा' कहता था, यही उपाधि तमिल में अनूदित करके संगम में उल्लिखित राजाओं ने धारण की।

लगभग 300 ई. पू. से बांग्लादेश, उड़ीसा, आन्ध्र और कर्नाटक के कई भागों में अभिलेखों के और कभी-कभी उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड के टुकड़ों और आहत मुद्राओं के मिलने से संकेत मिलता है कि मौर्य काल में मध्य गंगा के मैदान की संस्कृति के तत्वों को दूर-दूर तक फैलाने की चेष्टा की गई। लगता है कि ऐसी कार्रवाई कौटिल्य के उपदेशानुसार की गई होगी। कौटिल्य ने परामर्श दिया है कि कृषकों की अर्थात् वैश्यों की सहायता से तथा घनी आबादी वाले इलाकों से मंगाए गए शूद्र श्रमिकों की सहायता से नई-नई बस्तियाँ बसाई जानी चाहिए। परती जमीन को तोड़ने के वास्ते नए किसानों को कर से छुटकारा दिया जाता था और मवेशी, बीज और धन भी दिया जाता था। राज्य ने यह नीति इस आशा से अपनाई कि इस प्रकार जो कुछ निवेश किया जाएगा उसका प्रतिफल अवश्य मिलेगा। ऐसी बस्तियाँ उन इलाकों में आवश्यक थीं जहाँ के लोग लोहे के फाल से परिचित नहीं थे। इस नीति के फलस्वरूप विशाल क्षेत्र में खेत और बस्ती का विस्तार हुआ।

यह कहना कठिन है कि पूरब में छोटा-नागपुर और पश्चिम में विन्ध्य के बीच फैले मध्य-भारतीय जनजातीय इलाके में गंगा के मैदान की भौतिक संस्कृति को पहुँचाने में ये मौर्य नगर कहाँ तक सहायक हुए। पर इतना तो स्पष्ट है कि अशोक ने जनजातीय लोगों से निकट संपर्क बनाए रखा और उन्हें धर्म का पालन करने के लिए प्रोत्साहित किया। अशोक द्वारा नियुक्त **धम्ममहामात्रों** के साथ उनके संपर्क से उन्हें गंगा के मैदान की उच्च संस्कृति के मूल तत्वों को आत्मसात् करने की प्रेरणा अवश्य मिली होगी। इस अर्थ में अशोक ने संस्कृति-प्रसार की सुविचारित और सुव्यवस्थित नीति चलाई। उसने कहा कि धर्म का प्रचार होने से मानव देवताओं में मिल जाएँगे। इसका आशय यह है कि जनजातीय और अन्य लोग स्थायी रूप से बसने और कर चुकाने वाले किसानों के समाज की रीति अपनाएँगे, और माता-पिता और राजप्रभुत्व के प्रति तथा उसके सहायक भिक्षुओं, पुरोहितों और अधिकारियों के

प्रति आदर भाव रखेंगे। उसकी यह नीति सफल हुई। अशोक के अनुसार शिकारियों और मछुआरों ने हिंसा का त्याग करके **धम्म** को अपनाया। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने स्थानबद्ध कृषकों का धन्धा अपनाया।

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

मगध साम्राज्य युद्ध पर युद्ध करते प्रबल होता गया, जिसकी चरम परिणति कलिंग-विजय है। लेकिन 232 ई. पू. में अशोक के राज्य-काल के समाप्त होते ही इसका विघटन शुरू हो गया। मगध साम्राज्य के ह्रास और पतन के कई कारण प्रतीत होते हैं।

ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया

अशोक की नीति के चलते ब्राह्मणों में प्रतिक्रिया हुई। इसमें संदेह नहीं कि अशोक की नीति में सहिष्णुता थी और उसने लोगों से ब्राह्मणों का भी आदर करने को कहा। परंतु उसने पशु-पक्षियों के वध को निषिद्ध कर दिया और स्त्रियों में प्रचलित कर्मकांडीय अनुष्ठानों की खिल्ली उड़ाई। स्वभावत: इससे ब्राह्मणों की आय घटी। बौद्ध धर्म के और अशोक के यज्ञविरोधी रुख से ब्राह्मणों को भारी हानि हुई, क्योंकि नाना प्रकार के यज्ञों में मिलने वाली दान-दक्षिणा पर ही तो वे जीते थे। अत: अशोक की नीति भले ही सहनशील हो, ब्राह्मणों में उसके प्रति विद्वेष की भावना जगने लगी। वे वास्तव में ऐसी नीति चाहते थे जो उनके पक्ष में हो और उनके तत्कालीन हितों और विशेषाधिकारों का समर्थन करे। मौर्य साम्राज्य के खँडहर पर खड़े हुए कुछ नए राज्यों के शासक ब्राह्मण हुए। मध्य प्रदेश में और उससे पूर्व मौर्य साम्राज्य के अवशेषों पर शासन करने वाले शुंग और कण्व ब्राह्मण थे। इसी प्रकार पश्चिम दकन और आन्ध्र में चिरस्थायी राज्य स्थापित करने वाले सातवाहन भी अपने को ब्राह्मण मानते थे। इन ब्राह्मण राजाओं ने वैदिक यज्ञ किए, जिनकी अशोक ने उपेक्षा की थी।

वित्तीय संकट

सेना पर और प्रशासनिक अधिकारियों पर होने वाले भारी खर्च के बोझ से मौर्य साम्राज्य के सामने वित्तीय संकट खड़ा हो गया। जहाँ तक हमें मालूम है प्राचीन काल में सबसे विशाल सेना मौर्यों की थी और सबसे बड़ा प्रशासन-तंत्र भी उन्हीं का था। प्रजा पर तरह-तरह के कर थोपने के बावजूद, इतने विशाल ऊपरी ढाँचे को बनाए रखना बड़ा ही कठिन था। लगता है कि अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं को इतना दान दिया कि राजकोष ही खाली हो गया। अन्तिम अवस्था में अपने खर्च को पूरा करने के लिए मौर्यों को सोने की देवप्रतिमाएँ तक गलानी पड़ीं।

दमनकारी शासन

साम्राज्य के टूटने का एक महत्त्वपूर्ण कारण था प्रांतों में दमनकारी शासन। बिन्दुसार के शासन-काल में तक्षशिला के नागरिकों ने दुष्टामात्यों अर्थात् दुष्ट अधिकारियों के कुशासन की कड़ी शिकायतें की थीं। अशोक की नियुक्ति होने पर नागरिकों की शिकायतें दूर हुईं। पर जब अशोक सम्राट् हो गया तब फिर उसी नगर से वैसी ही शिकायत आ गई। अशोक के कलिंग अभिलेख से प्रकट होता है कि प्रांतों में हो रहे अत्याचारों से वह बड़ा चिंतित था। और इसलिए **महामात्रों** को आदेश दिया कि समुचित कारण के बिना वे

नागरिकों को सताएँ नहीं। इसी दृष्टि से तोसली (कलिंग स्थित), उज्जैन और तक्षशिला के अधिकारियों के स्थानातंरण की परिपाटी चलाई। उसने स्वयं 256 रातें धम्मयात्रा पर बिताई ताकि इस क्रम से प्रशासन की देखभाल की जाए। पर इतना सारा होने पर भी दूर के प्रांतों में दमन का अंत न हुआ, और अशोक के राज्य-काल के समाप्त होते ही तक्षशिला को साम्राज्य का जुआ फेंक डालने में तनिक भी देर न लगी।

दूरवर्ती क्षेत्र में नए ज्ञान की पहुँच

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार मगध अपनी कतिपय मूलभूत भौतिक उत्कृष्टताओं के कारण फूलता-फलता गया। मगध साम्राज्य के विस्तार के फलस्वरूप ज्यों ही भौतिक संस्कृति के ये तत्व मध्य भारत, दकन और कलिंग पहुँच गए, त्यों ही गंगा के मैदान का, जो साम्राज्य का हृदय-स्थल था, वर्चस्व घटने लगा। ज्यों-ज्यों मध्य गंगा क्षेत्र से बाहर वाले प्रांतों में लोहे के औज़ारों का प्रयोग बढ़ता गया त्यों-त्यों मौर्य साम्राज्य का ह्रास और पतन होता गया। मगध से प्राप्त भौतिक संस्कृति की बदौलत नए-नए राज्य स्थापित और विकसित होते गए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्य भारत में शुंगों और कण्वों का, कलिंग में चेदियों का और दकन में सातवाहनों का उदय कैसे हुआ।

पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत की उपेक्षा और चीन की महादीवार

अशोक देश और विदेशों में मुख्यत: धर्म-प्रचार के काम में ही व्यस्त रहा, अत: ध्यान नहीं दे सका कि पश्चिमोत्तर सीमावर्ती दर्रे की रक्षा कैसे हो। ईसा-पूर्व तीसरी सदी में मध्य एशिया में कबीलों की जो गतिविधि थी उसे देखते हुए, उस दर्रे की ओर नजर रखना जरूरी हो गया था। सीथियन शक लोग निरंतर जहाँ-तहाँ भटक रहे थे। अपने घोड़ों पर भरोसा रखने वाले खानाबदोश सीथियन शक चीन और भारत के स्थायी साम्राज्यों के लिए गंभीर खतरा बने हुए थे। चीन के राजा शीह हुआँग ती (247-210 ई. पू.) ने इन सीथियन शकों के हमले से अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए लगभग 220 ई. पू. में चीनी महादीवार बनवाई। अशोक ने ऐसा कोई उपाय नहीं किया। स्वभावत: जब सीथियन शक भारत की ओर बढ़े तो उन्होंने पार्थिअनों, शकों और यूनानियों को भारत की ओर ढकेल दिया। यूनानियों ने उत्तर अफगानिस्तान में बैक्ट्रिया नाम का राज्य स्थापित किया था। सर्वप्रथम उन्होंने ही 206 ई. पू. में भारत पर आक्रमण किया। इसके बाद आक्रमणों का ताँता लग गया, और यह सिलसिला ईस्वी सन् के आरंभ तक जारी रहा।

मौर्य साम्राज्य को पुष्यमित्र शुंग ने 185 ई. पू. में अंतिम रूप से नष्ट कर दिया। ब्राह्मण होते हुए भी वह अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ का सेनापति था। कहा जाता है कि उसने लोगों के सामने बृहद्रथ को मार डाला और बलपूर्वक पाटलिपुत्र का राजसिंहासन हड़प लिया। शुंगवंशियों ने पाटलिपुत्र और मध्य भारत में शासन किया और ब्राह्मणीय जीवन-पद्धति का पुनरारंभ दिखाने के लिए कई वैदिक यज्ञ किए। कहा जाता है कि उन्होंने बौद्धों को सताया भी। उनकी जगह कण्ववंशी आए और वे भी ब्राह्मण थे।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें।
   धर्मप्रवर्तक, तीर्थ, पण, समाहर्ता, सन्निधाता।
2. मौर्य शासकों द्वारा किए गए आर्थिक प्रयासों का वर्णन करें।
3. मौर्य काल में हुए भौतिक संस्कृति के विकासों का वर्णन करें। मौर्य साम्राज्य ने भौतिक संस्कृति को देश के विभिन्न भागों में कैसे फैलाया?
4. मौर्य शासकों ने विशाल कर्मचारी-वर्ग क्यों रखा?
5. भारतीय ललितकला और वास्तुकला में मौर्यों के योगदान का वर्णन करें।
6. मौर्य सम्राटों ने व्यापार और वाणिज्य को किस तरह बढ़ावा दिया?
7. मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों का विश्लेषण करें।
8. बताएँ कि भारतीय इतिहास में मौर्य साम्राज्य का क्या मूल्य है।
9. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर उन स्थानों को अंकित करें जहाँ-जहाँ अशोक के अभिलेख पाए गए हैं।

अध्याय 16

मध्य एशिया से संपर्क और उनके परिणाम

लगभग 200 ई. पू. से जो काल आरंभ होता है, उसमें मौर्य साम्राज्य जैसा कोई बड़ा साम्राज्य नहीं दिखाई देता है, पर उस काल में मध्य एशिया और भारत के बीच घनिष्ठ और व्यापक संपर्क स्थापित हुए। पूर्वी भारत, मध्य भारत और दकन में मौर्यों के स्थान पर कई स्थानीय शासक सत्ता में आए, जैसे शुंग, कण्व और सातवाहन। पश्चिमोत्तर भारत में मौर्यों के स्थान पर मध्य एशिया से आए कई राजवंशों ने अपना आसन जमाया। इनमें कुषाण सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए।

हिन्द-यूनानी सिक्के

हिन्द-यूनानी

लगभग 200 ई. पू. से बार-बार हमले होने लगे। सर्वप्रथम यूनानियों ने हिन्दूकुश पार किया। वे उत्तर अफगानिस्तान के अन्तर्गत अमुदरिया (ओक्सस) के दक्षिण में बैक्ट्रिया में राज करते थे। आक्रमणकारी एक के बाद एक आते रहे, परंतु उनमें से कुछ ने एक ही समय समानांतर शासन किया। आक्रमण का महत्त्वपूर्ण कारण था सेल्यूकस द्वारा स्थापित साम्राज्य की कमज़ोरी। इस साम्राज्य की स्थापना बैक्ट्रिया में और ईरान से संलग्न पार्थिया नामक क्षेत्र में हुई थी। शकों के बढ़ते हुए दबाव के कारण परवर्ती यूनानी शासक

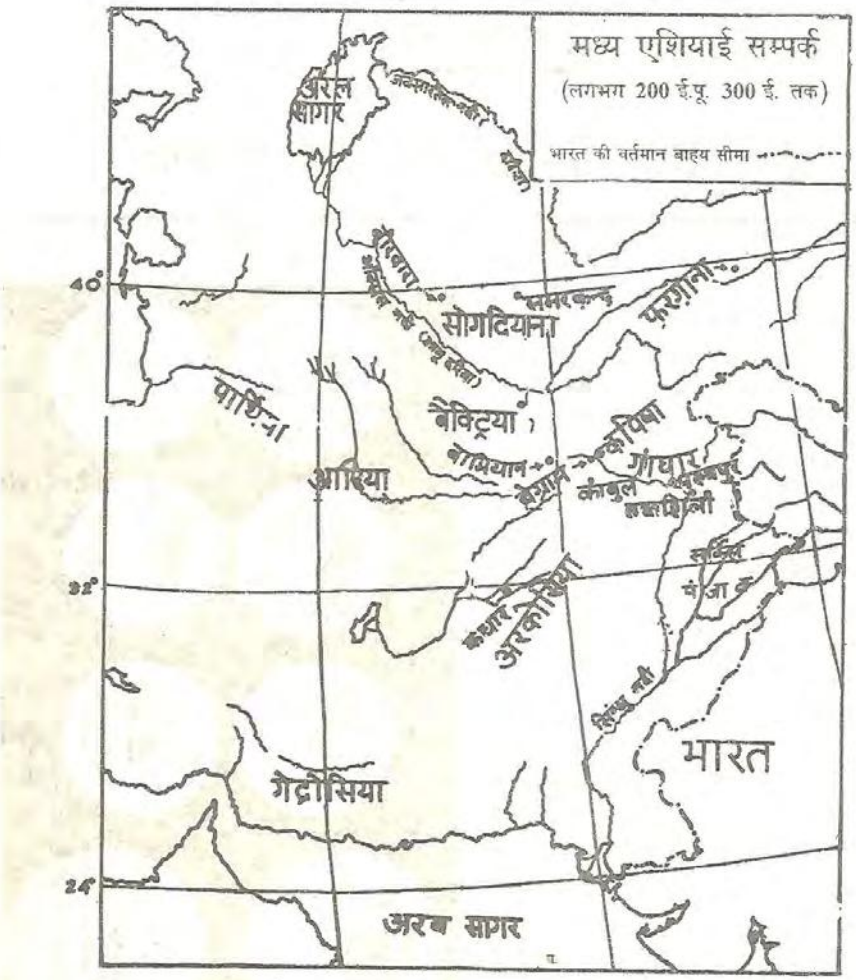

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

इस क्षेत्र में अपनी सत्ता जमाए रखने में असमर्थ हो गए। उधर चीन में महादीवार के बन जाने से शक लोग चीन की सीमाओं के बाहर धकेल दिए गए। इसलिए उन्होंने अपना मुँह पड़ोसी यूनानियों और पार्थियनों की ओर घुमाया। शकों से दबकर बैक्ट्रियाई यूनानी भारत पर चढ़ाई करने के लिए मजबूर हो गए। अशोक के उत्तराधिकारी इतने कमजोर ठहरे कि वे इस काल में आई बाहरी आक्रमणों की लहर को रोक नहीं सके।

भारत पर आक्रमण सबसे पहले उन यूनानियों ने किए, जो हिन्द-यूनानी या बैक्ट्रियाई यूनानी कहलाते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी सदी के आरंभ में हिन्द-यूनानियों ने पश्चिमोत्तर भारत के विशाल क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। यह क्षेत्र सिकंदर द्वारा जीते गए क्षेत्र से भी बड़ा था। कहा जाता है कि वे अयोध्या और पाटलिपुत्र तक चढ़ आए थे। परन्तु वे लोग भारत में मिलजुल कर शासन कायम नहीं कर सके। दो यूनानी राजवंशों ने एक ही समय में पश्चिमोत्तर भारत में सामानांतर शासन किया। सब से अधिक विख्यात हिन्द-यूनानी शासक हुआ मिनांदर (165-145 ई. पू.)। वह मिलिंद नाम से भी जाना जाता है। उसकी राजधानी पंजाब में शाकल (आधुनिक सियालकोट) में थी, और उसने गंगा-यमुना दोआब पर आक्रमण किया। उसे नागसेन ने बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। नागार्जुन इस नागसेन का ही नामांतर है। मिनांदर ने नागसेन से बौद्ध धर्म पर अनेक प्रश्न पूछे। ये प्रश्न और नागसेन द्वारा दिए गए उन के उत्तर एक पुस्तक के रूप में संगृहीत हैं जिसका नाम है **मिलिन्द पञ्हो** अर्थात् मिलिन्द के प्रश्न।

भारत के इतिहास में हिन्द-यूनानी शासन का महत्त्व इसलिए है कि यूनानी शासकों ने भारी संख्या में सिक्के जारी किए। हिन्द-यूनानी भारत के पहले शासक हुए जिनके जारी किए गए

तक्षशिला के निकट कलवान से प्राप्त लगभग पहली सदी ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख

इस लेख की लिपि खरोष्ठी है जो दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती थी। इसकी भाषा प्राकृत है। लेख को नीचे देवनागरी लिपि में दिया जा रहा है।

संवत्सर ये 10020104 अजस श्रवणस मसस दिवसे त्रयिंशे 20111 इमेण क्षुणेण चन्द्रभि उअसिअ ध्रमस ग्रहवतिस थित भद्रवलस भय छडशिलये अरिरुपस्तिवेति गहथू।

सिक्कों के बारे में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सिक्के किन-किन राजाओं के हैं। पूर्व की आहत मुद्राओं के बारे में ऐसी बात नहीं है; उनका संबंध किसी राजवंशों से निश्चयपूर्वक जोड़ना संभव नहीं है। सबसे पहले भारत में हिन्द-यूनानियों ने ही सोने के सिक्के जारी किए, पर इनकी मात्रा कुषाणों के शासन में जोर से बढ़ी। हिन्द-यूनानी शासकों ने भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में यूनान की कला चलाई जिसे हेलेनिस्टिक आर्ट कहते हैं। यह कला विशुद्ध यूनानी नहीं थी। सिकन्दर की मृत्यु के बाद विजित गैर-यूनानियों के साथ यूनानियों के संपर्क से इसका उदय हुआ था। भारत में गान्धार कला इसका उत्तम उदाहरण है।

शक

यूनानियों के बाद शक आए। यूनानियों ने भारत के जितने भाग पर कब्जा किया था उससे कहीं अधिक भाग पर शकों ने किया। शकों की पाँच शाखाएँ थीं और हर शाखा की राजधानी भारत और अफगानिस्तान में अलग-अलग भाग में थीं। शकों की एक शाखा अफगानिस्तान में बस गई। दूसरी शाखा पंजाब में बसी जिसकी राजधानी तक्षशिला हुई। तीसरी शाखा मथुरा में बसी, जहाँ उसने लगभग दो सदियों तक राज किया। चौथी शाखा ने अपनी सत्ता पश्चिम भारत में जमाई, जहाँ उसने ईसा की चौथी सदी के आरंभ तक शासन किया। शकों की पाँचवीं शाखा ने ऊपरी दकन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

शकों को न तो भारत के शासकों का और न जनता का ही प्रतिरोध झेलना पड़ा। कहा जाता है कि लगभग 57-58 ई. पू. में उज्जैन के एक राजा ने शकों से युद्ध किया, उन्हें पराजित किया और अपने ही समय में उन्हें बाहर खदेड़ दिया। वह अपने को **विक्रमादित्य** कहता था। **विक्रम संवत्** नाम का संवत् 57 ई. पू. में शकों पर उसकी विजय से आरंभ हुआ। तब से विक्रमादित्य स्पृहणीय उपाधि हो गया, ऊँची प्रतिष्ठा और सत्ता का प्रतीक बन गया। जिस किसी ने भी कोई महान पराक्रम दिखलाया उसने इस उपाधि को उसी तरह धारण कर लिया जिस तरह रोम के सम्राट् अपनी अतुल शक्ति और पराक्रम जताने के लिए "सीजर" की उपाधि लगा लेते थे। इस प्रथा का परिणाम यह हुआ कि भारतीय इतिहास में विक्रमादित्यों की संख्या 14 तक पहुँच गई है। गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय सबसे अधिक विख्यात विक्रमादित्य था। भारतीय राजाओं को यह उपाधि इतनी भाई कि इसकी परंपरा, खासकर पश्चिमी भारत और पश्चिमी दकन में, ईसा की बारहवीं सदी तक चलती रही।

यद्यपि शकों ने देश के कई भागों में अपना-अपना राज्य स्थापित किया, तथापि जिन्होंने पश्चिम में राज्य स्थापित किया वे ही कुछ लम्बे अरसे तक यानी लगभग चार सदियों तक राज करते रहे। वे गुजरात में चल रहे समुद्री व्यापार से लाभान्वित हुए और उन्होंने भारी संख्या में चाँदी के सिक्के चलाए। सबसे अधिक विख्यात शक शासक रुद्रदामन् प्रथम (130-150 ई.) हुआ। उसका शासन न केवल सिन्ध में, बल्कि कोंकण, नर्मदा घाटी, मालवा, काठियावाड़ और गुजरात के बड़े भाग में भी था। वह इसलिए प्रसिद्ध है कि उसने काठियावाड़ के अर्धशुष्क क्षेत्र की मशहूर झील सुदर्शन सर का जीर्णोद्धार किया। यह झील बहुत पुराने समय मौर्य काल की थी और दीर्घ काल से सिंचाई के काम में आती रही थी।

रुद्रदामन् संस्कृत का बड़ा प्रेमी था। भारत में

आकर बसा विदेशी होते हुए भी उसने ही सबसे पहले विशुद्ध संस्कृत भाषा में लम्बा अभिलेख जारी किया। पूर्व के जो भी लम्बे अभिलेख इस देश में पाए गए हैं, सभी प्राकृत भाषा में रचित हैं।

पार्थियाई या पह्लव

पश्चिमोत्तर भारत में शकों के आधिपत्य के बाद पार्थियाई लोगों का आधिपत्य हुआ। प्राचीन भारत के अनेक संस्कृत ग्रन्थों में इन दोनों जनों के एक साथ उल्लेख शकपह्लव के रूप में मिलते हैं। वास्तव में ये दोनों जनसमूह कुछ समय इस देश में समानांतर शासन करते रहे। पार्थियाई लोगों का मूल वासस्थान ईरान में था, जहाँ से वे भारत की ओर चले। यूनानियों और शकों के विपरीत, वे ईसा की पहली सदी में पश्चिमोत्तर भारत के एक छोटे से भाग पर ही सत्ता जमा सके। सबसे प्रसिद्ध पार्थियाई राजा हुआ गोन्दोफनिर्स। कहा जाता है कि उसके शासन-काल में सेंट टामस ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए भारत आया था। अपने से पहले के शकों की तरह पार्थियाई लोग भी भारतीय राजतन्त्र के और समाज के अभिन्न अंग बन गए।

कुषाण

पार्थियाइयों के बाद कुषाण आए, जो यूची और तोखारी भी कहलाते हैं। यूची नामक एक कबीला था जो पाँच कुलों में बंट गया था, कुषाण उन्हीं में एक कुल के थे। वे उत्तरी मध्य एशिया के हरित मैदानों के खानाबदोश लोग थे और चीन के पड़ोस में रहते थे। कुषाणों ने पहले बैक्ट्रिया और उत्तरी अफगानिस्तान पर कब्जा किया और वहाँ से शकों को भगा दिया। धीरे-धीरे वे काबुल घाटी की ओर बढ़े और हिन्दूकुश पार करके गन्धार पर कब्जा किया, और वहाँ यूनानियों और पार्थियाइयों को अपदस्थ कर सत्ता जमाई। अन्ततः उन्होंने निचली सिन्धु घाटी पर तथा गंगा के मैदान के अधिकतर हिस्से पर भी अधिकार कर लिया। उनका साम्राज्य अमुदरिया से गंगा तक, मध्य एशिया के खुरासान से उत्तर प्रदेश के वाराणसी तक फैल गया। कुषाणों ने पूर्व सोवियत गणराज्य में शामिल मध्य एशिया का अच्छा-खासा भाग, ईरान का हिस्सा, अफगानिस्तान का कुछ अंश, लगभग पूरा पाकिस्तान और लगभग समूचा उत्तर भारत–इन सारे भू-भागों को अपने शासन के साये में कर दिया। इससे नाना प्रकार के लोगों और संस्कृतियों के आपस में घुल-मिल जाने का विलक्षण अवसर मिला और इस सम्मिलन की प्रक्रिया ने एक ऐसी संस्कृति को जन्म दिया जो आज के नौ देशों में फैली हुई है।

हम कुषाणों के दो राजवंश पाते हैं जो एक के बाद एक आए। पहले राजवंश की स्थापना कैडफाइसिस नामक सरदारों के एक घराने ने की। इस घराने का शासन 50 ई. से 28 वर्षों तक चला। इस में दो राजा हुए। पहला हुआ कैडफाइसिस प्रथम, जिसने हिन्दूकुश के दक्षिण में सिक्के चलाए। उसने रोमन सिक्कों की नकल करके ताँबे के सिक्के ढलवाये। दूसरा राजा हुआ–कैडफाइसिस द्वितीय। उसने बड़ी संख्या में स्वर्णमुद्राएँ जारी कीं और अपना राज्य सिन्धु नदी के पूरब में फैलाया।

कैडफाइसिस राजवंश के बाद कनिष्क राजवंश

कनिष्क के सिक्के

आया। इस वंश के राजाओं ने ऊपरी भारत और निचली सिन्धु घाटी में अपना प्रभुत्व फैलाया। आरंभिक कुषाण राजाओं ने बड़ी संख्या में स्वर्ण मुद्राएँ जारी कीं। उनकी स्वर्णमुद्राएँ धातु की शुद्धता में गुप्त शासकों की स्वर्णमुद्राओं से उत्कृष्ट हैं। उनकी स्वर्णमुद्राएँ तो मुख्यतः सिन्धु के पश्चिम में ही पाई गई हैं, पर उन के अभिलेख न केवल पश्चिमोत्तर भारत और सिन्धु में ही, बल्कि मथुरा, श्रावस्ती, कौशाम्बी और वाराणसी तक बिखरे मिले हैं। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने गंगा-यमुना दोआब के अतिरिक्त मध्य गंगा के मैदानों के काफी भाग को भी अपने कब्जे में किया। मथुरा में जो कुषाणों के सिक्के, अभिलेख, संरचनाएँ और मूर्त्तियाँ मिली हैं उनसे प्रकट होता है कि मथुरा भारत में कुषाणों की द्वितीय राजधानी थी। पहली राजधानी आधुनिक पाकिस्तान में अवस्थित पुरूषपुर या पेशावर में थी। वहाँ कनिष्क ने एक मठ और विशाल स्तूप का निर्माण कराया। इस स्तूप को देखकर विदेशी यात्री चकित रह जाते थे।

कनिष्क सर्वाधिक विख्यात कुषाण शासक था। लगता है कि उसे भारत की सीमाओं के बाहर चीनियों से हार खानी पड़ी, लेकिन इतिहास में दो कारणों से उसका नाम है! पहला, उसने 78 ई. में एक संवत् चलाया जो शक संवत् कहलाता है और भारत सरकार द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। दूसरा, उसने बौद्ध धर्म का मुक्त हृदय से संपोषण-संरक्षण किया। उसने कश्मीर में बौद्धों का सम्मेलन आयोजित किया जिसमें बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय को अन्तिम रूप दिया गया। कनिष्क कला और संस्कृत साहित्य का भी महान् संरक्षक था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी पश्चिमोत्तर भारत पर लगभग 230 ई. तक राज करते रहे और उनमें कुछ ने तो शुद्ध भारतीय नाम धारण कर लिए, जैसे वासुदेव।

ईरान में उठ खड़ी हुई सासानी शक्ति ने ईसा की तीसरी सदी के मध्य में अफगानिस्तान और सिन्धु के पश्चिम के क्षेत्र कुषाण साम्राज्य से छीन कर अपने कब्जे में कर लिए, पर भारत में कुषाण रजवाड़े लगभग सौ वर्षों तक बने रहे। लगता है कि कुषाणों का अधिकार काबुल घाटी, कपिशा, बैक्ट्रिया, ख्वारिज्म और सोग्दियाना (अर्थात् मध्य एशिया स्थित बोखारा और समरकंद) में ईसा की तीसरी-चौथी सदी में भी कायम रहा। इन क्षेत्रों में अनेक कुषाण मुद्राएँ, अभिलेख और मृण्मूर्तिकाएँ पाई गई हैं। खास कर ख्वारिज्म, जो अरल सागर के दक्षिण अमुदरिया नदी पर अवस्थित है, के टोपरक-कला नामक स्थान में विशाल कुषाण प्रासाद खुदाई में निकला है जो तीसरी-चौथी सदियों का है। इसमें प्रशासनिक अभिलेखागार था जहाँ आरामाइक लिपि और ख्वारिज्मी भाषा में लिखे पुरालेख और दस्तावेज रखे हुए थे।

मध्य एशिया से संपर्कों के प्रभाव

भवन और मृद्‌भांड

शक-कुषाण काल में भवन-निर्माण के कार्यों में उल्लेखनीय प्रगति हुई। उत्खननों में संरचना के कई स्तर मिले हैं। उत्तर भारत के विविध पुरास्थलों पर तो कभी-कभी आधे दर्जन से भी अधिक स्तर हैं। इनमें पकी ईंटों का प्रयोग फ़र्श बनाने में किया गया है, खपरों (टाइलों) का प्रयोग फ़र्श और छत दोनों में किया गया है। लेकिन सुर्खी और खपरा शायद बाहर से अपनाई गई वस्तु नहीं थे। इस काल की एक विशेषता ईंटों के कुँओं का निर्माण भी है। कुषाणकाल का अपना खास मृद्‌भांड है लाल बरतन, जो सादा भी है और पालिशदार भी और बनावट में मध्यम से उत्तम तक। असाधारण बरतन हैं फुहारों और टोंटियों वाले पात्र। इन बरतनों में मध्य एशिया में इसी काल के कुषाण स्तरों में पाए गए सूक्ष्म बनावट वाले मृद्‌भांडों से समानता है। इस प्रकार के लाल पालिशदार मृद्‌भांड बनाने की कला मध्य एशिया में सुविदित थी और ऐसे मृद्‌भांड फरग़ना जैसे क्षेत्रों में भी मिलते हैं जो क्षेत्र कुषाण सांस्कृतिक अंचल के भीतर पड़ते हैं।

उत्कृष्ट अश्वारोही सेना

शकों और कुषाणों ने भारतीय संस्कृति में नए-नए उपादान जोड़कर इसे अपार समृद्ध बनाया। वे सदा के लिए भारतवासी हो गए और अपने को भारतीय संस्कृति की धारा में पूर्णतः विलीन कर दिया। उनके अपने पास लिपि, लिखित भाषा और कोई सुव्यवस्थित धर्म नहीं थे, इसलिए उन्होंने संस्कृति के इन उपादानों को भारत से लिया। वे भारतीय समाज के अभिन्न अंग बन गए और इस समाज को उन्होंने बहुत कुछ दिया। उन्होंने बड़े पैमाने पर उत्तम अश्वारोही सेना और अश्वारोहण की परंपरा चलाई। उन्होंने लगाम और जीन का प्रयोग प्रचलित किया, जो हमें ईसा की दूसरी और तीसरी सदियों की बौद्ध मूर्तियों में दिखाई देते हैं। शक और कुषाण विलक्षण अश्वारोही थे। अफगानिस्तान के बेगराम में जो कुषाण काल की मिट्टी की पकी घुड़सवार की मूर्तिकाएँ मिली हैं उनसे घुडसवारी में उनकी गहरी दिलचस्पी जाहिर होती है। इन विदेशी घुड़सवारों में कई सुदृढ़ कवच लगाए भालों और बर्छियों से लड़ाई करते दिखाए गए हैं। वे रस्सी का बना एक प्रकार का अंगूठा-रकाब भी लगाते थे जिससे उन्हें घुडसवारी में सुविधा होती थी और उनका आवागमन सुगम हो गया था। शकों और कुषाणों ने पगड़ी, ट्यूनिक (कुरती), पाजामा और भारी लंबे कोट चलाए। आज भी अफगान और पंजाबी लोग पगड़ी लगाते हैं और शेरवानी लंबे कोट का ही बदला रूप है। मध्य एशिया वालों ने यहाँ टोपी, शिरस्त्राण और बूट चलाए जिनका इस्तेमाल योद्धा लोग करते थे। इन्हीं श्रेष्ठताओं की बदौलत उन्होंने ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान और भारत में अपने विरोधियों पर विजय पायी। बाद में जब यह सैनिक कौशल देश में फैल गया तब अधीनस्थ राजाओं ने अपने पिछले विजेताओं के विरुद्ध इसका अच्छा इस्तेमाल किया।

व्यापार और खेती

मध्य एशियाई लोगों के आने से मध्य एशिया और भारत के बीच घने संपर्क स्थापित हुए। परिणामस्वरूप भारत को मध्य एशिया के अल्ताई पहाड़ों से भारी मात्रा में सोना प्राप्त हुआ। भारत को रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार के जरिए भी सोना मिला होगा। कुषाणों ने रेशम के उस प्रख्यात मार्ग पर नियंत्रण कर लिया जो चीन से चलकर कुषाण साम्राज्य में शामिल मध्य एशिया और अफगानिस्तान से गुजरते हुए ईरान जाता था, और पूर्वी भूमध्यसागरीय अंचल में रोमन साम्राज्य के अंतर्गत पश्चिम एशिया जाता था। यह रेशम मार्ग कुषाणों का बड़ा आय-स्रोत था और वे इस मार्ग पर व्यापारियों से उगाही गई चुंगी की बदौलत ही विशाल और समृद्ध साम्राज्य स्थापित कर सके। यह उल्लेखनीय है कि भारत में बड़े पैमाने पर सोने का सिक्का चलाने वाले प्रथम शासक कुषाण ही थे।

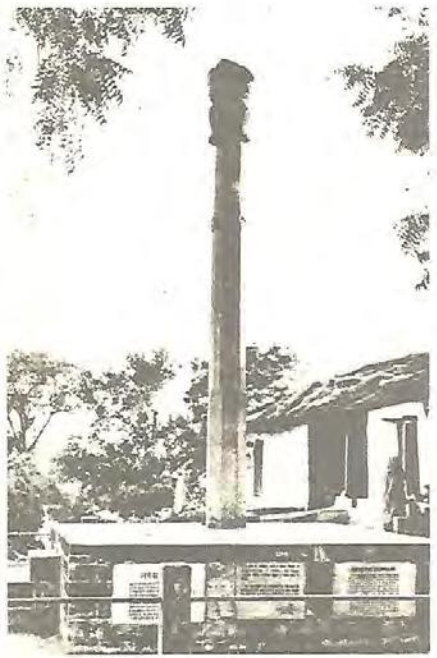

विदिशा के निकट हिलियोदोरस का स्तम्भ

कुषाणों ने खेती को भी बढ़ाया। कुषाण काल की विस्तृत सिंचाई के पुरातात्त्विक अवशेष पाकिस्तान, अफगानिस्तान और पश्चिमी मध्य एशिया में पाए जाते हैं।

राज्य व्यवस्था

मध्य एशियाई विजेताओं ने अनगिनत छोटे-छोटे देशी राजाओं पर अपना शासन लाद दिया। इससे एक प्रकार की सामंती व्यवस्था उदित हुई। कुषाण राजाओं ने महाराजाधिराज की गौरवपूर्ण उपाधि धारण की जिसका आशय यह निकलता है कि वे अनेकानेक छोटे-छोटे राजाओं के राजा थे और उनसे कर पाते थे।

शकों और कुषाणों ने इस भावना को बढावा दिया कि राजा देवता का अवतार होता है। अशोक देवों का प्रिय कहा जाता था, पर कुषाण राजा देवपुत्र कहलाते थे। यह उपाधि कुषाणों ने चीनियों से ली, जो अपने राजा को स्वर्ग का पुत्र कहते थे। भारत में इसका प्रयोग स्वभावतः राजसत्ता को मान्यता और वैधता प्रदान कराने के लिए किया गया होगा। स्मृतिकार मनु ने कहा है कि राजा बच्चा ही क्यों न हो उसका आदर करना चाहिए, क्योंकि वह मानव रूप धारण करके शासन करने वाला देवता होता है।

कुषाणों ने राज्य-शासन में क्षत्रप प्रणाली चलाई। साम्राज्य अनेक क्षत्रपियों (उपराज्यों) में बाँट दिया गया और हरेक क्षत्रपी एक-एक क्षत्रप के शासन में छोड़ दिया गया। कुछ अनोखी प्रथाएँ भी शुरू की

गई, जैसे दो आनुवंशिक राजाओं का संयुक्त शासन जिसमें एक ही समय एक ही राज्य पर दो राजाओं का शासन हो सकता था। हम पिता और पुत्र दोनों को एक ही समय संयुक्त रूप से शासन करते पाते हैं। इस प्रकार प्रतीत होता है कि इन शासकों के अधीन केन्द्रीकरण कम था।

यूनानियों ने सेनानी-शासन (मिलिटरी गवर्नरशिप) की परिपाटी भी चलाई। वे इसके लिए शासक सेनानियों की नियुक्ति करते थे जो यूनानी भाषा में **स्ट्रेटेगोस** कहलाते थे। सेनानी शासकों की आवश्यकता विजित प्रजा पर नए राजाओं का प्रभाव जमाने के लिए होती थी।

भारतीय समाज में नए तत्व

यूनानी, शक, पार्थियन और कुषाण सभी भारत में अपनी-अपनी पहचान अन्ततः खो बैठे।

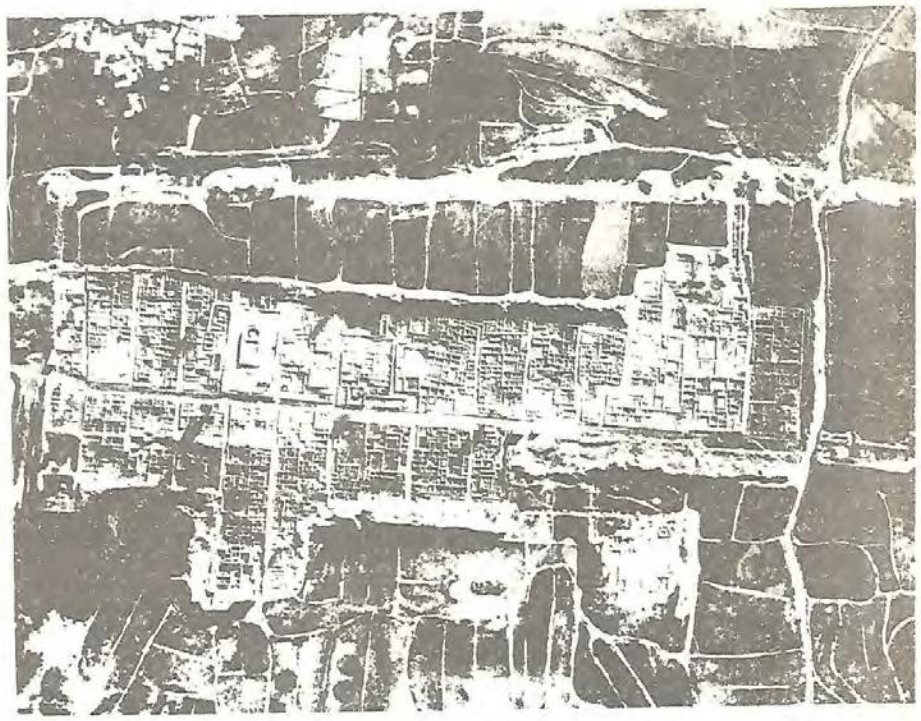

प्राचीन नगर तक्षशिला के अवशेषों का हवाई चित्र

शनैः शनैः वे पूरे भारतीय बन गए। चूँकि उन में अधिकांश विजेता के रूप में आए इसलिए वे भारतीय समाज में योद्धाओं के वर्ग में अर्थात् क्षत्रिय वर्ण में समाविष्ट हुए। ब्राह्मणीय समाज में उनके प्रवेश की व्याख्या अद्भुत ढंग से की गई है। स्मृतिकार मनु ने कहा है कि अपने कर्त्तव्यों से च्युत हुए अधम क्षत्रिय ही शक और पह्लव हुए। दूसरे शब्दों में, उन्हें द्वितीय श्रेणी के क्षत्रिय का स्थान मिला। भारतीय समाज में विदेशियों का आत्मसात्करण जितना अधिक मौर्योत्तर काल में हुआ उतना शायद प्राचीन भारत के इतिहास में और किसी काल में नहीं हुआ।

धार्मिक विकास

कई विदेशी शासक वैष्णव संप्रदाय में आ गए, अर्थात् जगत का पालन और रक्षा करने वाले विष्णु के उपासक बन गए। यूनानी राजदूत हिलियोदोरस ने मध्य प्रदेश स्थित विदिशा (आज के विदिशा जिले का मुख्यालय) में ईसा-पूर्व लगभग दूसरी सदी के मध्य में वासुदेव की आराधना के लिए एक स्तंभ खड़ा किया। वासुदेव से विष्णु का बोध होता है।

कुछ अन्य शासकों ने बौद्ध धर्म को अपनाया प्रख्यात यूनानी राजा मिनान्दर बौद्ध हो गया। बौद्धाचार्य नागसेन उर्फ नागार्जुन के साथ हुआ उसका प्रश्नोत्तर मौर्योत्तर काल के बौद्धिक इतिहास का अच्छा स्रोत है। कुषाण शासक शिव और बुद्ध दोनों के उपासक थे और तदनुसार कुषाण मुद्राओं पर हम इन दोनों देवताओं के चित्र पाते हैं। कई कुषाण शासक वैष्णव हो गए। इस कोटि में निश्चित रूप से कुषाण शासक वासुदेव आता है जिसका नाम ही विष्णु के अवतार कृष्ण का पर्यायवाची है।

बौद्ध महायान संप्रदाय का उद्भव

मौर्योत्तर काल में भारतीय धर्म में बहुत परिवर्तन हुए। इसके दो प्रमुख कारण थे--व्यापारियों और शिल्पियों के कार्यकलाप में असाधारण तेजी का आना और मध्य एशिया से भारी संख्या में नए-नए लोगों का आगमन। इसका विशेष प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा। नगरों में व्यापारियों और शिल्पियों का जमाव बढ़ता गया और बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ उन व्यापारियों और शिल्पियों से नकद दान लेने का लोभ दबा नहीं पाए। आन्ध्र प्रदेश के नागार्जुनकोंड के मठ-क्षेत्रों में भारी मात्रा में सिक्के मिले हैं। और, बौद्धों ने उन विदेशियों का भी स्वागत किया जो मांस खाते थे। इन सबों का अर्थ यह हुआ कि तपस्वी की तरह जीने वाले भिक्षुओं और भिक्षुणियों के दैनिक जीवन के नियमों में ढिलाई आई। अब वे सोना-चाँदी छूने लगे, मांस खाने लगे और उत्तम कपड़े पहनने लगे। अनुशासन इतना शिथिल हो गया कि कुछ भिक्षु संघ को छोड़कर गृहस्थ जीवन में लौट आए। बौद्ध धर्म का यह नया रूप **महायान** कहलाने लगा। अपने पुराने शुद्धाचारी (प्यूरिटन) रूप में, बौद्ध धर्म में बुद्ध से संबंधित कुछ वस्तुओं की उनकी प्रतीक रूप में पूजा की जाती थी। ईसवी सन् के आरंभ में उन वस्तुओं की जगह बुद्ध की प्रतिमा ने ले ली। बौद्ध धर्म में मूर्ति-पूजा का आरंभ होने से मूर्तिपूजा ब्राह्मणीय समुदायों में भी खूब चल पड़ी। महायान का उदय होने पर बौद्ध धर्म का पुराना शुद्धाचारी (प्यूरिटन) संप्रदाय **हीनयान** कहलाने लगा।

सौभाग्यवश कनिष्क महायान का महान् संरक्षक हो गया। उसने कश्मीर में बौद्धों की

गांधार शैली में बुद्ध

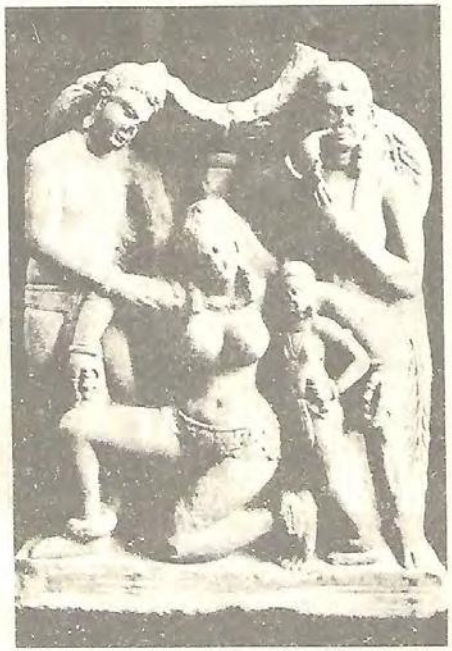

मथुरा से प्राप्त मूर्ति

परिषद् आयोजित की। पार्श्वदों ने 3,00,000 शब्दों में एक ग्रंथ की रचना की जिसमें तीनों पिटकों या बौद्ध साहित्य की पिटारियों की पूरी तरह व्याख्या की गई। कनिष्क ने इस ग्रंथ को ताल ताम्रपत्रों पर खुदवाया, उन ताम्रपात्रों को पत्थर-पात्र में रखा और उसके ऊपर स्तूप बनवा दिया। यदि यह प्राचीन कथा सही हो तो ताम्रपत्रों सहित इस स्तूप का पता चलने पर बौद्ध धर्मग्रंथ और सिद्धांतों पर नया प्रकाश पड़ सकता है। कनिष्क ने बुद्ध के स्मारक स्वरूप और भी अनेक स्तूप खड़े किए।

कला की गांधार और मथुरा शैली

विदेशी राजा भारतीय कला और साहित्य के उत्साही संरक्षक हो गए और उन्होंने वही उमंग दिखाई जो नया धर्म अपनाने वालों में होती है। कुषाण साम्राज्य ने विभिन्न शैलियों और देशों में प्रशिक्षित राजमिस्त्रियों और अन्य कारीगरों को

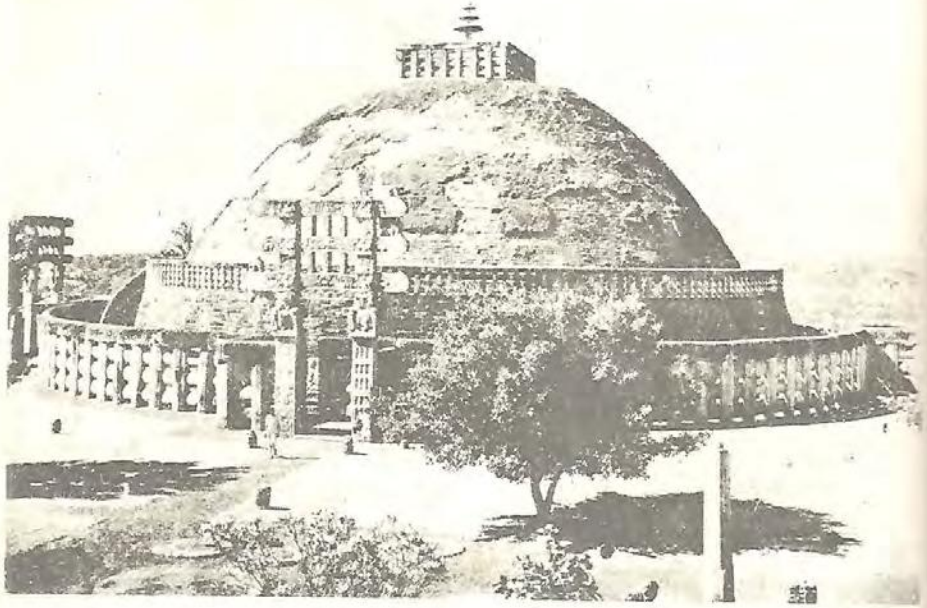

सांची का स्तूप

इकट्ठा किया। इस से कला की कई नई शैलियाँ विकसित हुई, जैसे गान्धार और मथुरा शैली। मध्य एशिया से जो मूर्तिशिल्प की कृतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें बौद्ध धर्म के प्रभाव की छाया में स्थानीय और भारतीय दोनों लक्षणों का मिश्रण पाया जाता है।

भारतीय शिल्पकारों का, विशेषकर भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत गांधार में, मध्य एशियाई, यूनानी और रोमन शिल्पिकारों के साथ संपर्क हुआ। इससे नई शैली की कला का उदय हुआ, जिसमें बुद्ध की प्रतिमाएँ यूनान और रोम की मिश्रित शैली में बनाई गईं। बुद्ध के बाल यूनान-रोम की शैली में बनाए गए।

गांधार कला का प्रभाव मथुरा में भी पहुँचा, हालाँकि वह मूलत: देशी कला का केंद्र था। मथुरा में बुद्ध की विलक्षण प्रतिमाएँ बनीं, परंतु इस जगह की ख्याति कनिष्क की शिरोहीन खड़ी मूर्ति को लेकर भी है, जिसके निचले भाग में कनिष्क का नाम खुदा है। यहाँ वर्धमान महावीर की भी कई प्रस्तरमूर्तियाँ बनीं। इसकी गुप्त-पूर्व मूर्तियों

भरहुत का पट्टचित्र

और अभिलेखों में कृष्ण उपेक्षित हैं, जबकि मथुरा इनका जन्म-स्थान और बाल-लीला भूमि मानी जाती है। कला की मथुरा शैली ईसवी सन् की आरंभिक सदियों में विकसित हुई, और इसकी लाल बलुआ पत्थर की कृतियाँ मथुरा के बाहर भी पाई जाती हैं। संप्रति मथुरा संग्रहालय में कुषाण कालीन मूर्तियों का भारत भर में सबसे अधिक संग्रह है।

इसी काल में विन्ध्य से दक्षिण अनेक स्थानों में सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियाँ पाई जाती हैं। महाराष्ट्र में चट्टानों को काट-काट कर सुन्दर-सुन्दर बौद्ध गुफाएँ बनाई गई। आन्ध्र प्रदेश में,

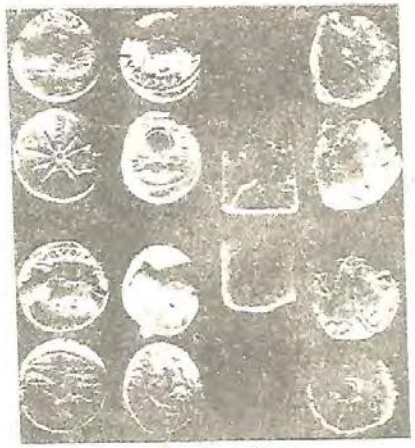

चांदी के सिक्के

नागार्जुनकोंड और अमरावती बौद्ध कला के महान् केन्द्र हो गए, जहाँ बुद्ध के जीवन की कथाएँ अनगिनत पट्टों पर चित्रित की गई हैं। बौद्ध धर्म से संबंधित सबसे पुराने पट्टचित्र गया, साँची और भरहुत में पाए जाते हैं, जो ईसा-पूर्व दूसरी सदी के हैं। परंतु हम मूर्तिकला का और भी विकास ईसवी सन् की आरंभिक सदियों में पाते हैं।

साहित्य और विद्या

विदेशी राजाओं ने संस्कृत-साहित्य का संरक्षण-सम्पोषण किया। काव्य-शैली का पहला नमूना रुद्रदामन् का काठियावाड़ में जुनागढ़ अभिलेख है जिसका समय लगभग 150 ई. है। इसके बाद से अभिलेख परिष्कृत संस्कृत भाषा में लिखे जाने लगे हैं। फिर भी अभिलेखों की रचना प्राकृत भाषा में करने की परिपाटी ईसा की चौथी सदी या उसके आगे तक चलती रही।

लगता है कि अश्वघोष जैसे कुछ महान् साहित्यकारों को कुषाणों का संपोषण प्राप्त था।

अश्वघोष ने बुद्ध की जीवनी **बुद्धचरित** के नाम से लिखी। उसने **सौन्दरनन्द** नामक काव्य भी लिखा जो संस्कृत काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

महायान बौद्ध संप्रदाय की प्रगति के फलस्वरूप अनगिनत **अवदानों** की रचना हुई। कई अवदान बौद्धों की मिश्रित संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। अवदानों का अन्यतम उद्देश्य लोगों को महायान के उपदेशों से अवगत कराना है। इस कोटि की प्रमुख कृतियाँ हैं—**महावस्तु** और **दिव्यावदान**।

यूनानियों ने परदे का प्रचलन आरंभ कर भारतीय नाट्यकला के विकास में भी योगदान दिया। चूंकि परदा यूनानियों की देन था इसलिए वह **यवनिका** के नाम से विदित हुआ। यवनिका शब्द यवन शब्द से बना है, और यवन शब्द **आयोनियन** (यूनानियों की एक शाखा जिससे प्राचीन भारत के लोग परिचित थे) का संस्कृत प्रतिरूप है। आरंभ में यवन शब्द का प्रयोग यूनान के निवासियों के अर्थ में होता था, पर बाद में सभी प्रकार के विदेशियों के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा।

धार्मिकेतर साहित्य का सबसे अच्छा उदाहरण है—वात्स्यायन का **कामसूत्र**। इसका काल ईसा की तीसरी सदी माना जाता है। यह रतिशास्त्र या कामशास्त्र की प्राचीनतम पुस्तक है जिसमें रति और प्रीति का विवेचन किया गया है। इसमें एक **नागरक** या नगरजीवी पुरुष का जीवन चित्रित किया गया है, जो शहरी जीवन के विकास-काल की झांकी देता है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी

मौर्योत्तर काल में यूनानियों के संपर्क से खगोल और ज्योतिष शास्त्र में खूब प्रगति हुई। संस्कृत ग्रंथों में हमें ग्रह-नक्षत्रों के संचार संबंधी बहुत सारे यूनानी शब्द मिलते हैं। भारतीय ज्योतिष यूनानी चिंतनों से प्रभावित हुआ। यूनानी शब्द **होरोस्कोप** संस्कृत में होराशास्त्र हो गया जिसका अर्थ संस्कृत में फलित ज्योतिषशास्त्र होता है। यूनान के सिक्के, जो आकृति में और छाप में उत्कृष्ट हैं, वस्तुतः आहत मुद्राओं के ही सुधरे रूप हैं। यूनानी शब्द **द्रक्म** (drachma) भारत में द्रम्म हो गया। बदले में, यूनानी शासकों ने बाह्मी लिपि चलाई और अपने सिक्कों पर कई भारतीय रूपांक (मोटिफ) चलाए। कुत्ते, मवेशी, मसाले और हाथी दाँत की वस्तुएँ यूनानी लोग यहाँ से बाहर भेजते थे। उन्होंने भारत से कोई दस्तकारी सीखी या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है।

फिर भी भारतीयों ने यूनानियों से चिकित्साशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और रसायनशास्त्र में कोई महत्त्वपूर्ण चीज नहीं प्राप्त की। इन तीनों शास्त्रों का विवेचन चरक और सुश्रुत ने किया है। **चरकसंहिता** में उन अनगिनत वनस्पतियों के नाम हैं जिनसे रोग की चिकित्सा के लिए दवाएँ बनाई जाती थीं। पौधों को कूटने और मिश्रित करने की जो प्रक्रियाएँ बतलाई गई हैं उनसे हमें मालूम होता है कि प्राचीन भारत में रसायनशास्त्र का ज्ञान काफी विकसित था। रोगों के इलाज में प्राचीन भारतीय वैद्य लोग मुख्यतः पौधों पर ही निर्भर थे, जिन्हें संस्कृत में **औषधि** कहते हैं, और इससे बनी दवा **औषध** कहलाती है।

प्रौद्योगिकी अर्थात् टेकनोलॉजी के क्षेत्र में भी लगता है भारतीयों को मध्य एशियाई लोगों के संपर्क से लाभ हुआ है। कनिष्क को पतलून तथा चुस्त पायजामा और लंबे जूतों में चित्रित किया गया है। चमड़े के जूते बनाने का प्रचलन भारत

में संभवत: इसी काल से आरंभ हुआ। भारत में चले ताँबे के कुषाण कालीन सिक्के रोमन सिक्कों की नकल थे। इसी तरह भारत में कुषाणों ने जो सोने के सिक्के ढलवाए वे रोमन स्वर्णमुद्राओं की नकल थे। जानकारी मिलती है कि भारतीय और रोमन राजाओं के बीच दो राजदूतों का आदान-प्रदान हुआ था। सन् 27-28 ई. में रोमन सम्राट् ऑगस्टस और सन् 110-120 ई. में रोमन सम्राट् ट्राजन के दरबार में भारत से राजदूत भेजे गए थे। इस प्रकार भारत के साथ रोम के संपर्क से प्रौद्योगिकी में नए-नए तरीके विकसित हुए होंगे। इस काल में शीशे के काम पर विदेशी विचारों और तरीकों का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। प्राचीन भारत में किसी भी अन्य काल में शीशे के काम में ऐसी प्रगति नहीं हुई जैसी इस काल में।

अभ्यास

1. कारण बताएँ कि हिन्दू-यूनानियों, पार्थियाइयों, शकों और कुषाणों ने भारत पर क्यों आक्रमण किया।
2. हिन्द-यूनानियों, पार्थियाइयों, शकों और कुषाणों का कालानुक्रम दिखाने वाला एक चार्ट बनाएँ। उसके शासन के अधीन क्षेत्र भी दिखाएँ।
3. विवेचन करें कि मध्य एशिया के सम्पर्क से भारत की राजनीतिक पद्धति, समाज और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर क्या प्रभाव पड़ा।
4. बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय के विकास का वर्णन करें।
5. उदाहरणों के साथ बताएँ कि 200 ई. पू.-300ई. के बीच कला और साहित्य में क्या-क्या प्रगति हुई। कला की गान्धार और मथुरा परंपरा की विशेषताएँ बताएँ।
6. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर उन क्षेत्रों को दिखाएँ जहाँ हिन्द-यूनानियों, पार्थियाइयों, शकों, और कुषाणों का शासन था। पाठ्यपुस्तक में आए स्थानों के नामों की सूची बनाकर उन्हें मानचित्र में दिखाएँ।
7. इस अवधि में भारतीय संस्कृति किस प्रकार समृद्ध हुई यह दिखाने के लिए एक समूह परियोजना चालू करें।

अध्याय 17

सातवाहन युग

राजनीतिक इतिहास

उत्तर भारत में मौर्यों के सबसे महत्त्वपूर्ण देशी उत्तराधिकारी हुए शुंग और उसके बाद कण्व। दकन और मध्य भारत में मौर्यों के उत्तराधिकारी सातवाहन हुए, हालाँकि बीच में करीब सौ वर्षों का व्यवधान हुआ। सातवाहन और पुराणों में उल्लिखित आन्ध्र एक ही माने जाते हैं। पुराणों में केवल आन्ध्र-शासन का उल्लेख है, सातवाहन-शासन का नहीं। दूसरी ओर सातवाहन अभिलेखों में आन्ध्र नाम नहीं मिलता है। सातवाहन-पूर्व बस्तियों का अस्तित्व दकन के अनेक स्थलों पर लाल मृद्भांड, काला-व-लाल मृद्भांड और गेरूआ लेपित चित्रित मृद्भांड के पाए जाने से प्रमाणित होता है। इनमें से अधिकांश बस्तियाँ लोहे का इस्तेमाल करने वाले उन महापाषाण निर्माताओं से संबद्ध हैं जो उत्तर से आने वाली भौतिक संस्कृति के साथ संपर्क के फलस्वरूप नए-नए कार्यकलापों की ओर प्रेरित हुए होंगे। लोहे के फाल का प्रयोग, धान की रोपनी, नगरीकरण, लेखन-कला आदि के आगमन से सातवाहनों के द्वारा राज्य के गठन के लिए उपयुक्त परिस्थिति बन गई थी। कुछ पुराणों के अनुसार आन्ध्रों ने कुल मिलाकर 300 वर्षों तक शासन किया और यही समय सातवाहनों का शासन-काल माना जाता है। सातवाहनों के सबसे पुराने अभिलेख ईसा-पूर्व पहली सदी के हैं। उसी समय उन्होंने कण्वों को पराजित कर मध्य भारत के कुछ भागों में अपनी सत्ता स्थापित की। आरंभिक सातवाहन राजा आन्ध्र में नहीं, बल्कि उत्तरी महाराष्ट्र में थे जहाँ उनके प्राचीनतम सिक्के और अधिकांश आरंभिक अभिलेख मिले हैं। उन्होंने अपनी सत्ता ऊपरी गोदावरी घाटी में स्थापित की, जहाँ अभी महाराष्ट्र में बढ़िया और तरह-तरह की फसल होती है।

धीरे-धीरे सातवाहनों ने अपनी सत्ता का विस्तार कर्नाटक और आन्ध्र पर किया। उनके सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी शक थे जिन्होंने अपनी सत्ता दकन और पश्चिमी भारत में स्थापित की थी। ऐसी भी अवस्था आई जब शकों ने सातवाहनों को महाराष्ट्र और पश्चिमी भारत के अंदर पड़ने वाले उनके राज्यक्षेत्र से बेदखल कर दिया। लेकिन सातवाहन वंश के ऐश्वर्य को गौतमीपुत्र शातकर्णि (106-130 ई.) फिर वापस लाया। उसने अपने को एकमात्र ब्राह्मण कहा, शकों को हराया और अनेक क्षत्रिय शासकों का नाश किया। उसका दावा है कि उसने क्षहरात वंश का नाश

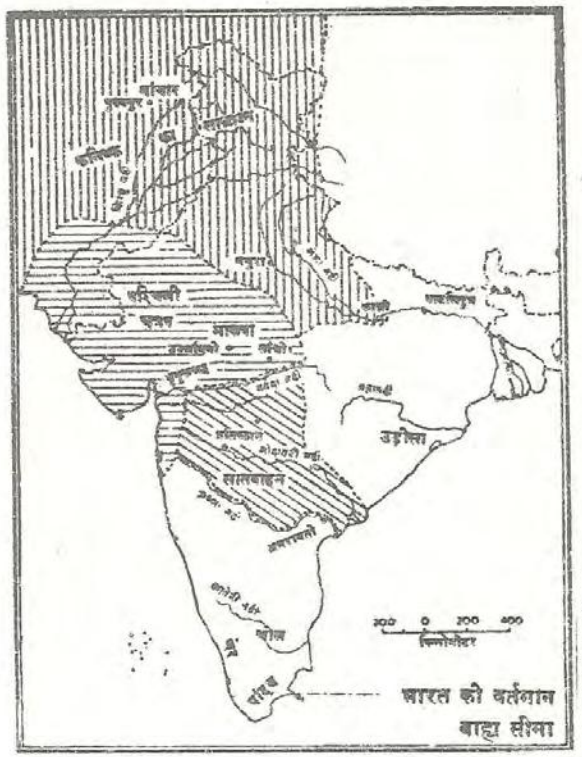

भारत 150 ई. के लगभग

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित। समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

किया क्योंकि उसका शत्रु नहपान इसी वंश का था। उसका यह दावा सही है, क्योंकि नहपान के जो 8,000 से अधिक चाँदी के सिक्के नासिक के पास मिले हैं उन पर सातवाहन राजा द्वारा फिर से ढलाए जाने के चिह्न हैं। उसने मालवा और काठियावाड़ पर भी अधिकार जमा लिया जो शकों के अधीन थे। ऐसा लगता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि का साम्राज्य उत्तर में मालवा से लेकर दक्षिण में कर्नाटक तक फैला हुआ था। संभवतः आन्ध्र पर भी उसका आधिपत्य था।

गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारियों ने 220 ई. तक राज किया। इस के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र पुलुमायिन् (130-154 ई.) के सिक्के और अभिलेख आन्ध्र में पाए गए हैं, जो बताते हैं कि यह क्षेत्र दूसरी सदी के मध्य तक सातवाहन राज्य का अंग बन चुका था। उसने अपनी राजधानी आन्ध्र प्रदेश के औरंगाबाद जिले में गोदावरी नदी के किनारे पैठन या प्रतिष्ठान में बनाई। शकों ने कोंकण समुद्र तट और मालवा पर अधिकार करने के लिए सातवाहनों के साथ पुनः संघर्ष छेड़ दिया। सौराष्ट्र (काठियावाड़) के शक शासक रुद्रदामन् प्रथम (130-150 ई.) ने

सातवाहनों को दो बार हराया, मगर वैवाहिक संबंध के कारण उनका नाश नहीं किया। बाद के सातवाहन राजा यज्ञश्री शातकर्णि (165-194 ई.) ने उत्तर कोंकण और मालवा को शक शासकों से वापस ले लिया। वह व्यापार और जलयात्रा का प्रेमी था। उसके सिक्के न केवल आन्ध्र प्रदेश, बल्कि महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और गुजरात में भी पाए गए हैं। इन सिक्कों पर जहाज का चित्र है जो जलयात्रा और समुद्री व्यापार के प्रति उसके प्रेम का परिचायक है।

भौतिक संस्कृति के पहलू

सातवाहन काल में दकन की भौतिक संस्कृति में स्थानीय उपादान और उत्तर के वैशिष्ट्य दोनों का मिश्रण है। दकन के महापाषाण निर्माता लोहे का इस्तेमाल और खेती दोनों से परिचित थे। यद्यपि लगभग 200 ई. पू. के पहले हम लोहे के बने कुछ फावड़े पाते हैं, फिर भी, ऐसे औजारों की संख्या ईसा की आरंभिक दो-तीन सदियों में काफी बढ़ी। महापाषाण अवस्था से सातवाहन अवस्था तक फावड़े के आकार में कोई खास परिवर्तन नहीं दिखाई देता है। अंतर इतना ही है कि फावड़ों में मूठ अच्छी तरह और पूरी तरह लग गए थे। मूठ वाले फावड़े के अतिरिक्त हँसिये, कुदाले, हल के फाल, कुल्हाड़ियाँ, बसूले, उस्तरे आदि उत्खनित स्थलों के सातवाहन स्तरों में पाए गए हैं। चूलदार और मूठ वाले बाणाग्र और कटारें भी मिली हैं। करीमनगर जिले में एक उत्खनित स्थान पर लोहार की एक दुकान भी मिली है। सातवाहनों ने करीमनगर और वारंगल के लौह अयस्कों का उपयोग किया होगा, क्योंकि पता चला है कि इन दोनों जिलों में महापाषाण काल में लोहे की खदानें थीं। ईसा से पूर्व की और बाद की सदियों में कोलार क्षेत्रों में प्राचीन स्वर्ण खदानें होने के साक्ष्य मिले हैं। सातवाहनों ने स्वर्ण का प्रयोग बहुमूल्य धातु के रूप में किया होगा क्योंकि उन्होंने कुषाणों की तरह सोने के सिक्के नहीं चलाए। उनके सिक्के अधिकांश सीसे (लेड) के हैं जो दकन में पाए जाते हैं। उन्होंने पोटीन, ताँबे और काँसे की मुद्राएँ भी चलाईं। उत्तरी दकन में ईसा की आरंभिक सदियों में सातवाहनों की जगह आने वाले इक्ष्वाकुओं ने भी सिक्के चलाए। लगता है, सातवाहन और इक्ष्वाकु दोनों ने दकन के खनिज स्रोतों का उपयोग किया।

दकन के लोग धान की रोपनी जानते थे, और शुरू की दो सदियों में कृष्णा और गोदावरी के बीच का क्षेत्र, खासकर दोनों नदियों के मुहानों का क्षेत्र, चावल का विशाल भंडार हो गया था। दकन के लोग कपास भी उपजाते थे। विदेशियों के विवरणों में आन्ध्र कपास के उत्पादन में मशहूर बताया गया है। इस प्रकार दकन के बड़े हिस्से में परम उन्नत ग्रामीण अर्थव्यवस्था विकसित हुई। प्लिनी के अनुसार आन्ध्र राज्य की सेना में 1,00,000 पैदल सिपाही, 2,000 घुड़सवार और 1,000 हाथी थे। इससे सिद्ध होता है कि काफी ग्रामीण आबादी रही होगी और वह इतनी बड़ी सेना के पोषण के लायक पर्याप्त अनाज पैदा करती रही होगी।

उत्तर के संपर्क से दकन के लोगों ने सिक्के, पकी ईंट, छल्लेदार कुआँ, लेखन कला, आदि का प्रयोग सीखा। भौतिक जीवन के ये अंग 300 ई. पू. तक उत्तर भारत में काफी महत्त्वपूर्ण हो चुके थे, किंतु दक्षिण में इनका महत्त्व दो सदी के बाद बढ़ा। करीमनगर जिले के पेड्डबंकुर (200 ई.पू. –200 ई) में पकी ईंट और छत में लगने वाले चिपटे छेददार खपड़े का प्रयोग पाते हैं। इन सबों

से निर्माण में टिकाऊपन आया होगा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी के ईंटों के बने 22 कुएँ भी इस स्थल पर पाए गए हैं। सहज ही, इनसे घनी आबादी के विकास में सुविधा हुई होगी। हम जमीन के अन्दर बनी ढकी हुई नालियाँ भी पाते हैं जिनसे गंदा पानी गड्ढों में जाता था। महाराष्ट्र में नगर ईसा-पूर्व पहली सदी से दिखाई देते हैं, जब हम कई तरह के शिल्प पाते हैं। इनका प्रसार पूर्वी दकन में एक शताब्दी के बाद हुआ। प्लिनी ने लिखा है कि पूर्वी दकन में आन्ध्र देश में बहुत सारे गांवों के अलावा दीवार से घिरे 30 नगर थे। इस क्षेत्र में दूसरी और तीसरी सदियों में कई नगर थे। इसकी जानकारी अभिलेखों और उत्खननों से मिली है। भारी संख्या में मिले रोमन और सातवाहन सिक्कों से बढ़ते हुए व्यापार का संकेत मिलता है। ये सभी पूर्वी दकन में गोदावरी-कृष्णा क्षेत्र में लगभग एक सदी बाद दिखाई देते हैं।

सामाजिक संगठन

लगता है कि सातवाहन दकन की किसी जनजाति के लोग थे। लेकिन वे ब्राह्मण बना लिए गए थे। उनके सबसे प्रसिद्ध राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने कहा है कि उसने विच्छिन्न होते चातुर्वर्ण्य (चार वर्णों वाली व्यवस्था) को फिर से स्थापित किया और वर्णसंकर (वर्णों और जातियों के मिश्रण) को रोका। संभवतः वर्णसंकर का यह संकट शकों के प्रवेश से तथा दकन में रहने वाले जनजातीय लोगों के सतही ब्राह्मणीकरण से उत्पन्न हुआ होगा। लेकिन जब शकों और सातवाहनों के बीच वैवाहिक संबंध होने लगे तब शकों का क्षत्रिय के रूप में ब्राह्मणीय समाज में प्रवेश आसान हो गया। इसी प्रकार, बौद्ध भिक्षुओं ने देशी जनजातीय लोगों का बौद्धीकरण किया। इस कार्य के लिए बौद्ध भिक्षुओं को भूमिदान देकर प्रेरित किया गया कि वे पश्चिमी दकन में जनजातीय लोगों के बीच बस जाएँ। इस बात के संकेत मिलते हैं कि व्यापारी वर्ग बौद्ध भिक्षुओं की सहायता करता था, क्योंकि आरंभिक बौद्ध गुहाएँ व्यापार-मार्गों पर ही मिली हैं। ब्राह्मणों को भूमिअनुदान या जागीर देने वाले प्रथम शासक सातवाहन ही हुए, हालांकि भिक्षुओं के लिए इस प्रकार के अनुदान के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

शासन करना धर्मशास्त्र के अनुसार क्षत्रियों का कर्त्तव्य है, परंतु सातवाहन शासकों ने अपने को ब्राह्मण कहा। गौतमीपुत्र तो गर्व से कहता है कि सच्चा ब्राह्मण वही है। चूँकि आन्ध्रों को आरंभिक सातवाहनों से अभिन्न माना गया है, अतः संभव है कि वे दोनों एक ही स्थानीय जनजाति के थे और ब्राह्मण धर्मावलम्बी हो गए। उत्तर के कट्टर ब्राह्मण लोग आन्ध्रों को वर्णसंकर मानकर हीन समझते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि आन्ध्र लोग जनजातीय मूल के थे और ब्राह्मणिक समाज में वर्णसंकर के रूप में गृहीत हुए।

शिल्प और वाणिज्य में हुई प्रगति के फलस्वरूप इस काल में अनेक वणिक और शिल्पी चमक उठे। वणिक लोग अपने-अपने नगर का नाम अपने नाम में जोड़ने लगे। शिल्पी और वणिक दोनों ने बौद्ध धर्म के निमित्त उदारतापूर्वक दान दिए। उन्होंने स्मारक व शिलापट्टिकाएँ स्थापित कीं। शिल्पियों में गन्धिकों का नाम दाता के रूप में बारंबार उल्लिखित है। गन्धिक वे शिल्पी कहलाते थे जो इत्र आदि

बनाते थे। बाद में इस शब्द का अर्थ व्यापक हो गया और हर प्रकार के दुकानदारों के लिए यह शब्द प्रयुक्त होने लगा। आज का उपनाम गांधी इसी प्राचीन शब्द से निकला है।

सातवाहनों के बारे में सबसे दिलचस्प ब्योरा उनके पारिवारिक ढाँचे से संबद्ध है। उत्तर भारत के आर्यजनों के समाज में पिता का महत्त्व माता से अधिक था, और अब तक हम उत्तर भारत के जिन राजाओं की चर्चा कर चुके हैं वे सभी पितृतंत्रात्मक समाज के थे। परंतु सातवाहनों में हमें मातृतंत्रात्मक ढाँचे का आभास मिलता है। उनके राजाओं के नाम उनकी माताओं के नाम पर रखने की प्रथा थी। गौतमीपुत्र, वासिष्ठीपुत्र आदि नाम बताते हैं कि उनके समाज में माता की प्रतिष्ठा अधिक थी। आज प्रायद्वीपीय भारत में पुत्र के नाम में पिता के नाम का अंश जोड़ने की परंपरा है, माता के नाम को इसमें कोई स्थान नहीं है, इससे पितृतान्त्रिक प्रभाव लक्षित होता है। रानियों ने स्वाधिकारपूर्वक बड़े-बड़े धार्मिक दान किए और कई रानियों ने तो प्रतिशासक (रीजेंट) के रूप में भी काम किया। किंतु सारतः सातवाहन राजकुल पितृतन्त्रात्मक था क्योंकि राजसिंहासन का उत्तराधिकारी पुत्र ही होता था।

प्रशासनिक ढाँचा

सातवाहन शासकों ने धर्मशास्त्रों में बताए गए राजा के आदर्श पर चलने के प्रयास किए। राजा धर्म का संरक्षक होता था। उसमें कुछ दैवी गुणों का होना माना जाता था। सातवाहन राजा का वर्णन राम, भीम, केशव, अर्जुन आदि पौराणिक महापुरुषों के गुणों से विभूषित रूप में किया गया है। बल और पराक्रम में राजा की तुलना उक्त पौराणिक पुरुषों और दिव्य विभूतियों से की गई है। स्पष्टतः ऐसा सातवाहन राजा में देवत्व सिद्ध करने के लिए किया जाता होगा।

सातवाहनों ने कई प्रशासनिक इकाइयाँ वही रखीं जो अशोक के काल में पाई गई थीं। उनके समय में जिला को अशोक के काल की तरह ही आहार कहते थे। उनके अधिकारी, मौर्य काल की तरह ही, **अमात्य** और **महामात्य** कहलाते थे।

परंतु सातवाहनों के प्रशासन में हम कुछ खास सैनिक और सामन्तिक लक्षण पाते है। यह गौर करने की बात है कि सेनापति को प्रांत का शासनाध्यक्ष या गवर्नर बनाया जाता था। चूँकि दकन की जनजातीय लोगों का न तो पूरा-पूरा ब्राह्मणीकरण हुआ था और न वे अपने को नए शासन के अनुकूल बना पाए थे, इसलिए उन्हें प्रबल सैनिक नियन्त्रण में रखना आवश्यक था। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रशासन का काम **गौल्मिक** को सौंपा जाता था। गौल्मिक एक सैनिक टुकड़ी का प्रधान होता था जिसमें नौ रथ, नौ हाथी, पच्चीस घोड़े और पैंतालीस पैदल सैनिक होते थे। गौल्मिक को ग्रामीण क्षेत्रों में इसलिए रखा जाता था कि वह शान्ति-व्यवस्था बनाए रख सके।

सातवाहन शासन में सैनिक लक्षण इससे भी प्रकट होता है कि उनके अभिलेखों में **कटक** और **स्कन्धावार** शब्दों का खूब उल्लेख मिलता है। वे सैनिक शिविर और बस्तियाँ होते थे। वे तब तक प्रशासनिक केंद्र के रूप में काम करते थे जब तक वहाँ पर राजा स्वयं रहते। इस प्रकार सातवाहन शासन में दमन नीति का प्रमुख स्थान था।

सातवाहनों ने ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं

को कर-मुक्त ग्रामदान देने की प्रथा आरंभ की। जो आबाद भूमि और ग्राम दान में दिए जाते थे उन्हें राजपुरुषों और सैनिकों के और हर कोटि के राजकीय अधिकारियों के हस्तक्षेप से मुक्त घोषित कर दिया जाता था। अत: दान किए गए ऐसे क्षेत्र सातवाहन राज्य के भीतर छोटे-छोटे स्वतंत्र द्वीप जैसे बन गए। संभवत: बौद्ध भिक्षु भी अपने निवास-क्षेत्र के लोगों में शांति और सदाचरण के नियमों का पालन करने, तथा राजसत्ता और सामाजिक व्यवस्था का आदर करने का उपदेश दिया करते थे। बेशक, वर्णव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में ब्राह्मणों की मदद मिली और इससे समाज में स्थिरता आई।

सातवाहन राज्य में सामंतों की तीन श्रेणियाँ थीं। पहली श्रेणी का सामंत राजा कहलाता था और उसे सिक्का ढालने का अधिकार रहता था। द्वितीय श्रेणी का **महाभोज** कहलाता था, और तृतीय श्रेणी का **सेनापति**। ऐसा लगता है कि इन सामन्तों को अपने-अपने इलाकों में कुछ सत्ता प्राप्त थी।

धर्म

सातवाहन शासक ब्राह्मण थे और उन्होंने ब्राह्मणवाद के विजयाभियान का नेतृत्व किया। आरंभ से ही राजाओं और रानियों ने अश्वमेध, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञ किए। वे कृष्ण, वासुदेव आदि जैसे बहुत-से वैष्णव देवताओं के भी उपासक थे। यज्ञानुष्ठानों में ब्राह्मणों को उन्होंने प्रचुर दक्षिणा दी।

फिर भी सातवाहन शासकों ने भिक्षुओं को ग्रामदान दे-देकर बौद्ध धर्म को बढ़ाया। उनके राज्य में बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय का बोलबाला था, खासकर शिल्पियों के बीच। आन्ध्र प्रदेश में नागार्जुनकोंड और अमरावती नगर सातवाहनों के शासन में और विशेषकर उनके उत्तराधिकारी इक्ष्वाकुओं के शासन में बौद्ध संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गए। इसी प्रकार महाराष्ट्र में पश्चिमी दकन के नासिक और जुनार क्षेत्रों में भी, शायद व्यापारियों का संरक्षण पाकर बौद्ध धर्म फूला-फला।

वास्तुकला

सातवाहन काल में पश्चिमोत्तर दकन या महाराष्ट्र में अत्यन्त दक्षता और लगन के साथ ठोस चट्टानों को काट-काट कर अनेक **चैत्य** और **विहार** बनाए गए। वस्तुत: यह प्रक्रिया 200 ई. पू. के आसपास लगभग एक शताब्दी पहले ही आरंभ हो चुकी थी। चैत्य बौद्धों के मन्दिर का काम करता था और विहार भिक्षु-निवास का। चैत्य अनेकानेक पायों पर खड़ा बड़ा हॉल जैसा होता था, और विहार में एक केंद्रीय शाला होती थी जिसमें सामने के बरामदे की ओर एक द्वार रहता था। सबसे मशहूर चैत्य है पश्चिमी दकन में कार्ले का। यह लगभग 40 मीटर लम्बा, और 15 मीटर ऊँचा है। यह विशाल शिला-वास्तुकला का प्रभावोत्पादक उदाहरण है।

विहार चैत्यों के पास बनाए गए। उनका उपयोग वर्षा काल में भिक्षुओं के निवास के लिए होता था। नासिक में तीन विहार हैं। चूँकि उनमें नहपान और गौतमीपुत्र के अभिलेख हैं, इसलिए प्रतीत होता है कि वे ईसा की पहली-दूसरी शताब्दियों के हैं।

शिलाखंडीय वास्तुकला आन्ध्र में कृष्णा-गोदावरी क्षेत्र में भी पाई जाती है, परंतु यह क्षेत्र वस्तुत:

कार्ले का चैत्य

अमरावती में बुद्ध के चरण-चिह्नों की पूजा

स्वतंत्र बौद्ध संरचनाओं के लिए मशहूर है। ये संरचनाएँ अधिकतर स्तूप के रूप में हैं। इन में अमरावती और नागार्जुनकोंड के स्तूप सबसे अधिक मशहूर हैं। स्तूप गोल सतंभाकार ढाँचा है जो बुद्ध के किसी अवशेष के ऊपर खड़ा किया जाता था। अमरावती स्तूप का निर्माण लगभग 200 ई. पू. में आरंभ हुआ, किंतु ईसा की दूसरी सदी के उत्तरार्ध में आकर वह पूर्णरूपेण निर्मित हुआ। इसका गुंबज नींव के आर-पार 53 मीटर है, - और इसकी ऊँचाई 33 मीटर मालूम होती है। अमरावती का स्तूप भित्ति-प्रतिमाओं से भरा हुआ है। इनमें बुद्ध के जीवन के विभिन्न दृश्य उकेरे हुए हैं।

नार्गाजुनकोंड सातवाहनों के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकुओं के काल में अपने उत्कर्ष की चोटी पर था। यहाँ केवल बौद्ध स्मारक ही नहीं बल्कि सबसे पुराने ईंट के बने हिन्दू मंदिर भी हैं। यहाँ लगभग दो दर्जन विहार दिखाई देते हैं। अपने स्तूपों और महाचैत्यों से अलंकृत यह स्थान ईसा की आरंभिक सदियों में मूर्तिकला में सबसे ऊँचा प्रतीत होता है।

नागार्जुनकोंडा में बुद्ध का उपदेश

भाषा

सातवाहनों की राजकीय भाषा प्राकृत थी। सभी अभिलेख इसी भाषा में और ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए हैं, जैसा कि हम अशोक के काल में देख चुके हैं। हो सकता है कि कुछ सातवाहन राजाओं ने प्राकृत में पुस्तकें भी लिखी हों। प्राकृत ग्रंथ

गाथाहासत्तसई (या गाथासप्तशती) हाल नामक सातवाहन राजा की रचना बताई जाती है। इसमें 700 श्लोक हैं जो सभी प्राकृत में हैं। किंतु लगता है कि इसका अंतिम परिमार्जन बहुत दिनों के पश्चात् संभवत: ईसा की छठी सदी के बाद किया गया है।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :
   मातृतन्त्रात्मक, गन्धिक, चैत्य, विहार, स्तूप, प्राकृत।
2. सातवाहन कौन थे? उनके राजनीतिक इतिहास का विवरण दें।
3. क्या सातवाहन दकन में मौर्यों के यथार्थ उत्तराधिकारी थे? विवेचन करें।
4. सातवाहनों की प्रशासन-पद्धति का वर्णन करें।
5. सातवाहनों के राज्य में हुए ललितकला और वास्तुकला के विकास का वर्णन करें।
6. सातवाहनों के अमल में सामाजिक संघटन कैसा था? इसके विशिष्ट लक्षण बताएँ।
7. सातवाहन राज्य में धार्मिक स्थिति कैसी थी?
8. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर सातवाहनों का राज्यक्षेत्र दिखाएँ। भारत के अन्य भागों में उस समय जो राज्य थे उनके क्षेत्र भी दिखाएँ।

अध्याय 18

सुदूर दक्षिण में इतिहास का आरंभ

महापाषाणिक (मेगालिथिक) पृष्ठभूमि

प्रागैतिहासिक युग के पश्चात् कई वस्तुएँ ऐतिहासिक युग के आरंभ की सूचना देती हैं। ये हैं : फालवाले हल से खेती करने वाले ग्रामीण समुदायों का बड़े पैमाने पर बसना, राजतंत्र का गठन, सामाजिक वर्गों का पनपना, धातु के सिक्के का प्रयोग, लेखन-कला का प्रचलन, लिखित साहित्य का आरंभ। इनमें से कोई भी बात भारतीय प्रायद्वीप के सिरे पर (जिसका केंद्र स्थल है कावेरी डेल्टा अंचल) ईसा-पूर्व दूसरी सदी तक नहीं पाई जाती है। इस समय तक इस प्रायद्वीप के उच्च भागों में वे लोग बसते थे जो महापाषाण निर्माता (मेगालिथ बिल्डर) कहलाते हैं। उनका पता हमें उनकी यथार्थ बस्तियों से नहीं चलता, जो बहुत ही कम मिलती हैं, बल्कि उनकी कब्रों से चलता है जो **महापाषाण** कहलाती हैं। इन कब्रों को महापाषाण इसलिए कहते हैं कि इन्हें बड़े-बड़े पत्थरों के टुकड़ों से घेर दिया जाता था। इन कब्रों में दफनाए गए लोगों के न केवल अस्थिपंजर ही बल्कि मृद्भांड और लोहे की वस्तुएँ भी मिलती हैं। वे लोग कई तरह के मृद्भांडों का प्रयोग करते थे जिन में लाल मृद्भांड भी शामिल हैं। लेकिन काला-व-लाल मृद्भांड उन लोगों में अधिक प्रचलित मालूम पड़ते हैं। अवश्य ही, शव के साथ कुछ वस्तुओं को भी दफनाने की प्रथा इस विश्वास पर चली होगी कि मृतात्मा को परलोक में उन सभी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती होगी। इन वस्तुओं से हमें उनकी जीविका के स्रोतों का आभास मिलता है। हम उनके बाणाग्र, बरछे की नोक, फावड़े तथा हँसिया पाते हैं। ये सभी लोहे के बने हैं। महापाषाण कब्रों में त्रिशूल भी पाते हैं जो बाद में शिव के साथ जुड़ गया। फिर भी इन कब्रों में खेती के औज़ार कम पाते है, लड़ाई और शिकार के हथियार अधिक। इससे लक्षित होता है कि महापाषाणिक लोग उन्नत खेती नहीं करते थे।

महापाषाणिक लोग प्रायद्वीप के सारे ऊँचे इलाकों में पाए जाते हैं, लेकिन उनका जमाव पूर्वी आन्ध्र और तमिलनाडु में अधिक प्रतीत होता है। महापाषाणिक संस्कृति का आरंभ लगभग 1000 ई. पू. से माना जा सकता है, लेकिन कई मामलों में महापाषाण अवस्था ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी से लेकर ईसा-पूर्व पहली सदी तक कायम रही मालूम पड़ती है। कुछ बातों में तो यह अवस्था ईसवी सन् की आरंभिक सदियों तक टिकी-सी लगती है।

महापाषाणी कब्र

अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित चोल, पाण्ड्य और केरलपुत्र (चेर) शायद भौतिक संस्कृति की उत्तर महापाषाणिक अवस्था के लोग थे। तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों में रहने वाले महापाषाणिक लोगों में कुछ अजीब लक्षण पाए जाते हैं। वे मृतकों के अस्थिपंजर को लाल कलश में डालकर गड्ढों में दफनाते थे। कई मामलों में ये अस्थिपंजर पत्थरों से घिरे नहीं थे, और दफन की वस्तुएँ अधिक नहीं थीं। यह कलश-शवाधान (अर्न बेरियल) परिपाटी पत्थर के घेरेवाले ताबूत शवाधान या गर्त शवाधान (सिस्ट बेरियल या पिट बेरियल) की परिपाटी से भिन्न हैं, जो कृष्णा-गोदावरी घाटी में प्रचलित थी। परंतु जो भी हो, लोहे के प्रयोग के बावजूद ये महापाषाणिक लोग बसने के लिए और शवों को दफनाने के लिए पहाड़ियों की ढलानों पर निर्भर करते थे। महापाषाणिक लोग धान और रागी उपजाते थे, परन्तु उनकी खेती बहुत ही कम जमीन पर होती

थी और वे घने जंगलों में छाए रहने के कारण मैदानों या निचली भूमियों में बस नहीं पाए।

राज्य का बनना और सभ्यता का उदय

ईसा सन् के आरंभ के साथ या संभवतः उससे कुछ पहले, ये लोग ऊँची भूमि से उतरकर उर्वर नदी घाटियों में आए और कछारी डेल्टा क्षेत्रों को तोड़कर कृषियोग्य बनाया। बहुत सारे व्यापारी और विजेता लोग तथा जैन, बौद्ध और कुछ ब्राह्मण धर्मप्रचारक उत्तर से आकर प्रायद्वीप के छोर तक पहुँचे। उनके साथ आई भौतिक संस्कृति के बहुत से तत्वों के साथ इन महापाषाण लोगों का संपर्क हुआ। इस संपर्क से प्रेरित होकर इन्होंने संभवतः धान रोपनी की परिपाटी अपनाई, अनेकों गाँव और नगर बसाए और उनके बीच भी सामाजिक वर्ग बन गए। उत्तर और सुदूर दक्षिण, जो **तमिलकम** या **तमिषकम** कहलाता है, दोनों के बीच संस्कृति और आर्थिक संबंध की स्थापना ईसा-पूर्व चौथी सदी से नितांत महत्त्वपूर्ण हो गई। दक्षिणापथ अर्थात् दक्षिण को जाने वाला रास्ता उत्तर वालों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ क्योंकि दक्षिण से उन्हें सोना, मोती और विविध रत्न प्राप्त होते थे। पाटलिपुत्र में रहने वाले मेगास्थनीज को पाण्ड्य देश मालूम था। आरंभिक संगम ग्रन्थ के लेखकों को गंगा और सोन नदी ज्ञात थीं और मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र भी ज्ञात थी। अशोक के अभिलेखों में साम्राज्य की सीमा पर बसने वाले चोलों, पाण्ड्यों, केरलपुत्रों और सतियपुतों का उल्लेख है, जिनमें केवल सतियपुतों की पहचान अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाई है। ताम्रपर्णियों या श्रीलंका के निवासियों का भी उल्लेख है। अशोक की उपाधि "देवों का प्यारा" को एक तमिल राजा ने अपनाया। ये सब धर्म और संस्कृति के प्रसार का परिणाम था। जैनों, बौद्धों, आजीवकों और ब्राह्मणों तथा इन सब के अनुयायियों ने प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया। व्यापारियों के कार्यकलापों से भी लाभ हुआ। यह महत्त्व की बात है कि अशोक के अभिलेख मुख्य-मुख्य महामार्गों पर स्थापित किए गए। आरंभिक अवस्था में ही गंगा के मैदान की संस्कृति का बहुत कुछ प्रभाव उन नास्तिक संप्रदायों के कार्यकलाप के जरिए, जिनका उल्लेख हमें प्राचीनतम तमिल ब्राह्मी अभिलेखों में मिलता है, भली-भाँति दिखाई पड़ता था। ब्राह्मणिक प्रभाव भारी मात्रा में तमिलकम में भी पहुँचा परंतु ऐसा वास्तव में ईसा की चौथी सदी में आकर हुआ। कालक्रमेण, तमिल संस्कृति के भी बहुत से तत्व उत्तर में फैले और ब्राह्मण धर्म संबंधी ग्रंथों में कावेरी की गणना देश की पवित्र नदियों में होने लगी।

दक्षिण में जो तीन-तीन राज्य बने वह तब तक सम्भव न हुआ होगा जब तक कि जंगल को काटकर साफ करने और जोतकर खेती करने के काम को आसान बनाने वाले लोहे का कौशल न फैला होगा। जिन क्षेत्रों में जनपद टाइप और मगध साम्राज्य टाइप की आहत मुद्राएँ मिली हैं उससे उत्तर-दक्षिण व्यापार का पता चलता है।

चोल, चेर और पांड्य इन तीनों राज्यों के उदय में रोमन साम्राज्य के साथ बढ़ते हुए व्यापार का भी हाथ है। ईसा की पहली सदी से ही ये तीनों जनों के शासक उस आयात-निर्यात व्यापार से लाभ उठाते रहे जो एक ओर दक्षिण भारत के समुद्रतटवर्ती प्रदेश और दूसरी ओर रोमन साम्राज्य के पूर्वी उपनिवेशों के, खासकर मिस्र के, बीच चलता रहा।

तीन आरंभिक राज्य

भारतीय प्रायद्वीप का दक्षिणी छोर, जो कृष्णा नदी के दक्षिण में पड़ता है, तीन राज्यों में विभक्त था – चोल, पाण्ड्य और चेर या केरल। पाण्ड्यों का उल्लेख सर्वप्रथम मेगास्थनीज ने किया है। उसने कहा है कि उनका राज्य मोतियों के लिए मशहूर है। उसने यह भी बताया कि इस राज्य का शासन स्त्री के हाथ में है, जिससे यह लक्षित होता है कि पाण्ड्य समाज में कुछ मातृतन्त्रात्मक प्रभाव था।

पांड्य राज्य भारतीय प्रायद्वीप के सुदूर दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी भाग में था, और उसमें मोटे तौर पर तमिलनाडु के आधुनिक तिन्नवेल्ली, रामनद और मदुरा जिले शामिल हैं। उसकी राजधानी मदुरा में थी। ईसा की आरंभिक सदियों में तमिल-परिषदों में संकलित साहित्य में, जो संगम नाम से विख्यात है, पांड्य राजाओं का उल्लेख है, किंतु उसमें कोई क्रमबद्ध विवरण नहीं है। एक दो पांड्य विजेताओं का उल्लेख है। फिर भी संगम साहित्य से प्रकट होता है कि यह देश धनवान और समृद्ध था। पांड्य राजाओं को रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार में लाभ होता था और उन्होंने रोमन सम्राट् ऑगस्टस के दरबार में राजदूत भेजे। ब्राह्मणों का अच्छा स्थान था। पांड्य राजा ने ईसा की आरंभिक सदियों में वैदिक यज्ञ किए।

चोल राज्य मध्य काल के आरंभ में चोलमण्डलम् (कोरोमंडल) कहलाता था। यह पेन्नार और वेलार नदियों के बीच में पाण्ड्य राज्यक्षेत्र के पूर्वोत्तर कोण में था। हमें संगम साहित्य से चोलों के राजनीतिक इतिहास का कुछ आभास मिलता है। उनकी राजनीतिक सत्ता का केंद्र उरैयूर था जो सूती कपड़े के व्यापार के लिए मशहूर है। लगता है कि ईसा-पूर्व दूसरी सदी के मध्य में एलारा नामक चोल राजा ने श्रीलंका पर विजय की और लगभग 50 वर्षों तक वहाँ शासन किया। चोलों का अधिक सुनिश्चित इतिहास ईसा की दूसरी सदी में उनके प्रख्यात राजा कारैकाल से शुरू होता है। उसने पुहार की स्थापना की और कावेरी नदी के किनारे 160 किलोमीटर लंबा बाँध बनाया। इसका निर्माण 12,000 गुलामों से कराया गया, जिन्हें श्रीलंका से बन्दी बनाकर लाया गया था। पुहार की पहचान कावेरीपट्टनम से की गई है, जो चोलों की राजधानी थी। यह व्यापार और वाणिज्य का बहुत बड़ा केंद्र था और उत्खननों से पता चलता है कि उसका गोदीबाड़ा (डॉक) बहुत विशाल था। चोलों के वैभव का मुख्य स्रोत सूती कपड़े का व्यापार था। उनके पास कुशल नौसेना भी थी।

कारैकाल के उत्तराधिकारियों के समय चोल सत्ता का तेजी से ह्रास हुआ। उनकी राजधानी पर चढ़ाई कर उसे ध्वस्त कर दिया गया। चेरों और पाण्ड्यों ने चोलों के राज्य में घुसकर अपना-अपना राज्य फैलाया। चोलों की जो भी बची-खुची सत्ता रह गई उसे उत्तर से पल्लवों ने हमला कर समाप्त कर दिया। ईसा की चौथी से नौवीं सदी तक के दक्षिण भारतीय इतिहास में चोलों की भूमिका नगण्य रही।

चेर या केरल देश पाण्ड्य क्षेत्र के पश्चिम और उत्तर में था। उसमें समुद्र और पहाड़ों के बीच की एक सँकरी सी पट्टी पड़ती थी, जिस में आधुनिक केरल राज्य का और तमिलनाडु का अंश था। ईसा की आरंभिक सदियों में चेर क्षेत्र का महत्त्व उतना ही था जितना चोलों और पाण्ड्यों का। चोलों का यह महत्त्व रोमन लोगों के साथ व्यापार के कारण था। रोमनों ने अपने हित की रक्षा के लिए सेना की दो टुकड़ियाँ मुजिरीस

में स्थापित की थीं, जिसकी पहचान चेर क्षेत्र में कोडुंगल्लूर से की जाती है। कहा जाता है कि उन्होंने वहाँ ऑगस्टस का मंदिर भी बनवाया था।

चेरों का इतिहास चोलों और पाण्ड्यों के साथ निरंतर युद्ध का इतिहास है। यद्यपि चेरों ने चोल नरेश कारैकाल के पिता का वध कर दिया, लेकिन चेर नरेश को भी अपनी जान गँवानी पड़ी। बाद में दोनों राज्य कुछ समय के लिए मित्र बन गए और अंततः दोनों वैवाहिक संबंधों से भी जुड़ गए। आगे चलकर चेर राजा ने चोलों के विरुद्ध पाण्ड्य शासकों से गठजोड़ किया। लेकिन चोलों ने दोनों को हरा दिया। कहा जाता है कि चेर राजा ने पीठ में घाव लगने के कारण लज्जावश आत्महत्या कर ली।

चेर कवियों के अनुसार उनका सबसे बड़ा राजा सेंगुट्टुवन था, जिसे लाल या भला चेर भी कहा जाता था। उसने अपने राजधानी का संहार किया और अपने भाई को सुरक्षित रूप में राजसिंहासन पर बैठा दिया। कहा जाता है कि उसने उत्तर दिशा में चढ़ाई की और गंगा को पार किया। लेकिन यह सब अतिरंजित लगता है। ईसा की दूसरी सदी के बाद चेर शक्ति का ह्रास हुआ और उसके बाद ईसा की आठवीं सदी तक उनके शिलालेख के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

इन तीनों राज्यों के राजनीतिक इतिहास की मुख्य विलक्षणी उनके अपने और पड़ोसियों के साथ लगातार होते रहे युद्धों की कहानी में है।

युद्धों के कारण ने राज्य कमजोर तो अवश्य हुए परंतु अपने प्राकृतिक संसाधनों और विदेश व्यापार के कारण लाभ उठाते रहे। वे मसाले, विशेषकर मिर्च उपजाते थे, जिनकी पश्चिमी दुनिया में बहुत माँग थी। उनके बंदरगाहों से मोती प्राप्त होते थे और खानों से रत्न और इन दोनों चीजों का निर्यात पश्चिमी देशों में भारी मात्रा में होता था। इनके अलावा, वे मलमल और रेशम भी पैदा करते थे। कहा जाता

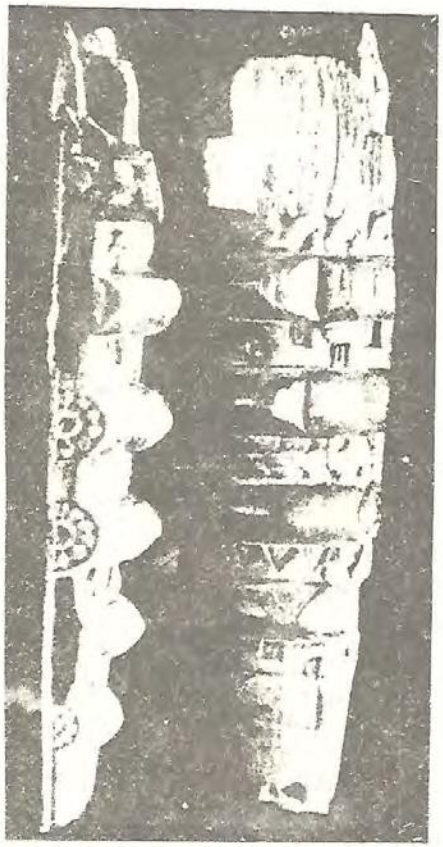

इसकी सतह की अरबिक शताब्दियों में लिखित हाथी-दांत पर पच्चीकारी के नमूने

है कि उनका सूती कपड़ा साँप के केंचुल जैसा पतला होता था। प्राचीन तमिल काव्यों में रेशम के ऊपर तरह-तरह की नक्काशीदार बुनाई का वर्णन किया गया है। उरैयूर अपने सूती कपड़े के व्यापार के लिए जाना जाता था। प्राचीन काल में तमिल लोग एक ओर यूनानी या मिस्र के हेलेनिस्टिक राज्य और अरब के साथ और दूसरी ओर मलय द्वीपसमूह के साथ और वहाँ से चीन के साथ व्यापार करते थे। व्यापार के फलस्वरूप चावल, अदरख, दालचीनी आदि कई वस्तुओं के नाम यूनानी भाषा में तमिल भाषा से लिए गए हैं। जब ईसा की पहली सदी के आसपास मिस्र रोम का प्रान्त हो गया और मानसून का पता लग गया, तब इस व्यापार को अपार बल मिला। इस तरह ईसा की आरम्भिक ढाई सदियों तक रोम के साथ दक्षिण के राज्यों का लाभप्रद व्यापार चलता रहा। इस व्यापार में ह्रास होने के साथ इन राज्यों का सितारा भी डूबता गया।

धन और तलवार

स्थानीय और सुदूर दोनों तरह का व्यापार राजकोष के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्रोत था। हमें मालूम है कि चुंगी अधिकारी पुहार में किस तरह काम करते थे। जो सौदागर माल लेकर एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते थे उनसे भी पारगमन शुल्क वसूल किया जाता था। सौदागरों की सुरक्षा के लिए तथा तस्करी रोकने के लिए सड़कों पर सैनिक लगातार चौकसी करते रहते थे।

युद्ध में हाथ लगे माल से भी राजकोष में वृद्धि होती थी। परंतु युद्ध और राज्यव्यवस्था का वास्तविक आधार कृषि से होने वाली नियमित आय ही था। खेती की उपज का कितना हिस्सा राजा का पावना होता था और कितना वसूला जाता था इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं है। प्रायद्वीप का सिरा और उससे लगे क्षेत्र बहुत ही उपजाऊ थे। खेतों में धान, रागी और ईख की उपज होती थी। कावेरी डेल्टा के बारे में कहावत है कि जितनी जमीन में एक हाथी लेट सकता है उतनी जमीन सात आदमियों का पेट भर सकती है। इन सभी के अतिरिक्त, तमिल प्रदेश में अनाज, फल, गोल मिर्च और हल्दी की उपज होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी उपजों में राजा का अंश होता था।

स्पष्टतः किसानों से वसूले गए करों से राज्य अपनी सेना रखता था। इस सेना में बैल जुते रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल सिपाही रहते थे। युद्ध में हाथी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। घोड़े समुद्र के रास्ते पांड्य राज्य में बाहर से मँगाए जाते थे। सामंत और राजकुमार या सेनापति हाथी पर चढ़ते थे, और सेनानी (कमांडर) रथ पर। पैदल सिपाही और घुड़सवार पाँव की रक्षा के लिए चमड़े की पनही (जूता) पहनते थे।

सामाजिक वर्गों का उदय

व्यापार से, युद्ध में हाथ लगे धन से और खेती की उपज से जो आय होती थी उससे राजा वेतन-भोगी सैनिकों के दलों को तो रख ही सकता था, साथ-साथ चारणों और पुरोहितों का भी संपोषण करता था, जिनमें मुख्यतः ब्राह्मण रहते थे। तमिल भूमि में ब्राह्मण का दर्शन सबसे पहले संगम युग में होता है। आदर्श राजा वह होता था जो ब्राह्मण को कभी सताए नहीं। बहुत-से ब्राह्मण कवि के रूप में नियोजित थे, और इस काम में वे राजा से उदारतापूर्ण पारितोषिक पाते थे। कहा जाता है कि राजा कारिकाल ने एक कवि को 16,00,000 स्वर्ण मुद्राओं से पुरस्कृत किया था, पर यह अतिश्योक्ति लगती है। स्वर्ण के अतिरिक्त, कवियों और भाटों को नकद, भूमि, रथ, घोड़े और हाथी भी दिए जाते थे। तमिल ब्राह्मण मदिरा पीते और मांस खाते थे। क्षत्रिय और वैश्य संगम साहित्य में नियमित वर्ण के रूप में दिखाई देते हैं। किंतु योद्धाओं का वर्ग राज्यव्यवस्था और समाज का महत्त्वपूर्ण अंग था। सेनाध्यक्षों को औपचारिक अनुष्ठान के साथ एनाडि की उपाधि दी जाती थी। चोल और पांड्य दोनों राज्यों में असैनिक और सैनिक दोनों तरह के अधिकारियों के पद पर वल्लाल या धनी किसान रखे जाते थे। शासक वर्ग को अरसर कहा जाता था और उस वर्ग के लोगों का वल्लालों से वैवाहिक संबंध होता था, जबकि वल्लाल चौथी जाति में आते थे। अधिकतर भूमि वल्लालों के हाथ में थी और उन्हीं से किसान वर्ग बना था। उनमें धनी और गरीब दोनों थे। धनी लोग खुद खेती नहीं करते थे, यह काम वे मज़दूरों से कराते थे। खेत-मज़दूर का काम सबसे निचले वर्ग के लोग (कडैसियर) करते थे, जिनकी हैसियत, करीब-करीब गुलामों जैसी थी।

कुछ कारीगर खेत मज़दूर वर्ग के भी थे। परियार लोग खेत-मज़दूर थे, लेकिन पशु की खाल या चर्म का काम करते थे और चटाई के रूप में उसका इस्तेमाल करते थे। कई अन्त्यज और वनवासी जनजातीय लोग भयानक दरिद्र और अकिंचन थे। संगम युग में हम सुस्पष्ट सामाजिक विषमताएँ पाते हैं। धनी लोग सुर्खी और ईंट के मकानों में रहते थे और गरीब लोग झुग्गियों और झोपड़ियों में। नगरों में धनी व्यापारी लोग अपने घर के ऊपरी तल्ले में रहते थे। लेकिन यह ज्ञात नहीं है कि सामाजिक विषमता बनाए रखने में धर्म और अनुष्ठान का हाथ था या नहीं। हम ब्राह्मण और क्षत्रिय को तो जाति के रूप में स्थापित होते पाते हैं, परंतु बाद में जिस तरह का प्रखर जाति-भेद देखाई देता है वह आरंभिक संगम युग में नहीं था।

ब्राह्मण संस्कृति का आरंभ

तमिल देश में ईसा सन् की आरंभिक सदियों में जो राज्य और समाज स्थापित हुए उनका विकास ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव से हुआ। लेकिन ब्राह्मण संस्कृति का यह प्रभाव तमिल भूमि के एक छोटे से भाग और समाज के ऊपरी वर्गों में ही सीमित था। राजा वैदिक यज्ञ करते थे। वेदानुयायी ब्राह्मण लोग शास्त्रार्थ करते थे। परंतु पहाड़ी प्रदेशों के लोगों के मुख्य स्थानीय देवता मुरुगन थे, जो आरंभिक मध्य काल में सुब्रामनियम या सुब्रह्मण्यम कहलाने लगे। विष्णु की पूजा का भी उल्लेख है, लेकिन यह परंपरा बाद में चली होगी। मृतकों को जीवनोपयोगी वस्तु अर्पित करने की महापाषाणिक प्रथा चलती रही। लोग मृतक को धान चढ़ाते थे। शवदाह की प्रथा आरंभ हुई, परंतु महापाषाण अवस्था से चली आ रही दफनाने की प्रथा समाप्त नहीं हुई।

तमिल भाषा और संगम साहित्य

ऐतिहासिक काल के आरंभ में तमिल लोगों के जीवन के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका आधार संगम साहित्य है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संगम तमिल कवियों का संघ या सम्मेलन था, जो संभवतः किसी सामंत या राजा के आश्रय में आयोजित होता था। परंतु यह ज्ञात नहीं है कि संगम की संख्या कितनी थी और कब-कब बैठकें होती थीं। ईसा की आठवीं सदी में लिखी गई संगम की तमिल टीकाओं में कहा गया है कि तीन संगम 9,990 वर्ष तक चलते रहे।

उनमें 8,598 कवि जुटे और 197 पाण्ड्य राजा उनके संपोषक थे। यह सब चरम सीमा का अतिरंजन मात्र है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मदुरै में **संगम** राजाश्रय में आयोजित होते थे।

इन सम्मेलनों द्वारा रचित संगम साहित्य, जो उपलब्ध है, लगभग 300 ई. और 600 ई. के बीच संकलित किया गया। परंतु इसके कुछ भाग बहुत पुराने, कम से कम ईसा-पूर्व दूसरी सदी के प्रतीत होते हैं। **संगम** मोटे तौर पर दो समूहों में बाँटा जा सकता है--आख्यानात्मक और उपदेशात्मक। आख्यानात्मक ग्रंथ **मेलकणक्कु** अर्थात् अठारह मुख्य ग्रंथ कहलाते हैं। इनमें अठारह मुख्य ग्रंथ हैं : आठ पद्य संकलन और दस ग्राम्य गीत। उपदेशात्मक ग्रंथ **कीलकणक्कु** अर्थात् अठारह लघु ग्रंथ कहलाते हैं।

संगम ग्रंथों में सामाजिक विकास की झलक

दोनों तरह के **संगम** ग्रंथों में समाज के विकास की कई अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। इनमें आख्यानात्मक ग्रंथों को वीरगाथा काव्य कहते हैं, जिनमें वीर पुरुषों की कीर्ति गाई गई है और निरंतर चल रहे युद्धों और पशुहरणों का बारंबार उल्लेख है। इससे पता चलता है कि तमिल लोग आरंभ में पशुचारक थे। आरंभिक महापाषाण जीवन का आभास **संगम** साहित्य में मिलता है। सबसे पुराने महापाषाणिक लोग मूलत: पशुचारक, शिकारी या मछुए मालूम होते हैं, हालाँकि वे चावल भी पैदा करते थे। प्रायद्वीपीय भारत में कई पुरास्थलों में हँसिया और फावड़े तो मिले हैं, लेकिन फाल का अभाव जैसा है। लोहे की अन्य वस्तुएँ हैं--कीलक (फन्नी), सपाट सेल्ट, बाणाग्र, लंबी तलवार और बर्छी, खूँटी और शूलाग्र, हार्सबिट (Horsebit) इत्यादि। ये हथियार मुख्यत: युद्ध और शिकार के हैं। इसका कुछ प्रतिरूप **संगम** साहित्य में मिलता है जिसमें निरंतर युद्धों और पशुहरणों की चर्चा है। **संगम** ग्रंथों से प्रकट होता है कि युद्ध की लूट से लोगों का अच्छा निर्वाह होता था। उनमें यह भी कहा गया है कि जब वीर मरता है तो वह पत्थर के टुकड़े के तुल्य हो जाता है। यह हमें पत्थर के टुकड़ों के उस घेरे की याद दिलाता है जो महापाषाणिक लोगों की कब्रों पर बनाए जाते थे। शायद बाद में इसी से वीरकल स्थापित करने की प्रथा चली जिसमें गाय या अन्य वस्तुओं के लिए लड़ते-लड़ते मरने वाले वीरों के सम्मान में वीरकल अर्थात् स्मारक स्वरूप वीर-प्रस्तर खड़ा किया जाता था। संभव है कि **संगम** साहित्य में वर्णित सामाजिक विकास की आरंभिक अवस्था आरंभिक महापाषाण अवस्था से संबद्ध हो।

हमें आख्यानात्मक **संगम** ग्रंथों से कुछ जानकारी राज्य के गठन के बारे में मिलती है, जिसमें सेना के नाम पर योद्धाओं के दल मात्र होते थे तथा कर-संग्रह प्रणाली और न्याय-व्यवस्था आरंभिक अवस्था में थी। इन ग्रंथों से हमें व्यापारियों, वणिकों, शिल्पियों और कृषकों के बारे में भी कुछ जानकारी मिलती हैं। इनमें कई नगरों का उल्लेख है, जैसे कांची, कोर्कई, मदुरै, पुहार और उरैयूर। उनमें पुहार या कावेरीपट्टनम सबसे प्रसिद्ध था। संगम में जिन नगरों और आर्थिक कार्यकलापों की चर्चा है उनकी पुष्टि यूनानी और रोमन विवरणों से तथा **संगम** स्थलों पर हुई खुदाई से भी होती है।

संगम ग्रंथों का बहुत कुछ अंश, जिसमें

उपदेशात्मक अंश भी शामिल है, संस्कृत और प्राकृत जानने वाले ब्राह्मण पण्डितों की रचना है। उपदेशात्मक ग्रंथों में ईसवी सन् की आरंभिक सदियों का प्रतिबिम्ब है। उनमें न केवल राजा और राजसभा के लिए, बल्कि विविध सामाजिक और व्यावसायिक वर्गों के लिए भी आचार-नियम बताए गए हैं। यह सब ईसा की चौथी सदी के बाद ही संभव हुआ होगा जब पल्लव राजाओं के आश्रय में बड़ी संख्या में ब्राह्मण आए। ग्रंथों में ग्रामदान का तथा राजाओं के सूर्यवंश और चंद्रवंश का भी उल्लेख है। यह प्रथा उत्तर भारत में ईसा की छठी सदी के आसपास शुरू हुई है।

संगम ग्रंथों के अतिरिक्त एक और ग्रंथ है जो **तोलकाप्पियम** कहलाता है। यह व्याकरण और अलंकारशास्त्र का ग्रंथ है। एक और महत्त्वपूर्ण तमिल ग्रंथ है **तिरुक्कुरल**, जिसमें दार्शनिक विचार और सूक्तियाँ हैं। इसके अलावा, तमिल के दो प्रसिद्ध महाकाव्य हैं जिनके नाम हैं **सिलप्पदिकारम** और **मणिमेकलै**। इन दोनों की रचना ईसा की छठी सदी के आसपास हुई। इनमें पहला महाकाव्य तमिल साहित्य का उज्जवलतम रत्न माना जाता है। इसमें एक प्रेम-कथा वर्णित है। कोवलन नामक एक अमीर अपनी कुलीन धर्मपत्नी कन्नगी की उपेक्षा करके कावेरीपट्टनम की माधवी नामक वेश्या से प्रेम करता है। सिलप्पदिकारम् का रचियता संभवत: जैन था और वह तमिल देश के सभी राज्यों को कथा-स्थल बनाना चाहता था। दूसरा महाकाव्य **मणिमेकलै** मदुरा के एक बनिया का लिखा है जो अनाज का व्यापार करता था। इसमें कोवलन और माधवी के संगम से उत्पन्न कन्या के साहसिक जीवन का वर्णन है; लेकिन यह महाकाव्य धार्मिक अधिक है, साहित्यिक कम। दोनों महाकाव्यों की प्रस्तावना में कहा गया है कि दोनों के लेखक ईसा की दूसरी सदी में राज करने वाले चेर राजा सेंगुट्टुवन के मित्र और समकालीन थे। ये दोनों महाकाव्य उतने प्राचीन तो नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनमें ईसा की छठी सदी तक के तमिलों के सामाजिक और आर्थिक जीवन का आभास मिलता है।

इसमें संदेह नहीं है कि तमिल लोग ईसवी सन् के आरंभ के पहले से ही लिखना जानते थे। ब्राह्मी लिपि में लिखे 75 से भी अधिक छोटे-छोटे अभिलेख प्राकृतिक गुफाओं में, विशेषकर मदुरै प्रदेश में पाए गए हैं। इन में प्राकृत शब्दों से मिश्रित तमिल भाषा का प्राचीनतम स्वरूप दिखाई देता है। ये ईसा पूर्व दूसरी-पहली सदियों के हैं, जब जैन और बौद्ध धर्मप्रचारकों का इस इलाके में प्रवेश हुआ। कई स्थानों में हाल में हुए उत्खननों में अभिलिखित मृद्भांडों के टुकड़े पाए गए हैं। इनसे पता चलता है कि ईसा सन् के आरंभ में तमिल भाषा कैसी थी। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि संगम साहित्य के प्रचुर अंश ईसा सन् की आरंभिक सदियों में लिखे गए, हालाँकि उन का अंतिम संकलन 600 ई. के आसपास हुआ।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :

   तमिलकम् या तमिषकम, वल्लाल, एनाडि, अरसर, कडैसियर, परियार, वीरकल

2. दक्षिण भारत के इतिहास में 'महापाषाण काल' से क्या अभिप्रेत है? इस काल के लोगों की भौतिक संस्कृति का वर्णन करें।
3. संगम साहित्य किसे कहते हैं ? इस साहित्य में चित्रित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का वर्णन करें।
4. ईसा की आरम्भिक सदियों में दक्षिण भारत में क्या-क्या परिवर्तन हुए, और उन परिवर्तनों के क्या-क्या कारण थे?
5. ईसा की तीसरी सदी तक पांड्यों, चेरों और चोलों के इतिहास का वर्णन करें।
6. पांड्य, चेर और चोल, राज्यों के अन्तर्गत वाणिज्य-केन्द्रों का वर्णन करें।
7. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर चोल, चेर और पांड्य राज्य-क्षेत्र दिखाएँ। पाठ्यपुस्तक में आये स्थानों के नाम उस मानचित्र पर अंकित करें।
8. ईसा की आरम्भिक सदियों में रचित तमिल ग्रंथ की सूची बनाएँ। समूह परियोजना के अंग के रूप में इन ग्रंथों के कुछ उदाहरणों का संग्रह करें।

अध्याय 19

मौर्योत्तर युग में शिल्प, व्यापार और नगर

शिल्प

शकों, कुषाणों और सातवाहनों का (200 ई. पू. –300 ई.) और प्रथम तमिल राज्यों का युग प्राचीन भारत के शिल्प और वाणिज्य के इतिहास में चरम उत्कर्ष का काल था। इस काल में कलाओं और शिल्पों का विलक्षण विकास हुआ। इस काल के ग्रंथों में हम शिल्पियों के जितने प्रकार पाते हैं उतने पहले के लेखों में नहीं पाते। मौर्यपूर्व काल के **दीघनिकाय** में लगभग चौबीस प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख है तो इसी काल के **महावस्तु** में राजगीर में रहने वाले 36 प्रकार के व्यवसायियों का उल्लेख है, और फिर भी सूची अधूरी है। **मिलिन्दपञ्हो** या मिलिन्दप्रश्न में तो 75 व्यवसाय गिनाए गए हैं, जिनमें 60 विविध प्रकार के शिल्पों से संबद्ध हैं। साहित्यिक स्रोतों में तो शिल्पियों को अधिकतर नगरों से जोड़ा गया है, किंतु कुछ उत्खननों से प्रकट होता है कि वे गाँवों में भी बसते थे। तेलंगाना स्थित करीमनगर के एक गाँव में बढ़ई, लोहार, सुनार, कुम्हार आदि अलग-अलग टोलों में रहते थे, तथा कृषि-मज़दूर तथा अन्य मज़दूर एक दूसरे छोर पर बसते थे।

सोना, चाँदी, सीसा, टिन, ताँबा, पीतल लोहा और रत्न के काम वाले आठ शिल्प थे पीतल, जस्ते, सुरमा और लाल संखिया के प्रभेदों का उल्लेख है। इससे खान और धातु कौशल में भारी प्रगति और विशेषीकरण का पता चलता है। लोहा बनाने के तकनीकी ज्ञान में भारी प्रगति हुई। अनेक उत्खनन-स्थलों पर कुषाण और सातवाहन कालीन स्तरों में लौहशिल्प की वस्तुएँ अधिकाधिक संख्या में मिली हैं। परन्तु इस विषय में आन्ध्र प्रदेश का तेलंगाना सब से समृद्ध प्रतीत होता है। इस क्षेत्र के करीमनगर और नालगोंडा ज़िलों में हथियारों के अलावा तराजू की डंडी, मूठवाले फावड़े और कुल्हाड़िया हँसिया, फाल, उस्तरा और करछुल आदि लोहे की वस्तुएँ मिली हैं। छुरी-काँटे सहित भारतीय लोहे और इस्पात का निर्यात अबीसीनियाई बन्दरगाहों को किया जाता था और पश्चिम एशिया में उनकी भारी प्रतिष्ठा थी।

कपड़ा बनाने, रेशम बुनने और अस्त्रों एवं विलास की वस्तुओं के निर्माण में भी प्रगति हुई। मथुरा शाटक नामक विशेष प्रकार के वस्त्र के निर्माण का बड़ा केंद्र हो गई थी। दक्षिण भारत के

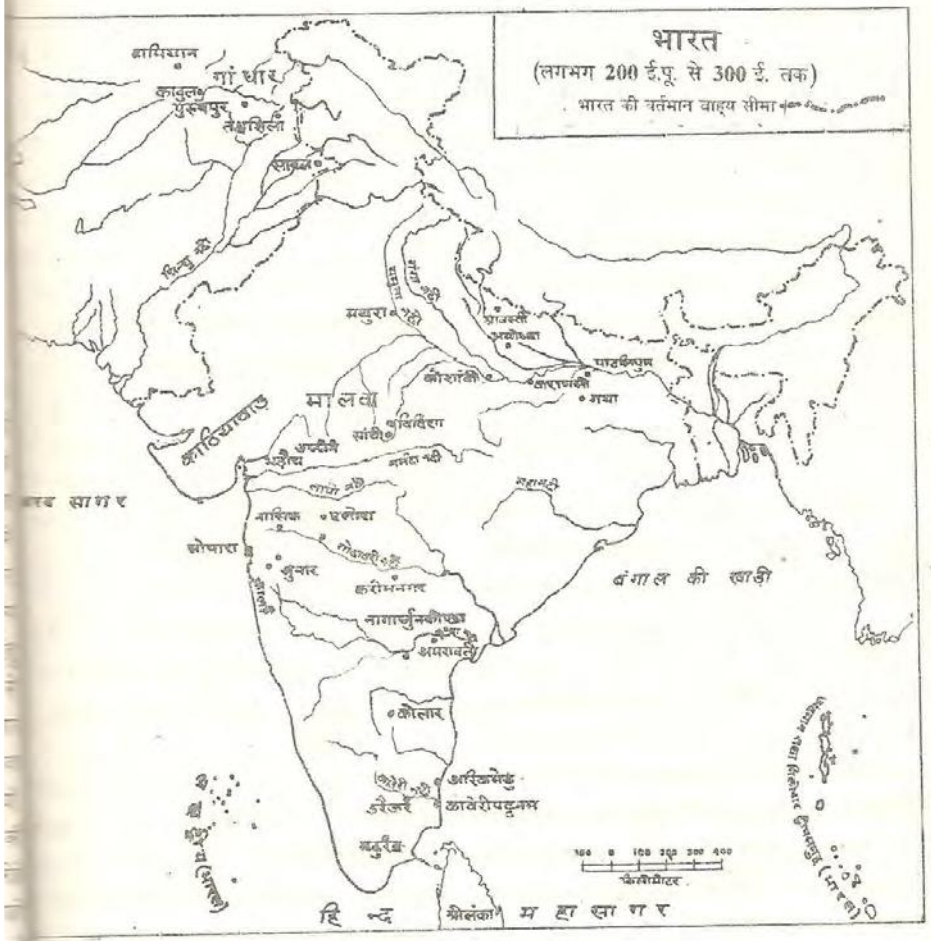

के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
त सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

भारत — लगभग 200 ई. पू. से 300 ई.

कई नगरों में रंगरेज़ी उन्नत शिल्प थी। तमिलनाडु में तिरुचिरापल्ली नगर के उपान्तवर्ती उरैयूर में ईंटों का बना रंगाई का हौज़ मिला है। अरिकमेडु में भी इस तरह के हौज़ मिले हैं। ये हौज़ ईसा की पहली-तीसरी सदियों के हैं। इन क्षेत्रों में करघे पर कपड़ा बुनने का व्यवसाय बहुत प्रचलित था। कोल्हू के प्रचलन से तेल के उत्पादन में वृद्धि हुई। इस काल के अभिलेख बतलाते हैं कि बुनकरों, सुनारों, रंगरेज़ों, धातुशिल्पियों, दन्तशिल्पियों, जौहरियों, मूर्तिकारों, मछुआरों, लोहारों, गन्धियों ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए गुहाएँ बनवाईं तथा उन्हें स्तम्भ, पट्ट, कुंड आदि का दान दिया। इन सब से प्रकट होता है कि दस्तकारों के धन्धों में खूब बढ़त हुई।

विलास की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले शिल्पों में हाथीदाँत का काम, काँच का काम और मणि-माणिक्य बनाने का काम उल्लेखनीय है। सीप या शंख शिल्प भी उन्नत स्थिति में था। कुषाण स्थलों में खुदाई के क्रम में बहुत-सी शिल्प-वस्तुएँ निकली हैं। भारतीय दन्तशिल्प की वस्तुएँ अफगानिस्तान और रोम में भी मिली हैं। इनका संबंध दकन में सातवाहन स्थलों के उत्खनन में पाई गई दन्तशिल्प की वस्तुओं से जोड़ा जाता है। रोम की कांच की वस्तुएँ तक्षशिला और अफगानिस्तान में मिलती हैं, लेकिन भारत ने कांच ढालने की जानकारी ईसवी सन् के आरंभ में आकर प्राप्त की और उसे चोटी पर पहुँचाया। इसी तरह मौर्योत्तर स्तरों में रत्नतुल्य पत्थरों के मनके या मणियाँ बड़ी संख्या में मिलती हैं। इन्हीं स्तरों में शंख के बने मनके और कंगन भी पाए गए हैं। सिक्कों की ढलाई महत्त्वपूर्ण शिल्प थी और यह काल सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे, सीसे (लेड) और पोटीन के तरह-तरह के सिक्के बनाने के लिए मशहूर है। शिल्पी लोग नकली रोमन सिक्के भी बना लेते थे। सिक्का ढालने के कई तरह के साँचे उत्तर भारत और दकन में पाए गए थे। सातवाहन स्तर के एक साँचे से पता लगता है कि इससे छह-छह सिक्के एक ही बार में निकल आते थे। इन शहरी हस्तशिल्पों के साथ-साथ पकी मिट्टी (टेराकोटा) की सुन्दर-सुन्दर मूर्तिकाएँ भी बनती थी जो विशाल मात्रा में पाई गई हैं। ये लगभग सभी कुषाण और सातवाहन स्थलों में पाए गए हैं, किंतु इस प्रसंग में नालगोंडा ज़िले के येल्लेश्वरम का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है जहाँ मूर्तिकाएँ और उनके निर्माण के साँचे सबसे अधिक संख्या में मिले हैं। मूर्तिकाएँ और उनके साँचे हैदराबाद से लगभग 65 किलोमीटर की दूरी पर कोंडापुर में भी पाए गए हैं। मूर्तिकाएँ अधिकतर नगर निवासी उच्च वर्गों के लिए बनती थीं। यह गौर करने की बात है कि गुप्त काल और खासकर गुप्तोत्तर काल में नगरों के पतन के साथ मूर्तिकाओं की संख्या बहुत घट गई।

शिल्पी लोग आपस में संगठित होते थे, और उनके संगठन का नाम **श्रेणी** था। ईसा की दूसरी सदी में महाराष्ट्र में बौद्ध धर्मावलम्बी गृहस्थ उपासकों ने कुम्हारों, तेलियों और बुनकरों की श्रेणियों के पास धन जमा किया ताकि उससे बौद्ध भिक्षुओं को वस्त्र और अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाएँ। इसी सदी में प्रतिदिन एक सौ ब्राह्मणों को भोजन कराने के लिए एक अधिपति ने आटा पीसने वालों की एक श्रेणी के पास अपनी मासिक आय से बचाकर धन जमा किया। विभिन्न ग्रंथों के

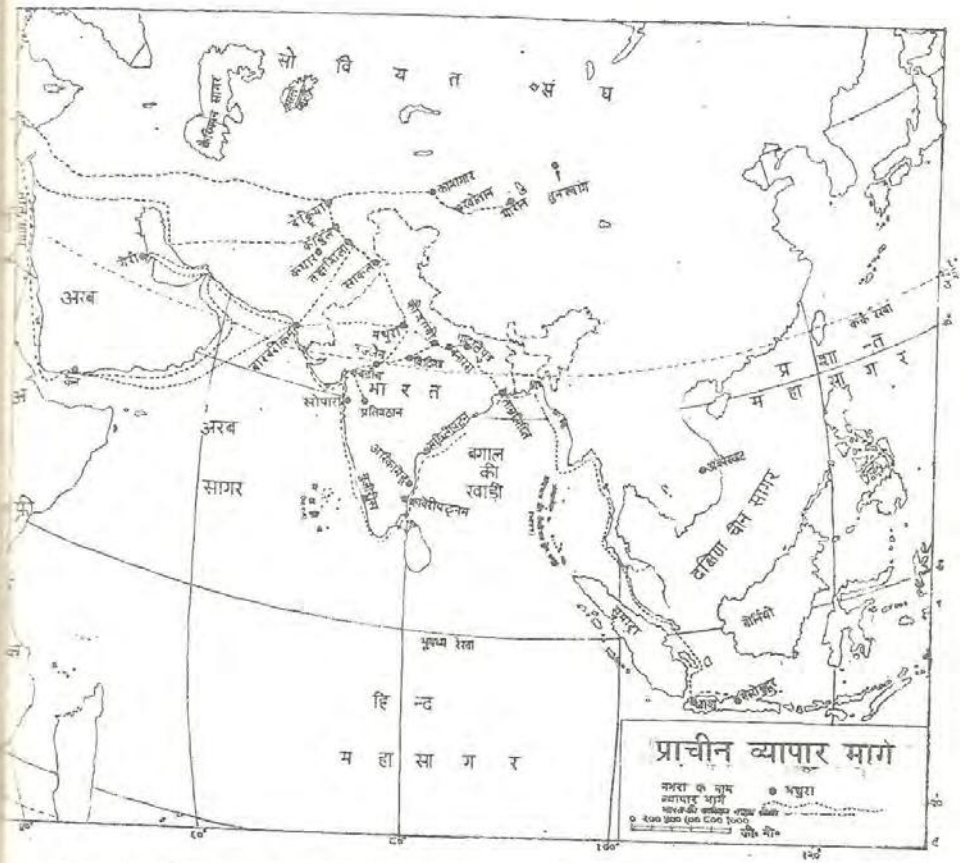

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

प्राचीन व्यापार

आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल के शिल्पियों की कम से कम चौबीस-पच्चीस श्रेणियाँ प्रचलित थीं। अभिलेखों से ज्ञात अधिकतर शिल्पी मथुरा क्षेत्र में तथा पश्चिमी दकन में जमे थे, जो पश्चिमी समुद्र तट की ओर जाने वाले व्यापार-मार्ग पर पड़ते थे।

इस काल की सबसे बड़ी आर्थिक प्रक्रिया थी भारत और पूर्वी रोमन साम्राज्य के बीच फूलता-फलता व्यापार। आरंभ में यह व्यापार अधिकतर स्थल-मार्ग से होता था। ईसा-पूर्व पहली सदी से शकों, पार्थियनों और कुषाणों की गतिविधियों के कारण स्थल-मार्ग से व्यापार करना संकटापन्न हो गया। यद्यपि ईरान के पार्थियन लोग भारत से लोहा और इस्पात का निर्यात करते थे, लेकिन वे ईरान के और भी पश्चिमी इलाकों के साथ भारत के व्यापार में बाधा डालते थे। परंतु ईसा की पहली सदी से व्यापार मुख्यत: समुद्री मार्ग से होने लगा। लगता है ईसवी सन् के आरंभ के आसपास मानसून के रहस्य का पता लग गया, फलस्वरूप अब नाविक अरब सागर के पूर्वी तटों से उसके पश्चिमी तटों तक का सफर काफ़ी कम समय में कर सकते थे। वे भारत के विभिन्न बंदरगाहों पर आसानी से पहुँच सकते थे, जैसे पश्चिमी समुद्र तट पर भड़ौच और सोपारा, तथा पूर्वी तट पर अरिकमेडु और ताम्रलिप्ति। इन सभी बंदरगाहों में भड़ौच सबसे महत्त्वपूर्ण और उन्नतिशील था। वहाँ सातवाहन राज्य के उत्पादन तो पहुँचते ही थे, शक और कुषाण राज्य की वस्तुएँ भी पहुंचती थीं। शक और कुषाण लोग भी पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत से पश्चिमी समुद्र तट तक दो मार्गों से जाते थे। दोनों मार्ग तक्षशिला में मिलते थे और मध्य एशिया से गुज़रने वाले रेशम मार्ग से भी जुड़े थे। पहला मार्ग उत्तर से सीधे दक्षिण की ओर जाता था, तक्षशिला को निचली सिंधु घाटी से जोड़ता था और वहाँ से भड़ौच चला जाता था। दूसरा मार्ग, जो **उत्तरापथ** नाम से विदित है, अधिक चालू था। यह तक्षशिला से चलकर आधुनिक पंजाब से होते हुए यमुना के पश्चिम तट पहुँचता और यमुना का अनुसरण करते हुए दक्षिण की ओर मथुरा पहुँचता था। फिर मथुरा से मालवा में उज्जैन पहुँचकर वहाँ से पश्चिमी समुद्र तट पर भड़ौच जाता था। उज्जैन में आकर एक और मार्ग उससे मिलता था, जो इलाहाबाद के समीप कौशाम्बी से निकलता था।

विदेश व्यापार

भारत और रोम के बीच व्यापार तो भारी मात्रा में चला, लेकिन इस व्यापार में साधारण लोगों के रोज़मर्रे के काम की चीजें शामिल नहीं थीं। बाज़ार में विलास की वस्तुएँ खूब चलती थीं, जो कभी-कभी अभिजातवर्गीय आवश्यकताएँ मानी जाती हैं। रोमवालों ने सबसे पहले देश के सुदूर दक्षिणी हिस्से से व्यापार आरंभ किया; इसीलिए उनके सबसे पहले के सिक्के तमिल राज्यों में मिले हैं, जो सातवाहन के राज्यक्षेत्र के बाहर हैं। रोमवाले मुख्यत: मसालों का आयात करते थे जिनके लिए दक्षिण भारत मशहूर था। वे मध्य और दक्षिण भारत से मलमल, मोती, रत्न और माणिक्य का आयात करते थे। लोहे की वस्तुएँ, खास कर बर्तन, रोमन साम्राज्य में भेजी जाने वाली महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ थीं। मोती, हाथीदाँत, रत्न और पशु की गिनती विलास की वस्तुओं में थी। किंतु पौधे और उसके उत्पाद, धर्म, अंतिम संस्कार, पाक और औषध के काम में आते थे। पाकशाला के बर्तन भी आयात में शामिल रहे होंगे। छुरी-काँटे

का प्रयोग उच्चवर्ग के लोगों में शायद महत्त्वपूर्ण स्थान रखता होगा।

भारत से सीधे भेजी जाने वाली वस्तुओं के अलावा कुछ वस्तुएँ चीन और मध्य एशिया से भारत आतीं और तब रोमन साम्राज्य के पूर्वी भागों में भेजी जाती थीं। रेशम चीन से सीधे रोमन साम्राज्य को अफगानिस्तान और ईरान से गुज़रने वाले रेशम-मार्ग से भेजा जाता था। लेकिन बाद में जब ईरान और उसके पड़ोस के क्षेत्रों में पार्थियनों का शासन हो गया तब इसमें कठिनाई पैदा हुई। अत: रेशम के व्यापार का मार्ग कुछ बदल गया और वह इस उपमहादेश के पश्चिमोत्तर भाग से होते हुए पश्चिमी भारत के बन्दरगाहों पर आने लगा। कभी-कभी चीन से रेशम भारत के पूर्वी समुद्र तट होते हुए भी भारत आता था, तब वह यहाँ से पश्चिमी देशों को जाता था। इस प्रकार भारत और रोमन साम्राज्य के बीच रेशम का पारगमन व्यापार काफी चला।

बदले में, रोम के लोग भारत को शराब, शराब के दोहत्थे कलश और मिट्टी के अन्यान्य प्रकार के पात्र भेजते थे। ये वस्तुएँ पश्चिमी बंगाल के तामलुक, पांडिचेरी के निकट के अरिकमेडु और दक्षिण भारत के कई अन्य स्थानों में खुदाई में मिली हैं। कभी-कभी तो वे वस्तुएँ गुवाहाटी तक पहुँच जातीं। लगता है, सातवाहन अपना सिक्का ढालने में जिस सीसे का इस्तेमाल करते थे वह रोम से लपेटी हुई पट्टियों की शक्ल में मँगाया जाता था। उत्तर भारत में रोम से आई वस्तुएँ बहुत कम ही मिली हैं, परंतु इसमें संदेह नहीं कि कुषाणों के समय में इस उपमहादेश के पश्चिमोत्तर भाग में ईसा की दूसरी सदी में रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग के साथ व्यापार चलता था। जब 115 ई. में मेसोपोटामिया को जीतकर रोम का प्रांत बना लिया गया तब इस व्यापार को और सहूलियत मिली। रोम के सम्राट ट्रॉजन ने न केवल मस्कट पर विजय प्राप्त की, बल्कि फ़ारस की खाड़ी का पता भी लगाया। व्यापार और विजय के फलस्वरूप रोमन वस्तुएँ अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर भारत में पहुँचीं। काबुल से 72 किलोमीटर उत्तर बेग्राम में इटली, मिस्र और सीरिया में बने कांच के बड़े-बड़े मर्तबान मिले हैं। वहाँ कटोरे, काँसे का गोड़ा, इस्पात का पैमाना, पश्चिमी बाट, काँसे की छोटी-छोटी यूनानी-रोमन मूर्तियाँ, सुराहियाँ और सिलखड़ी के अन्यान्य पात्र भी मिले हैं। तक्षशिला में, जिसकी पहचान पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के आधुनिक सिरकप से की गई है, यूनानी-रोमन कांस्यमूर्तियों के उत्कृष्ट नमूने मिले हैं। हमें चाँदी के गहने, कुछ कांस्य पात्र, एक कलश और रोमन सम्राट् टाइबेरिअस के कुछ सिक्के भी मिले हैं। परंतु अरेटाइन मृद्भांड जो दक्षिण भारत में आम तौर पर पाए जाते हैं, वे मध्य भारत या पश्चिमी भारत या अफगानिस्तान में नहीं मिलते। स्पष्ट है कि इन स्थानों में वे लोकप्रिय पश्चिमी वस्तुएँ नहीं पहुँचीं, जो अधिकतर विन्ध्य के दक्षिण में सातवाहन राज्य में और उससे भी दक्षिण में पाई गई हैं। इस प्रकार सातवाहनों और कुषाणों के राज्यों को रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार से लाभ पहुँचा, फिर भी लगता है कि अधिक लाभ सातवाहनों को हुआ।

रोम से भारत आई वस्तुओं में सबसे महत्त्व के हैं– ढेर-सारे रोमन सिक्के, जो प्राय: सोने और चाँदी के हैं। समूचे उपमहादेश में इन सिक्कों के लगभग 150 ज़खीरे प्रकाश में आए हैं और इनमें

अधिकतर विन्ध्य के दक्षिण में पाए गए हैं। भारत में पाए गए रोमन सोने-चाँदी के सिक्कों की संख्या 6000 से अधिक नहीं है, पर यह कहना कठिन है कि केवल इतने ही सिक्के रोम से आए। रोमन लेखक प्लिनी ने 77 ई. में लेटिन में लिखे नेचुरल हिस्ट्री नामक अपने विवरण में अफसोस प्रकट किया है कि भारत के साथ व्यापार करके रोम अपना स्वर्णभंडार लुटाता जा रहा है। इस कथन में अतिरंजन हो सकता है। लेकिन उससे भी पहले 22 ई. में शिकायत का वर्णन मिलता है कि रोम पूरब से गोल मिर्च मँगाने पर अत्याधिक खर्च कर रहा है। पश्चिम के लोगों को भारतीय गोल मिर्च इतनी प्रिय थी कि संस्कृत में गोल मिर्च का नाम ही पड़ गया **यवनप्रिय**। भारत में बने छुरी-काँटे के इस्तेमाल के खिलाफ़ भी भारी प्रतिक्रिया हुई, जिन्हें रोम के अमीर ऊँची कीमतों में खरीदते थे। उस समय लोगों को व्यापार-संतुलन की अवधारणा भले ही न रही हो, परंतु भारतीय प्रायद्वीप में पाए गए रोमन सिक्कों और पात्रों की बहुतायत से इसमें संदेह नहीं रह जाता है कि रोम के साथ व्यापार में भारत का पलड़ा भारी था। रोम की मुद्रा में होने वाली कमी का अनुभव इतना तेज़ हुआ कि अन्ततोगत्वा रोम को भारत के साथ गोल मिर्च और इस्पात के माल का व्यापार बन्द करने के लिए कदम उठाना पड़ा।

लगता है कि भारत-रोम व्यापार और जहाज़रानी में मुख्य भूमिका रोमनों ने अदा की। यद्यपि रोमन व्यापारी दक्षिण भारत में बस गए, पर इस बात का बहुत कम प्रमाण मिलता है कि भारत के लोग रोमन साम्राज्य में बसे। मिट्टी के बरतन के टुकड़ों पर तमिल भाषा में लिखित अभिरेखण मिले हैं जिससे पता चलता है कि कुछ तमिल सौदागर रोमन काल में मिस्र में बसते थे।

मुद्रा अर्थव्यवस्था

रोम से भारत आए चाँदी और सोने के सिक्कों का उपयोग लोग किस काम में करते थे ? रोमन स्वर्णमुद्राएँ स्वभावत: अपनी धातु के लिए मूल्यवान होती थीं, पर साथ ही उनका प्रचलन बड़े-बड़े लेन-देन में भी रहा होगा। उत्तर में हिन्द-यूनानी शासकों ने कुछेक स्वर्णमुद्राएँ जारी कीं। लेकिन कुषाणों ने काफी संख्या में स्वर्णमुद्राएँ चलाईं। यह समझना गलत होगा कि सभी कुषाण स्वर्णमुद्राएँ रोमन सोने से ढाली गईं, और भारत के पास अपना सोना नहीं था। पाँचवीं सदी ई. पू. में ही भारत ने ईरानी साम्राज्य को नज़राना के तौर पर 320 टैलेंट सोना दिया था। यह सोना सिन्ध की स्वर्णखान से निकाला गया होगा। कुषाण संभवत: मध्य एशिया से सोना प्राप्त करते थे। यह भी संभव है कि यह सोना या तो कर्नाटक से या बिहार के ढालभूम, जो बाद में उनके कब्ज़े में आ गई, की स्वर्ण खानों से भी मिला होगा। रोम से संपर्क के फलस्वरूप कुषाणों ने दीनार सदृश स्वर्णमुद्राएँ जारी कीं, जो गुप्तों के शासन काल में खूब प्रचलित हुई। परंतु स्वर्णमुद्राओं का प्रयोग रोज़मर्रा के लेन-देन में नहीं होता होगा, ये लेन-देन सीसे, पोटीन या ताँबे के सिक्कों से चलते थे। आन्ध्र में सीसा और ताँबा दोनों की खानें पाई गई हैं, और कर्नाटक में सोने की। आन्ध्रों ने दकन में सीसे और पोटीन के सिक्के बड़ी संख्या में जारी किए। प्रायद्वीप के सिरे पर कुछ आहत मुद्राएँ और आरंभिक संगम-युग की मुद्राएँ पाई गई हैं। कुषाणों ने उत्तर और

संख्या में जारी किए। ताँबे और काँसे के सिक्के भारी मात्रा में कई देशी राजवंशों ने भी जारी किए, जैसे मध्य भारत में राज करने वाले नाग, पूर्वी राजस्थान पर तथा हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश के संलग्न क्षेत्रों पर शासन करने वाले यौधेय, तथा कौशांबी, मथुरा, अवन्ति और अहिच्छत्रा (उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में स्थित) में राज करने वाले मित्र। शायद इस काल में

तेर (ज़िला ओस्मानाबाद) में मिली मृण्मूर्ति

मुद्रात्मक अर्थव्यवस्था नगरों और उपनगरों के जन-सामान्य के जीवन में जितनी गहराई तक प्रवेश कर गई वैसा अन्य किसी भी पहले काल में नहीं हुआ। यह परिवर्तन कला और शिल्प के विकास तथा रोमन साम्राज्य के साथ पुरज़ोर व्यापार के अनुरूप ही है।

शहरी बस्तियाँ

शिल्प और वाणिज्य में बढ़त और मुद्रा के अधिकाधिक प्रयोग के परिणामस्वरूप इस काल में अनेकानेक नगरों की श्रीवृद्धि हुई। वैशाली,

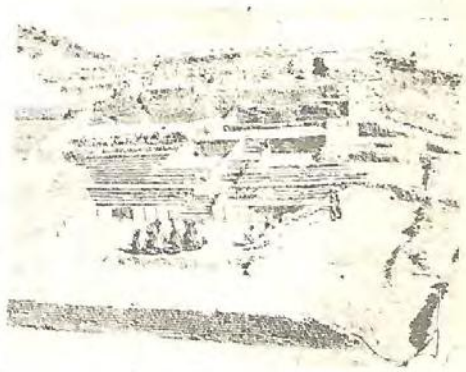

नागार्जुनकोंड में स्टेडियम के अवशेष

पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशांबी, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ (नई दिल्ली का पुराना किला) इन सभी उत्तर भारतीय नगरों के उल्लेख साहित्यिक ग्रंथों में मिलते हैं और कुछ नगरों का वर्णन चीनी यात्रियों ने भी किया है। अधिकतर ईसा की पहली और दूसरी सदियों में कुषाण काल में फूले-फले, ऐसा उत्खननों के आधार पर कहा जा सकता है, क्योंकि खुदाई से कुषाण युग की उत्कृष्टतर संरचनाएँ प्रकट हुई हैं। इनसे यह भी प्रकट होता है कि बिहार के कई पुरास्थल, जैसे चिरॉंद, सोनपुर और बक्सर आदि तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई पुरास्थल, सैराडीह और मासोन कुषाण काल में समृद्ध थे। इसी तरह उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के निकट शृंगवेरपुर, सोहगौरा, भीटा और कौशांबी, तथा उसके पश्चिमी ज़िलों में अतरंजीखेड़ा और कई अन्य स्थल कुषाण काल में उन्नति पर थे। हम शृंगवेरपुर और चिरॉंद दोनों स्थलों पर बहुत-सी कुषाण कालीन ईंट- संरचनाएँ पाते हैं। मथुरा में सोंख के उत्खनन में कुषाण काल के सात स्तर दिखाई देते हैं, जबकि गुप्त युग का

के सात स्तर दिखाई देते हैं, जबकि गुप्त युग का केवल एक स्तर है। फिर, पंजाब के अन्तर्गत जालन्धर, लुधियाना और रोपड़ में, कई स्थलों पर कुषाण काल की अच्छी संरचनाएँ पाते हैं। हरियाणा में खोदे गये पुरास्थलों का भी यही हाल है। कई जगह तो कुषाणकालीन संरचनाओं से निकली पुरानी ईंटों से गुप्त काल में बनी भोंडे ढंग की इमारतें भी मिली हैं। कुल मिलाकर कुषाण काल के बताए गए भौतिक अवशेषों से प्रतीत होता है कि नगरीकरण उत्कर्ष की चोटी पर पहुँच गया था। मालवा और पश्चिमी भारत के शक राज्य के बारे में भी यह बात लागू होती है। सबसे महत्त्वपूर्ण नगर उज्जयिनी था, क्योंकि यहाँ दो बड़े मार्ग मिलते थे एक कौशाम्बी से आने वाला और दूसरा मथुरा से। इसका महत्त्व इसलिए भी था कि यहाँ से गोमेद (अगेट) और इन्द्रगोप (कार्नेलियन) पत्थरों का निर्यात होता था। उत्खननों से ज्ञात होता है कि यहाँ 200 ई. पू. के बाद मणि या मनके बनाने के लिए गोमेद, इन्द्रगोप और सूर्यकान्त (जैस्पर) रत्नों का काम बड़े पैमाने पर होता था। यह संभव था, क्योंकि शिप्रा नदी की तलशिला के फाँसों से ये पत्थर प्रचुर मात्रा में प्राप्त किए जा सकते थे।

शक और कुषाण काल के समान ही, सातवाहन राज्य में नगर उन्नति करते रहे। सातवाहन काल में पश्चिमी और दक्षिणी भारत में तगर (तेर), पैठन, धान्यकटक, अमरावती, नागार्जुनकोंड, भड़ौच, सोपारा, अरिकमेडु और कावेरीपट्टनम समृद्ध नगर थे। तेलंगाना में कई सातवाहन बस्तियाँ खुदाई में निकली हैं। इनमें से कुछ तो आन्ध्रों के दीवार-घिरे उन तीस नगरों में से होंगे जिनका उल्लेख प्लिनी ने किया है। उनका उदय आन्ध्र के तटवर्ती शहरों से काफ़ी पहले, परंतु पश्चिमी महाराष्ट्र के शहरों से कुछ ही समय बाद हुआ होगा। परंतु महाराष्ट्र, आन्ध्र और तमिलनाडु में नगरों का ह्रास सामान्यतः ईसा की तीसरी सदी के मध्य से या उसके बाद से शुरू हो जाता है।

कुषाण और सातवाहन साम्राज्यों में नगरों की उन्नति इसलिए हुई कि रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार बहुत अच्छा चल रहा था। भारत रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग और मध्य एशिया के साथ भी व्यापार करता था। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में नगर इसलिए फूलते-फलते रहे कि कुषाण शक्ति का केंद्र पश्चिमोत्तर भारत था। भारत में अधिकतर कुषाण नगर मथुरा से तक्षशिला जाने वाले पश्चिमोत्तर मार्ग या उत्तरापथ पर पड़ते थे। कुषाण साम्राज्य में मार्गों पर सुरक्षा का प्रबंध था। ईसा की तीसरी सदी में उसका अंत होने से इन नगरों को गहरा धक्का लगा। शायद यही बात दकन में भी हुई। तीसरी सदी से जब रोमन साम्राज्य ने भारत के साथ व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया, नगर अपने शिल्पियों और वणिकों का भरण-पोषण करने में असमर्थ हो गए। दकन में हुई खुदाइयों से भी सातवाहन काल के बाद से नगर बस्तियों का ह्रास होना लक्षित होता है।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें -
   उत्तरापथ, यवनप्रिय, शाटक, श्रेणी।
2. बताएँ कि मौर्योत्तर काल में शिल्प और वाणिज्य के विकास से नगर किस तरह समृद्ध हुए।
3. प्राचीन भारत में शिल्प और वाणिज्य के विकास में लगभग 200 ई. पू. से 300 ई. तक की अवधि चरमोत्कर्ष की थी – इस मत की समीक्षा करें।
4. लगभग 200 ई. पू. से 300 ई. तक की अवधि में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास में भारत का योगदान क्या है ?
5. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर वे मुख्य व्यापार मार्ग दिखाएँ जो भारत को महत्त्वपूर्ण व्यापार-केंद्रों के साथ जोड़ने वाले थे।
6. भारत के बाहयरैखिक मानचित्र पर लगभग 200 ई. पू. से 300 ई. तक की अवधि की प्रमुख नगर-बस्तियाँ दिखाएँ।
7. रेशम मार्ग किसे कहते हैं ? यूरेशिया के बाहयरैखिक मानचित्र पर इसे दिखाएँ। यह भी दिखाएँ कि भारत इससे किस प्रकार जुड़ा था।
8. लगभग 200 ई. पू. से 300 ई. की अवधि के सिक्को के चित्र जमा करें। इन सिक्कों के विविध पहलुओं के बारे में टिप्पणी लिखें, जैसे जारी करने वाला राजवंश, धातु, चित्र, लेख आदि। ये सिक्के किन-किन बातों में उन पंचमार्क्ड या आहत सिक्कों से भिन्न हैं जिनके बारे में आप पहले पढ़ चुके हैं ?
9. सिक्कों के अधिक प्रचलन से लोगों के आर्थिक जीवन के बारे में क्या संकेत मिलता है ? इस विषय पर 200 ई. पू. से 300 ई. की अवधि के बारे में कक्षा में विचार-विमर्श करें।

अध्याय 20

गुप्त साम्राज्य का उद्भव और विकास

पृष्ठभूमि

मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद दो बड़ी राजनीतिक शक्तियाँ उभरीं : सातवाहन और कुषाण। सातवाहनों ने दकन और दक्षिण में स्थायित्व लाने का काम किया। उन्होंने दोनों क्षेत्रों को रोमन साम्राज्य के साथ चले अपने व्यापार के बल पर राजनीतिक एकता और आर्थिक प्रगति प्रदान की। यही काम कुषाणों ने उत्तर में किया। इन दोनों साम्राज्यों का ईसा की तीसरी सदी के मध्य में अंत हो गया।

कुषाण साम्राज्य के खँडहर पर नए साम्राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने अपना आधिपत्य कुषाण और सातवाहन दोनों के पिछले राज्यक्षेत्रों के बहुत बड़े भाग पर स्थापित किया। यह था गुप्त साम्राज्य। गुप्त मूलत: वैश्य रहे होंगे। गुप्त साम्राज्य उतना विशाल तो नहीं था जितना मौर्य साम्राज्य, फिर भी इसने सारे उत्तर भारत को 335 ई. से 455 ई. तक एक सदी से ऊपर राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधे रखा। ईसा की तीसरी सदी के अंत में गुप्त वंश का आरंभिक राज्य उत्तर प्रदेश और बिहार में था। लगता है कि गुप्त शासकों के लिए बिहार की अपेक्षा उत्तर प्रदेश अधिक महत्त्व का क्षेत्र था, क्योंकि आरंभिक गुप्त मुद्राएँ और अभिलेख मुख्यत: इसी राज्य में पाए गए हैं। यदि हम कुछेक सामंतों और स्वतंत्र व्यक्तियों की बात छोड़ दें जिनके अभिलेख अधिकतर मध्य प्रदेश में पाए गए हैं, तो गुप्तकालीन पुरावशेषों की उपलब्धि की दृष्टि से उत्तर प्रदेश सबसे समृद्ध स्थान सिद्ध होता है। इसलिए उत्तर प्रदेश ही वह स्थान प्रतीत होता है जहाँ से गुप्त शासक कार्यसंचालन करते रहे और अनेकों दिशाओं में बढ़ते गए। संभवत: वे अपनी सत्ता का केंद्र प्रयाग को बनाकर पड़ोस के इलाकों में फैलते गए।

संभवत: गुप्त लोग कुषाणों के सामंत थे, और लगता है थोड़े ही दिनों में उनके उत्तराधिकारी बन बैठे। बिहार और उत्तर प्रदेश में अनेकों जगह कुषाण पुरावशेषों के ठीक बाद गुप्त पुरावशेष मिले हैं। लगता है कि गुप्तों ने जीन, लगाम, बटन वाले कोट, पतलून और जूतों का इस्तेमाल कुषाणों से सीखा। इन सबों से उनमें गतिशीलता आई और उनके घुड़सवार खूब कारगर हुए। कुषाणों की व्यवस्था में अश्वचालित रथ का और हाथी का महत्त्व समाप्त हो गया। घुड़सवारों की भूमिका प्रमुख हो गई। यह बात गुप्तों के बारे में

भी कही जा सकती है। इसीलिए तो उनके सिक्कों पर घुड़सवार अंकित हैं। यों तो कुछ गुप्त राजाओं को उत्तम और अद्वितीय महारथी (रथ पर लड़ने वाले) कहा गया है, लेकिन उनकी मूल शक्ति का आधार घोड़ों का इस्तेमाल था।

गुप्त राजाओं को कई भौतिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। उनके कार्यकलाप का मुख्य प्रांगण मध्य-देश की उर्वर भूमि था, जिसमें बिहार और उत्तर प्रदेश आते हैं। वे मध्य भारत और दक्षिण बिहार के लौह अयस्क का उपयोग कर सके। इसके अलावा, बायजेन्टाइन साम्राज्य अर्थात पूर्वी रोमन साम्राज्य के साथ रेशम का व्यापार करने वाले उत्तर भारत के इलाके उनके पड़ोस में पड़ते थे, अतः वे इस निकटता का भी लाभ उठा सके। इन अनुकूल स्थितियों के बल पर गुप्त शासकों ने अपना आधिपत्य अनुगंग (मध्य गंगा का मैदान), प्रयाग (आधुनिक इलाहाबाद), साकेत (आधुनिक अयोध्या) और मगध पर स्थापित किया। कालक्रमेण यह राज्य भारतव्यापी साम्राज्य बन गया। उत्तर भारत में कुषाण सत्ता 230 ई. के आसपास में आकर समाप्त हो गई। तब मध्य भारत का बड़ा-सा भाग मुरूण्डों के कब्ज़े में आया, जो सम्भवतः कुषाणों के रिश्तेदार थे। मुरूण्डों ने 250 ई. तक राज किया। पच्चीस वर्षों के बाद लगभग 275 ई. में गुप्तवंश के हाथ में सत्ता आई।

चन्द्रगुप्त प्रथम (319-334 ई.)

गुप्तवंश का पहला प्रसिद्ध राजा हुआ चंद्रगुप्त प्रथम। उसने एक लिच्छवि राजकुमारी से विवाह किया जो संभवतः नेपाल की थी। इससे उसकी सत्ता को बल मिला। गुप्त लोग संभवतः वैश्य थे, इसलिए क्षत्रिय कुल में विवाह करने से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी। चंद्रगुप्त प्रथम महान शासक हुआ, क्योंकि उसने 319-20 ई. में अपने राज्यारोहण के स्मारक के रूप में गुप्त संवत् चलाया। बाद के कई अभिलेखों में काल-निर्देश इस संवत् में किया गया मिलता है।

समुद्रगुप्त (335-380 ई.)

चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र और उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त (335-380 ई.) ने गुप्त राज्य का अपार विस्तार किया। वह अशोक के विपरीत था। अशोक शांति और अनाक्रमण की नीति में विश्वास करता था, तो समुद्रगुप्त हिंसा और विजय में आनंद पाता था। उसके दरबारी कवि हरिषेण ने अपने आश्रयदाता के पराक्रम का उदात्त वर्णन किया है। एक लंबे अभिलेख में कवि ने गिनाया है कि समुद्रगुप्त ने किन-किन लोगों और किन-किन देशों पर विजय प्राप्त की। यह अभिलेख इलाहाबाद के उसी स्तम्भ पर खुदा है जिस पर शांतिकामी अशोक का अभिलेख है। समुद्रगुप्त द्वारा विजित स्थान और क्षेत्र पाँच समूहों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथम समूह में गंगा-यमुना दोआब के वे राजा हैं, जिन्हें हरा कर उनके राज्य गुप्त साम्राज्य में मिला लिए गए। द्वितीय समूह में पूर्वी हिमालय के राज्यों और कुछ सीमावर्ती राज्यों के शासक हैं, जैसे नेपाल, असम, बंगाल आदि के राजा। समुद्रगुप्त ने उन्हें अपने बाहुबल के प्रभाव का अनुभव कराया। इस समूह में पंजाब के कुछ गणराज्य भी हैं। जो गणराज्य मौर्य साम्राज्य के खंडहरों पर टिमटिमा रहे थे उन्हें समुद्रगुप्त ने सदा के लिए बुझा दिया। तृतीय समूह में वे **अटाविक राज्य** (जंगली क्षेत्रों में

इलाहाबाद के स्तंभ पर समुद्रगुप्त का अभिलेख। (यहाँ पर अभिलेख की केवल अंतिम चार पंक्तियाँ ही दी गई हैं। उनका देवनागरी लिप्यंतर नीचे दिया जा रहा है।)

30. भवन-गमनावाप्त-ललित-सुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भ यस्य।
प्रदान-भुज-विक्रम-प्रशम-शास्त्र-वाक्योदयैरुपर्य्युपरि-सञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्ग्ग यशः

31. पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तुर्गुहानिरोध-परिमोक्ष-शीघ्रमिव पाण्डु गाङ्गं पयः।। एतच्च काव्यमेकामेव
भट्टारकपादानां दासस्य समीप-परिसर्प्पणानुग्रहोन्मीलित-मतेः।

32. खाद्यटपाकिकस्य महादण्डानायक ध्रुवभूतिपुत्रस्य सान्धिविग्रहिक कुमारामात्य म (हा दण्डनाय) क हरिषेणस्य
सर्वभूत-हित सुखायास्तु।।

33. अनुष्ठितं च परमभट्टारक-पादानुद्यातेन महादण्डनायक-तिलभट्टकेन।

स्थित राज्य) थे जो विन्ध्य क्षेत्र में पड़ते थे। उन सबों को समुद्रगुप्त ने अपने वश में कर लिया। चतुर्थ समूह में पूर्वी दकन और दक्षिण भारत के 12 शासक हैं, जिन्हें हराकर छोड़ दिया गया। समुद्रगुप्त की बाँहें बढ़ते-बढ़ते तमिलनाडु में कांची तक पहुँची, जहाँ उसने पल्लवों से अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार कराई। पांचवे समूह में शकों और कुषाणों के नाम हैं, जिनमें से कुछ अफगानिस्तान में राज करते थे। कहा गया है कि समुद्रगुप्त ने उन्हें पदच्युत कर दिया और सुदूर देश के शासकों को अपने अधीन कर लिया। समुद्रगुप्त की प्रतिष्ठा और प्रभाव भारत के बाहर भी फैला। एक चीनी स्रोत के अनुसार, श्रीलंका के राजा मेघवर्मन् ने गया में बुद्ध का मंदिर बनवाने की अनुमति प्राप्त करने के लिए समुद्रगुप्त के पास दूत भेजा था। अनुमति दी गई और यह मन्दिर विशाल बौद्ध विहार के रूप में विकसित हो गया। यदि हम इलाहाबाद की प्रशस्ति (प्रशंसात्मक अभिलेख) पर विश्वास करें तो प्रतीत होगा कि समुद्रगुप्त को कभी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा। उसे अपनी बहादुरी एंव युद्ध कौशल के कारण भारत का नेपोलियन कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि समुद्रगुप्त ने भारत के जितने बड़े भाग को बाहुबल से अपने अधीन कर एकता के सूत्र में बाँधा उस से कहीं अधिक भाग में उसका लोहा माना जाता था।

चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्के

चंद्रगुप्त द्वितीय (380-412ई.)

चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में गुप्त साम्राज्य अपने उत्कर्ष की चोटी पर पहुँचा। उसने वैवाहिक संबंध और विजय दोनों के सहारे साम्राज्य की सीमा बढ़ाई। चन्द्रगुप्त ने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा से कराया, जो ब्राह्मण जाति का था और मध्य भारत में शासन करता था। उसके मरने के बाद उसका नाबालिग पुत्र उसका उत्तराधिकारी हुआ। इस प्रकार प्रभावती स्वयं वास्तविक शासिका हुई। भूमिदान संबंधी उसके अभिलेख जिनकी लिपि पर गुप्तकालीन प्राच्य शैली का प्रभाव है, बतलाते हैं कि प्रभावती अपने पिता के हित में काम करती थी। इस प्रकार मध्य भारत स्थित वाकाटक राज्य पर अप्रत्यक्ष रूप से अपना अधिक प्रभाव जमा कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिमी मालवा और गुजरात पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया, और वहाँ 400 साल पुराने शक क्षत्रपों के शासन का अंत किया। इस विजय से चन्द्रगुप्त को पश्चिमी समुद्रतट मिल गया जो व्यापार-वाणिज्य के लिए मशहूर था। इस से मालवा और उसका मुख्य नगर उज्जैन समृद्ध होता गया। लगता है चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जैन को द्वितीय राजधानी बनाया।

दिल्ली में कुतुब मीनार के पास खड़े एक लौह स्तम्भ पर खुदे हुए अभिलेख में **चन्द्र** नामक किसी राजा का कीर्तिवर्णन किया गया है। यदि इस चन्द्र को चन्द्रगुप्त द्वितीय मान लिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि उसने गुप्त साम्राज्य का प्रभुत्व पश्चिमोत्तर भारत में और बंगाल के काफी भाग में भी स्थापित किया। परंतु इस पुरालेखीय राजप्रशस्ति में अतिरंजन मालूम होता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। यही उपाधि इससे पूर्व 57 ई. पू. में उज्जैन के शासक ने भी पश्चिमी भारत में शक क्षत्रपों पर विजय पाने के उपलक्ष में धारण की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उज्जैन स्थित दरबार

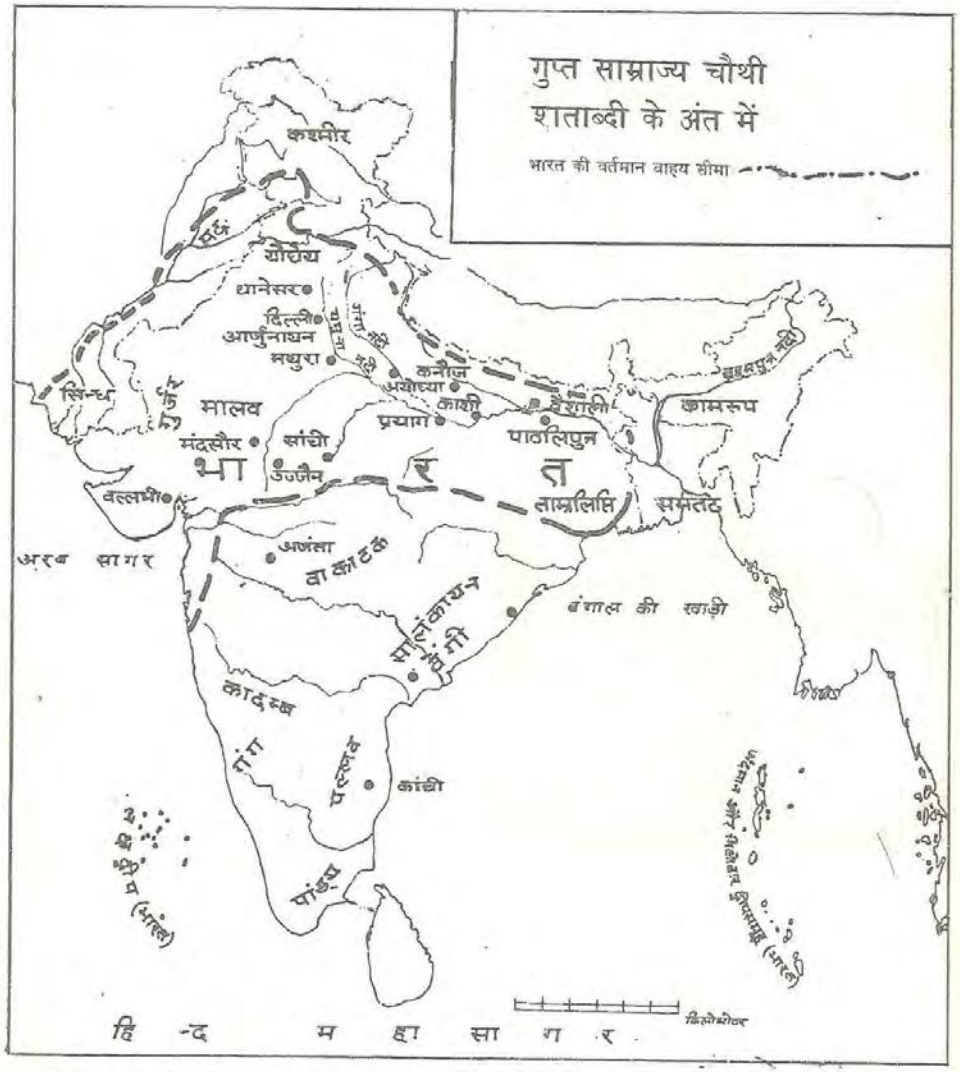

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

कालिदास और अमरसिंह जैसे बड़े-बड़े विद्वानों से विभूषित था।

चन्द्रगुप्त के समय में ही चीनी यात्री फ़ा-हियान (399-414 ई.) भारत आया और यहाँ के लोगों के जीवन के बारे में विस्तृत विवरण लिख गया।

गुप्त साम्राज्य का पतन

चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारियों को ईसा की पाँचवी सदी के उत्तरार्ध में मध्य एशिया के हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। आरंभ में तो गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त ने हूणों को भारत में आगे बढ़ने से रोकने के लिए ज़ोरदार प्रयास किया, लेकिन उसके उत्तराधिकारी लोग कमज़ोर ठहरे और आक्रमणकारी हूणों के सामने टिक नहीं पाए। हूण घुड़सवारी में बेजोड़ थे और शायद धातु के बने रकाबों का इस्तेमाल करते थे। वे तेज़ी से बढ़ सकते थे, और उत्तम धनुर्धर होने के कारण न केवल ईरान में बल्कि भारत में भी खूब सफल हुए होंगे।

485 ई. में आकर हूणों ने पूर्वी मालवा को और मध्य भारत के बड़े हिस्से को अपने कब्ज़े में कर लिया, जहाँ उनके अभिलेख पाए गए हैं। पंजाब और राजस्थान जैसे बीच के इलाके भी उन हूणों के अधिकार में चले गए। इसके फलस्वरूप छठी सदी के आरंभ में गुप्त साम्राज्य बहुत ही छोटा हो गया। यद्यपि मालवा के औलिकर सामंत वंश के यशोधर्मन् ने जल्द ही हूणों की सत्ता को उखाड़ फेंका, फिर भी मालवा नरेश ने गुप्त शासकों की सत्ता को भी चुनौती दे दी और सारे उत्तर भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उपलक्ष में 532 इसवी में विजय स्तम्भ खड़े किए। यशोधर्मन् का शासन टिका तो नहीं लेकिन उसने गुप्त साम्राज्य को हिलाकर रख दिया।

करद सामंत राजाओं ने सर उठाकर गुप्त साम्राज्य को और भी दुर्बल बना दिया। गुप्त सम्राटों की ओर से उत्तरी बंगाल में नियुक्त शासनाध्यक्ष (गवर्नर) लोगों ने और समतट अर्थात् दक्षिण-पूर्व बंगाल के उनके सामंतों ने अपने को स्वतंत्र बनाना शुरू कर दिया। मगध के परवर्ती गुप्त शासकों ने बिहार में अपनी शक्ति जमाई। उनके साथ ही साथ मौखरि वंश के लोगों ने बिहार और उत्तर प्रदेश में राजसत्ता स्थापित की और कन्नौज को राजधानी बनाया। लगता है कि 550 ई. के आते-आते बिहार और उत्तर प्रदेश गुप्त शासकों के हाथ से चले गए। छठी सदी के आरंभ में ही हम देखते हैं कि उत्तरी मध्य प्रदेश के स्वाधीन राजा लोग स्वाधिकारपूर्वक भूमिदान का शासनपत्र (चार्टर) जारी करने लगे हालाँकि शासनपत्र में गुप्त संवत् का ही प्रयोग किया। वलभी के शासकों ने गुजरात और पश्चिमी मालवा पर अधिकार कर लिया। स्कन्दगुप्त के शासन के बाद, अर्थात 467 ई. के आगे शायद ही कोई गुप्त मुद्रा या अभिलेख पश्चिम मालवा और सौराष्ट्र में मिला हो। संभवत: पाँचवीं सदी का अंत होते-होते पश्चिमी भारत गुप्त शासकों के हाथ से निकल गया। फलत: व्यापार और वाणिज्य से होने वाली आय से गुप्त शासकों को हाथ धोना पड़ा और वे आर्थिक रूप से पंगु हो गए। उधर उत्तर भारत में थानेश्वर के राजाओं ने हरियाणा पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और धीरे-धीरे कन्नौज की ओर बढ़े।

गुप्त राज्य को विशाल वेतनभोगी सेना के रखरखाव में कठिनाई होने लगी होगी, क्योंकि धार्मिक या अन्य उद्देश्यों से ग्रामदान करने की परिपाटी ज़ोर पकड़ती जा रही थी, जिससे उसकी आमदनी बहुत घट गई होगी। विदेश व्यापार के ह्रास से भी उसकी आय कम हुई होगी। पता चलता है कि रेशम बुनकरों की एक श्रेणी (व्यवसायी संघ) 473 ई. में गुजरात से मालवा चली गई और वहाँ उन बुनकरों ने अन्य पेशे अपना लिए। इससे प्रकट होता है कि वे जो कपड़ा तैयार करते थे उसकी माँग खत्म-सी हो गई थी। धीरे-धीरे गुजरात में व्यापार का लाभ समाप्त हो गया। पाँचवी सदी के मध्य के बाद गुप्त राजाओं ने अपनी स्वर्णमुद्राओं में शुद्ध सोने का अनुपात घटाकर उसे किसी भी तरह जारी रखने की बेतहाशा कोशिश की। पर इससे कोई लाभ नहीं हुआ। यद्यपि गुप्त सम्राटों का शासन छठी सदी के बीच तक किसी-न-किसी तरह चलता रहा, परंतु साम्राज्य की महिमा लगभग सौ साल पहले ही समाप्त हो चुकी थी।

अभ्यास

1. गुप्तों ने कब और भारत के किस भाग में राज्य स्थापित किया ? उन कारकों का वर्णन करें जो गुप्तों को अपना साम्राज्य फैलाने में सहायक हुए।
2. समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने किन-किन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की ?
3. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों का विवेचन करें।
4. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर समुद्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार दिखाएँ और यह भी दिखाएँ कि उसमें कितना क्षेत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने जोड़ा।
5. इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख की तथा दिल्ली के लौह स्तम्भ अभिलेख की अनुवाद सहित प्रतिलिपि प्राप्त करें। उनमें उल्लिखित स्थानों को मानचित्र में खोजने का प्रयास करें। उन दोनों अभिलेखों में अशोक के अभिलेखों से किन-किन बातों में अन्तर है ?

अध्याय 21

गुप्त काल का जीवन

प्रशासन-पद्धति

मौर्य राजाओं के विपरीत गुप्त राजाओं ने **परमेश्वर महाराजाधिराज, परमभट्टारक** आदि आडंबर-पूर्ण उपाधियाँ धारण कीं। इससे यह संकेत मिलता है कि उन्होंने अपने साम्राज्य के भीतर छोटे-छोटे राजाओं पर शासन किया। राजपद वंशगत था, परंतु राजसत्ता ज्येष्ठाधिकार की अटल प्रथा के अभाव में सीमित थी। राजगद्दी हमेशा ज्येष्ठ पुत्र को ही नहीं मिलती थी। इससे अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी, जिसका लाभ सामंत और उच्चाधिकारी उठा सकते थे। गुप्त राजाओं ने ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दान दिए। ब्राह्मणों ने राजा की तुलना विभिन्न देवताओं से कर के उनके प्रति अपना आभार प्रकट किया। राजा को रक्षा और पालन करने वाले भगवान विष्णु के रूप में देखा जाने लगा, और राजसत्ता की देवी लक्ष्मी विष्णु की पत्नी के रूप में सिक्कों की पीठ पर सदा अंकित होती रही।

गुप्त सेना की संख्या ज्ञात नहीं है। लगता है, राजा स्थायी सेना रखता था, और सामंतों द्वारा समय-समय पर प्रदत्त सेनाएँ उसकी पूरक होती थीं। अश्वचालित रथ के दिन लद चुके थे, और घुड़सवारों की महत्ता बढ़ गई थी। घोड़े पर सवार हो कर तीर चलाना अच्छा रण-कौशल था।

गुप्त काल में भूमिसंबंधी करों की संख्या बढ़ गई, परंतु वाणिज्य-करों की संख्या घटी। संभवत: राज्य उपज का चौथे भाग से लेकर छठे भाग तक कर के रूप में लेता था। इसके अतिरिक्त, जब भी राजकीय सेना गाँवों से गुज़रती थी तो उसे खिलाना-पिलाना स्थानीय प्रजा का कर्त्तव्य होता था। ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने वाले राजकीय अधिकारी अपने निर्वाह के लिए किसानों से पशु, अन्न, खाट आदि वस्तुएँ लेते थे। मध्य और पश्चिम भारत में ग्रामवासियों से सरकारी सेना और अधिकारियों की सेवा के लिए बेगार (नि:शुल्क श्रम) भी कराया जाता था जो **विष्टि** कहलाता था।

पहले की अपेक्षा गुप्तकाल में न्याय-पद्धति अधिक विकसित थी। इस काल में अनेक विधि-ग्रंथ संकलित किए गए। पहली बार दीवानी और फ़ौजदारी कानून (व्यवहार-विधि और दण्ड-विधि) भली-भाँति परिभाषित और पृथक्कृत हुए।

चोरी और व्यभिचार फौजदारी कानून में आए, और संपत्ति संबंधी विविध विवाद दीवानी कानून में। उत्तराधिकार के बारे में विस्तृत नियम निर्धारित हुए। पहले की भाँति बहुत-सारे नियमों का आधार वर्णभेद रहा। नियम-कानून बनाए रखना राजा का कर्त्तव्य रहा। राजा न्याय-निर्णय ब्राह्मण पुरोहितों की सहायता से करता था। शिल्पी, वणिक आदि के संगठनों (श्रेणिओं) पर उनके अपने ही नियम लागू होते थे। वैशाली से और इलाहाबाद के निकटवर्ती भीटा से प्राप्त मुहरों से पता चलता है कि गुप्तकाल में श्रेणियाँ अच्छी अवस्था में चल रही थीं।

गुप्तों का अधिकारी-वर्ग उतना बड़ा नहीं था जितना मौर्यों का। गुप्त साम्राज्य के सबसे बड़े अधिकारी **कुमारामात्य** होते थे। उन्हें राजा उनके अपने प्रांत में ही नियुक्त करता था। शायद वे नगद वेतन पाते थे। चूँकि गुप्त लोग संभवत: वैश्य थे, इसलिए प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति केवल उच्च वर्णों तक सीमित नहीं थी। परंतु अनेक पदों का प्रभार एक ही व्यक्ति के हाथ में सौंपा जाने लगा, और पद वंशगत हो गए। स्वभावत: राजकीय नियंत्रण शिथिल हो गया।

गुप्त राजाओं ने प्रांतीय और स्थानीय शासन की पद्धति चलाई। राज्य कई **भुक्तियों** अर्थात प्रांतों में विभाजित था और हर **भुक्ति** एक-एक **उपरिक** के प्रभार में रहती थी। **भुक्तियाँ** कई **विषयों** अर्थात् ज़िलों में विभाजित थीं। हर **विषय** का प्रभारी **विषयपति** होता था। पूर्वी भारत में प्रत्येक **विषय** को **वीथियों** में बांटा गया था और **वीथियाँ** ग्रामों में विभाजित थीं।

गुप्त काल में गाँव का मुखिया अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। वह ग्रामश्रेष्ठों की सहायता से गाँव का काम-काज देखता था। ग्रामों और छोटे-छोटे शहरों के प्रशासन से प्रमुख स्थानीय लोग जुड़े हुए थे। उनकी अनुमति के बिना ज़मीन की खरीद-बिक्री नहीं हो सकती थी।

नगर के प्रशासन में व्यावसायियों के संगठनों की अच्छी साझेदारी रहती थी। वैशाली से प्राप्त सीलों से प्रकट होता है कि शिल्पी, वणिक् और लिपिक एक ही संस्था में काम करते थे और इस हैसियत से वे स्पष्टत: नगर के कार्यों का संचालन करते थे। उत्तरी बंगाल (बांग्लादेश) के कोटिवर्ष विषय की प्रशासनिक परिषद् में मुख्य वणिक्, मुख्य व्यापारी और मुख्य शिल्पी शामिल थे। भूमि के अनुदान या खरीद-बिक्री में उनकी सम्मति आवश्यक समझी जाती थी। शिल्पियों और वणिकों के अपने अलग-अलग संघठन (**श्रेणियाँ**) थे। भीटा और वैशाली के शिल्पियों और वणिकों की अलग-अलग श्रेणियाँ हमें ज्ञात हैं। मालवा के मंदसौर और इंदौर में रेशम बुनकरों की अपनी खास श्रेणी थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर ज़िले में तेलियों की अपनी श्रेणियाँ थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन श्रेणियों, खासकर वणिकों की श्रेणियों को कई खास छूटों की सुविधा दी गई थी। हर हालत में ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों के मामले देखती थीं और श्रेणी के नियम, कानून और परंपरा का उल्लंघन करने वालों को सज़ा दे सकती थीं।

उपर्युक्त प्रशासन-पद्धति केवल उत्तरी बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में तथा मध्य प्रदेश के कुछ संलग्न क्षेत्रों में ही लागू थी, जहाँ गुप्त राजा अपने अधिकारियों की सहायता से प्रत्यक्ष शासन करते थे। साम्राज्य के अधिकतर भाग सामंतों या

मंडलेश्वरों के हाथ में थे, जिनमें से अनेकों को समुद्रगुप्त ने अपने अधीन कर लिया था। साम्राज्य के सीमावर्ती सामंतों को तीन जिम्मेवारियाँ पूरी करनी होती थीं। वे सम्राट के दरबार में स्वयं उपस्थित होकर सम्मान निवेदन करते, नज़राना चढ़ाते और विवाहार्थ अपनी पुत्री समर्पित करते थे। लगता है कि इसके बदले उन्हें अपने क्षेत्र पर अधिकार का शासन-पत्र (सनद) मिलता था। गरुड़ छापवाली राजकीय मुहर जिन शासन-पत्रों पर है वे सामंतों के जारी किए गए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार मध्य प्रदेश में और अन्यत्र गुप्तों के कई सामंत राज करते थे। अधीनता की स्थिति ने इन राजाओं को सामंत बना दिया था।

गुप्तकाल में पुरोहितों और प्रशासकों को क्षेत्र-विशेष में ग्राम-अनुदान के द्वारा कर-ग्रहण और शासन करने की रियायत दी जाती थी जिससे सामंततंत्र को बल मिला। भूमि-अनुदान प्रथा का आरंभ दक्कन में सातवाहनों ने किया, और गुप्तकाल में, खास कर मध्य प्रदेश में, तो यह सामान्य परिपाटी बन गई। पुरोहितों और अन्य धर्माचार्यों को कर-मुक्त भूमि दान में दी जाती थी और उन्हें वैसे सभी कर उगाहने का अधिकार भी दे दिया जाता, जो अन्यथा राजकोष में जाते। जो ग्राम दे दिए जाते थे उनमें राजा के अधिकारियों और अमलों को प्रवेश करने का हक नहीं रहता था। अनुदानभोगी वहाँ के अपराधकर्मियों को सज़ा भी दे सकता था।

गुप्त काल में अधिकारियों को वेतन का भुगतान जमीन देकर किया जाता था कि नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। स्वर्णमुद्रा की बहुतायत से पता चलता है कि ऊँचे अधिकारियों को नगद वेतन देने की परिपाटी चलती रही, किंतु उनमें से कुछ-न-कुछ अधिकारी अपना पावना भूमि के जरिए भी प्राप्त करते थे।

चूँकि साम्राज्य के प्रशासन संबंधी बहुत सारे काम सामंतों और अनुदानभोगियों के हाथों ही संपन्न हो जाते थे, इसलिए मौर्यों की भांति गुप्तों को अधिक अधिकारी-वर्ग रखने की आवश्यकता नहीं रही। बहुत अधिक अधिकारी रखना इसलिए भी अनावश्यक हो गया होगा क्योंकि मौर्य राज्य की भाँति गुप्त राज्य बड़े पैमाने पर आर्थिक कार्यकलाप में संलग्न नहीं था। ग्राम और नगर के प्रशासन में शिल्पियों, वणिकों, श्रेष्ठियों आदि के भाग लेने से अधिकारियों का लंबा तांता आवश्यक न रह गया। गुप्तों का मौर्यों की भांति न लंबा-चौड़ा प्रशासन-तंत्र था, और न उन्हें उसकी आवश्यकता ही थी। कई दृष्टियों से गुप्तों की राजनीतिक प्रणाली में सामंती रंग दिखाई देता है।

व्यापार और कृषिमूलक अर्थव्यवस्था की प्रवृत्तियाँ

गुप्त कालीन आर्थिक जीवन की कुछ झलक हमें चीनी बौद्ध यात्री फा-हियान से मिलती है जो गुप्त साम्राज्य के विभिन्न भागों में घूमा था। अन्य बातों के अलावा, वह बताता है कि मगध नगरों और धनवानों से भरा-पूरा था, और धनी लोग बौद्ध धर्म का संपोषण करते थे और उसके लिए दान देते थे।

प्राचीन भारत के गुप्त राजाओं ने सबसे अधिक स्वर्णमुद्राएँ जारी कीं, जो उनके अभिलेखों में **दीनार** कही गई हैं। नियन्त्रित आकार और भार वाली ये स्वर्ण-मुद्राएँ अनेक प्रकारों और उपप्रकारों

में पायी जाती हैं। इन पर गुप्त राजाओं के स्पष्ट चित्र हैं, और इनसे उनकी युद्धप्रियता और कलाप्रियता का संकेत मिलता है। यद्यपि स्वर्णांश में ये मुद्राएँ उतनी शुद्ध नहीं हैं जितनी कुषाण-मुद्राएँ, तथापि ये न केवल सेना और प्रशासन के अधिकारियों को वेतन चुकाने में, अपितु भूमि की खरीद-बिक्री संबंधी आवश्यकता की पूर्ति में भी सहायक हुईं। गुजरात-विजय के बाद गुप्त राजाओं ने बड़ी संख्या में चाँदी के सिक्के भी जारी किए, जो केवल स्थानीय लेन-देन में चलते थे, क्योंकि पश्चिमी क्षत्रपों के यहाँ चाँदी के सिक्कों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुषाणों के विपरीत, गुप्तों के तांबे के सिक्के बहुत ही कम मिलते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि जन-सामान्य में मुद्रा का प्रयोग जितना कुषाणों के समय होता था उतना अब नहीं रहा।

पूर्व काल की तुलना में, दूर व्यापार में ह्रास दिखाई देता है। 550 ई. तक भारत पूर्वी रोमन साम्राज्य के साथ कुछ-कुछ व्यापार करता रहा, जहाँ वह रेशम भेजता था। 550 ई. के आसपास पूर्वी रोमन साम्राज्य के लोगों ने चीनियों से रेशम पैदा करने की कला सीख ली। इससे भारत के निर्यात-व्यापार पर बुरा असर पड़ा। छठी सदी का मध्य आते-आते भारतीय रेशम की माँग विदेश में कमज़ोर पड़ गई थी। पाँचवीं सदी के मध्य में रेशम बुनकरों की एक श्रेणी पश्चिम भारत स्थित अपने मूल निवास स्थान लाट देश को छोड़कर मंदसोर चली गई, और वहाँ उन बुनकरों ने अपना मूल व्यवसाय छोड़कर अन्य व्यवसायों को अपनाया।

गुप्त काल में, विशेषत: मध्य प्रदेश में एक उल्लेखनीय बात हुई। ये थी ब्राह्मण पुरोहितों का भूस्वामी के रूप में उदय जो किसानों के हितों के विपरीत था। ब्राह्मण पुरोहितों को दान में जो भूमि दी जाने लगी उससे अवश्य ही बहुत-सी परती ज़मीन आबाद हुई। लेकिन यह अनुदानभोगी वर्ग स्थानीय जनजातीय किसानों के मत्थे पर ऊपर से लाद दिया गया जिसके परिणामस्वरूप उन किसानों की हैसियत नीचे गिर गई। मध्य और पश्चिम भारत में किसानों से बेगार भी लिया जाने लगा। दूसरी ओर, मध्य भारत के जनजातीय इलाकों में ब्राह्मण अनुदानभोगियों ने बहुत-सारी परती ज़मीन को आबाद कराया और खेती की अच्छी जानकारी प्रचलित की।

सामाजिक गतिविधि

ब्राह्मणों को बड़े पैमाने पर ग्राम-अनुदान मिलना इस बात का द्योतक है कि ब्राह्मणों की श्रेष्ठता गुप्त काल में बनी रही। ब्राह्मण गुप्त वंशियों को क्षत्रिय मानने लगे जबकि वे मूलत: वैश्य थे। ब्राह्मणों ने गुप्त राजाओं को देवताओं के गुणों से अलंकृत रूप में चित्रित किया। इससे गुप्त राजाओं की हैसियत धर्मशास्त्र-सम्मत हो गई और वे ब्राह्मण-प्रधान वर्णव्यवस्था के परम प्रतिपालक हो गए। भारी संख्या में मिले ग्राम-अनुदानों के फलस्वरूप ब्राह्मणों ने खूब धन-संचय किया। इस प्रकार ब्राह्मणों ने बहुत-से विशेषाधिकार अर्जित किए जो लगभग पाँचवीं सदी में रचित **नारद स्मृति** में गिनाए गए हैं।

वर्ण अगणित जातियों-उपजातियों में बँट गए। इसके दो कारण हुए, भारी संख्या में विदेशों से आए लोग भारतीय समाज में घुल-मिल गए और

उन विदेशियों का हर समूह एक-एक खास जाति समझा जाने लगा। चूँकि विदेशी लोग विजेता के रूप में आए इसलिए समाज में उन्हें क्षत्रिय का स्थान मिला। हूण लोग पाँचवी सदी का अंत होते-होते आए और अन्ततः राजपूतों के छत्तीस कुलों में से एक कुल के मान लिए गए। आज भी हूण उपाधि वाले राजपूत मिलते हैं। जातियों की संख्या बढ़ने का दूसरा कारण था ग्राम-अनुदान की प्रक्रिया में बहुत-से जनजातीय लोगों का ब्राह्मणीय समाज में सभा जाना। जनजातीय सरदार लोग उच्च कुल के माने गए। किंतु उनके सामान्य स्वजनों को नीचे कुल का माना गया, और हर जनजाति अपने नए जीवन में एक-न-एक जाति के रूप में अवतीर्ण हुआ। यह प्रक्रिया किसी-न-किसी रूप में आज तक चल रही है।

इस काल में शूद्रों की स्थिति सुधरी। अब उन्हें **रामायण, महाभारत** और **पुराण** सुनने का अधिकार मिल गया। वे अब कृष्ण नामक नए देवता की पूजा भी कर सकते थे। उन्हें कुछ गृह्य संस्कारों या घरेलू अनुष्ठानों का भी अधिकार मिला। इन कर्मों में अवश्य ही पुरोहितों को दक्षिणा प्राप्त होती थी। यह समझा जा सकता है कि ये सभी शूद्रों की आर्थिक स्थिति में हुए सुधार के ही परिणाम थे। सातवीं सदी से उनकी पहचान मुख्यतः कृषक के रूप में होने लगी, जबकि पूर्व काल में उनका चित्रण केवल अपने ऊपर के तीनों वर्णों के वास्ते खटने वाले सेवक, दास और कृषि-मज़दूर के रूप में ही होता था।

इस काल में अछूतों की संख्या में वृद्धि हुई, विशेष कर चाण्डालों की संख्या में। चाण्डाल समाज में बहुत ही पहले ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी से ही दिखाई देते हैं। ईसा की पाँचवीं सदी में आकर उनकी संख्या इतनी बढ़ गई, और उनकी अपात्रताएँ इतनी प्रखर हो गईं, कि उनकी ओर चीनी यात्री **फा-हियान** की दृष्टि बरबस खिंच गई। फा-हियान ने लिखा है कि चाण्डाल गाँव के बाहर ही बसते थे और मांस का व्यवसाय करते थे, जब कभी वे नगर में प्रवेश करते, उच्च वर्ण के लोग उनसे दूर ही रहते क्योंकि वे मानते थे कि चाण्डालों के स्पर्श से सड़क अपवित्र हो जाती है।

गुप्त काल में शूद्रों की भाँति स्त्रियों को भी **रामायण, महाभारत** और **पुराण** सुनने का अधिकार प्राप्त हुआ, और उनके लिए कृष्ण का पूजन विहित किया गया। लेकिन गुप्त काल के पहले और गुप्त काल में भी उच्च वर्णों की स्त्रियों को स्वतंत्र जीवन-निर्वाह का साधन प्राप्त नहीं था। निचले दो वर्णों की स्त्रियाँ अपने जीवन-निर्वाह के लिए अर्जन कर सकती थीं, इतने से ही उन्हें बहुत-कुछ स्वतंत्रता मिल गई, पर उच्च वर्णों की स्त्रियाँ इस स्वतंत्रता से वंचित थीं। इसमें तर्क यह दिया गया कि चूँकि वैश्य और शूद्र स्त्रियाँ खेती का काम और घरेलू काम करती हैं इसलिए उन पर पति का आधिपत्य नहीं रहता है। गुप्त काल में उच्च वर्णों के लोग अधिक से अधिक ज़मीन अर्जित करते गए, जिससे उनमें अधिक से अधिक पत्नी रखने और अधिक से अधिक संपत्ति बटोरने की प्रवृत्ति आई। पितृतन्त्रात्मक व्यवस्था में वे पत्नी को निजी संपत्ति समझने लगे, यहाँ तक कि पत्नी से मृत्यु में भी साथ देने की आशा करने लगे। पति के मरने पर उसकी पत्नी का पति की चिता में आत्मदाह करने का पहला अभिलेखीय उदाहरण गुप्तकाल में ही 510 ई. में मिलता है। फिर भी, गुप्तोत्तर काल

की कुछ स्मृतियों में कहा गया है कि यदि पति खो जाए, मर जाए, नपुंसक हो जाए, संन्यास ले ले या पतित (जातिबाह्य) हो जाए तो स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है।

उच्च वर्णों की स्त्रियों की पराधीनता का मुख्य कारण यह था कि वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए पूर्णतः अपने-अपने पतियों पर आश्रित रहती थीं। उन्हें स्वामित्वाधिकार नहीं था। लेकिन सबसे पुरानी स्मृतियों में भी यह कहा गया है कि विवाह के समय वधू को भेंट के रूप में माँ-बाप द्वारा दिए गए भूषण, अलंकरण, वस्त्र आदि सामान **स्त्रीधन** होते हैं। गुप्त काल और गुप्तोत्तर काल की स्मृतियों में तो इन भेंटों का दायरा काफी बढ़ाया गया है। उनके अनुसार, विवाह आदि के समय वधू के माता-पिता से तथा सास-ससुर से उसे जो कुछ उपहार मिलता है वह **स्त्रीधन** होता है। छठी सदी के स्मृतिकार कात्यायन का कहना है कि स्त्री अपने **स्त्रीधन** के साथ अपनी अचल सम्पत्ति को भी बेच सकती है और गिरवी रख सकती है। इससे यह बात साफ-साफ निकलती है कि कात्यायन के अनुसार ज़मीन में स्त्रियों को हिस्सा मिलता था, परंतु भारत के पितृतन्त्रात्मक समाज में धर्मशास्त्र के अनुसार सामान्यतः बेटी को अचल सम्पत्ति का उत्तराधिकार नहीं मिलता था।

बौद्ध धर्म की अवस्था

गुप्तकाल में बौद्ध धर्म को राजाश्रय मिलना समाप्त हो गया। फा-हियान ऐसी धारणा देता है कि बौद्ध धर्म बहुत समुन्नत स्थिति में था। लेकिन यथार्थ में इस धर्म का जो उत्कर्ष अशोक और कनिष्क के दिनों में था वह गुप्त काल में नहीं रहा। परंतु कुछ स्तूपों और विहारों का निर्माण हुआ, तथा नालंदा बौद्ध शिक्षा का केंद्र बन गया।

देवगढ़ की नर-नारायण की मूर्ति

भागवत संप्रदाय का उद्भव और विकास

भागवत धर्म का केंद्र बिन्दु **भगवत्** या विष्णु की पूजा है। इसका उद्भव मौर्योत्तर काल में हुआ। वैदिक काल में विष्णु गौण देवता था। वह सूर्य का प्रतिरूप था और उर्वरता-पंथ का देवता भी। ईसा-पूर्व दूसरी सदी में आकर वह **नारायण** नामक देवता से अभिन्न हो गया और नारायण-विष्णु कहलाने लगा।

नारायण मूलत: अवैदिक जनजातीय देवता था। वह **भगवत्** कहलाता था, और उसका उपासक **भागवत**। यह देवता जनजातीय सरदार का दिव्य प्रतिरूप समझा जाता था। जिस प्रकार जनजातीय सरदार स्वजनों से भेंट पाता था और उसे हिस्सा लगाकर उन्हीं स्वजनों के बीच बाँट देता था, उसी प्रकार माना जाता था कि नारायण भग अर्थात् हिस्सा या भाग्य अपने भक्तों के बीच उनकी भक्ति के अनुसार बाँटता है। जब विष्णु और नारायण दोनों एक हो गए तब दोनों के उपासक भी धर्म की एक ही छत्रछाया में आ गए। पहला वेदमूलक देवता था तो दूसरा अवैदिक। लेकिन ये दोनों संस्कृतियाँ, ये दोनों प्रकार के लोग और ये दोनों देवता सभी आपस में घुल-मिल गए।

आगे-चलकर विष्णु पश्चिमी भारत के निवासी वृष्णि-कुल के एक पौराणिक महापुरूष से एक हो गया, जो **कृष्ण वासुदेव** कहलाता था। इस कृष्ण की विष्णु से अभिन्नता दिखाने के उद्देश्य से महान् गाथाकाव्य **महाभारत** को नया रूप दिया गया। 200 ई. पू. में आते-आते उपासकों की ये तीनों धाराएँ और उनके तीनों उपास्य देव मिलते-मिलते एक हो गए। भागवत या वैष्णव संप्रदाय का उद्भव इसी का परिणाम है।

भागवत संप्रदाय के मुख्य तत्व हैं **भक्ति** और **अहिंसा**। भक्ति का अर्थ है प्रेममय निष्ठा निवेदन। यह एक प्रकार की वही निष्ठा है जो जनजाति के लोग अपने सरदार के प्रति रखते हैं, या प्रजा राजा के प्रति रखती है। **अहिंसा** अर्थात् किसी जीव का वध नहीं करना, कृषक समाज के लिए अनुकूल थी तथा विष्णु से जुड़ी प्राणदायिनी उर्वरता के पंथ से भी मेल खाती थी। लोग विष्णु की प्रतिमा की पूजा करते थे और जौ, तिल आदि चढ़ाते थे। जीव-हत्या से घृणा के कारण बहुत-से उपासकों ने मांस-मछली खाना छोड़ दिया।

यह नया धर्म परम उदार था। सहज ही इसने विदेशियों को भी अपनी ओर खींच लिया। यह शिल्पियों और वणिकों को भी भाया, जो सातवाहनों और कुषाणों के काल में प्रबल हो चुके थे। कृष्ण ने **भगवद्गीता** में घोषणा की है कि जन्मत: अपवित्र स्त्री, वैश्य और शूद्र भी उसकी शरण में आ सकते हैं। इस धार्मिक ग्रंथ में वैष्णव धर्म का प्रतिपादन किया गया है। विष्णुपुराण में और कुछ-कुछ **विष्णुस्मृति** में भी इस संप्रदाय का प्रतिपादन है।

गुप्तकाल में आकर महायान बौद्ध धर्म की तुलना में भागवत या वैष्णव संप्रदाय अधिक प्रभावी हो गया। इसने अवतारवाद का उपदेश दिया और इतिहास को विष्णु के दस अवतारों के चक्र के रूप में प्रतिपादित किया गया। इसके अनुसार जब-जब सामाजिक व्यवस्था पर संकट आता है तब-तब विष्णु उपयुक्त रूप में अवतार लेकर उसे बचाता है। विष्णु का प्रत्येक अवतार धर्म के उद्धार के लिए आवश्यक माना गया और धर्म का अर्थ राज्य द्वारा संरक्षित वर्णविभाजित समाज और पितृतन्त्रात्मक परिवार की संस्था समझा गया।

छठी सदी में आकर विष्णु की गणना शिव और ब्रह्मा के साथ त्रिदेव में होने लगी। फिर भी वह अपने आप में प्रमुख देवता रहा। छठी सदी के बाद उसकी पूजा से मिलने वाले पुण्यफलों के प्रचारार्थ बहुत-सी पुस्तकें लिखी गईं, जिनमें सबसे ऊपर स्थान है **भागवतपुराण** का। इस पुराण की

गुप्तकाल मे बना सांची का मंदिर

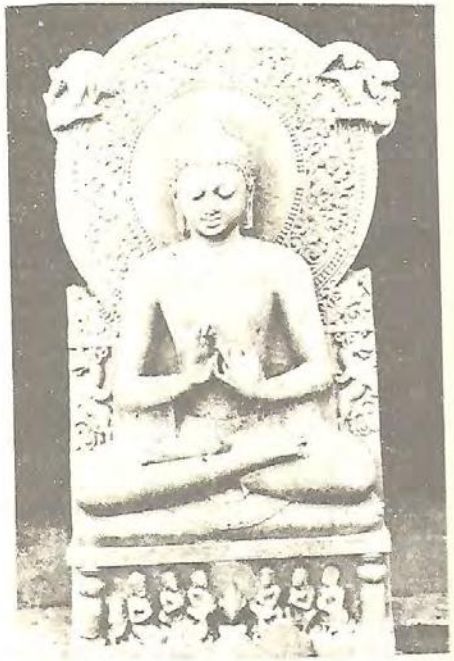

सारनाथ में बुद्ध की मूर्ति

कथा का प्रवचन पुरोहित लोग कई दिनों में संपन्न करते थे। मध्य काल में पूर्वी भारत में जहाँ-जहाँ **भागवत-घर** स्थापित हुए वहाँ विष्णु की पूजा और उनकी लीलाओं का कीर्तन होता था। विष्णु के उपासकों के लिए **विष्णुसहस्त्रनाम** आदि बहुत-से स्तोत्र लिखे गए।

गुप्तवंश के कुछ राजा शिव के उपासक हुए, जो संहार या प्रलय के देवता हैं। लेकिन शिव का उत्कर्ष बाद में हुआ, और गुप्त शासन की आरंभिक अवस्था में शिव उतने महत्त्वपूर्ण नहीं लगते हैं जितने विष्णु।

गुप्तकाल में मूर्ति-पूजा ब्राह्मणीय धर्म का सामान्य लक्षण हो गई। अनेक त्योहार मनाए जाने लगे। विभिन्न वर्गों के लोगों में जो कृषि-संबंधी त्योहार चलते थे उन्हें भी धार्मिक रूपरंग दे दिया गया, और वे पुरोहितों की आय के अच्छे साधन बन गए।

गुप्तवंशी राजाओं ने विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के प्रति सहनशीलता का मार्ग अपनाया। हम बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों को सताए जाने का उदाहरण नहीं पाते हैं। इसका एक और कारण बौद्ध धर्म के रंग-ढंग में हुआ परिवर्तन भी था, जिसके क्रम में ब्राह्मणीय धर्म के बहुत-से तत्व बौद्ध धर्म में अपना लिए गए थे।

अहिच्छत्र (ज़िला बरेली) में यमुना की मूर्ति

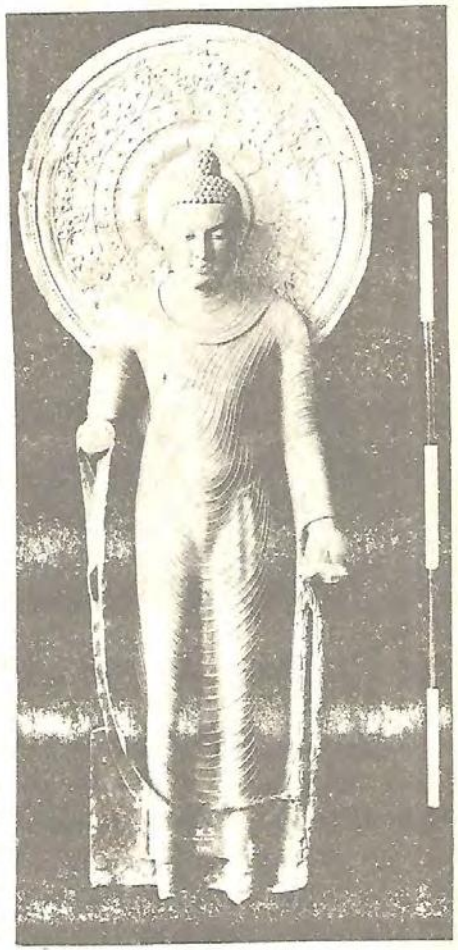

मथुरा में बुद्ध की मूर्ति

कलाएँ

गुप्त काल प्राचीन भारत का स्वर्ण-युग कहा जाता है। ऐसा कहना आर्थिक क्षेत्र में गलत भी हो सकता है, क्योंकि इस काल में उत्तर भारत में कई नगरों का पतन हुआ। लेकिन गुप्तों के पास सोना भारी मात्रा में था। चाहे वह किसी भी स्रोत से आया हो, पर गुप्तों ने सबसे अधिक स्वर्णमुद्राएँ जारी कीं। अमीर और रईस लोग अपनी आय का कुछ भाग कला और साहित्य की साधना में लगे लोगों के भरण-पोषण में लगाने में समर्थ थे। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय कला और साहित्य दोनों के संपोषक हुए। समुद्रगुप्त को अपने सिक्के पर वीणा बजाते हुए दिखाया गया है और चन्द्रगुप्त का दरबार नवरत्न अर्थात् नौ बड़े-बड़े विद्वानों से अलंकृत था।

अजंता में अप्सरा का चित्र

प्राचीन भारत में कला अधिकतर धर्म से अनुप्राणित होती थी। प्राचीन भारत की धर्मनिरपेक्ष-कला के अवशेष बहुत कम हैं। मौर्य काल और मौर्योत्तर काल में कला को बौद्ध धर्म से खूब ही बढ़ावा मिला। फलस्वरूप पत्थर के बड़े-बड़े स्तम्भ खड़े किए गए, चट्टानों को काट-काट कर सुंदर गुफाएँ बनाई गईं और ऊँचे-ऊँचे स्तूप खड़े किए गए। बुद्धसंबंधी पुरावशेषों पर निर्मित गोलाकार आधारों पर टिकी गुम्बदनुमा मिट्टी, ईंट या प्रस्तर की संरचना को स्तूप कहते हैं। बुद्ध की अनगिनत प्रतिमाएँ बनाई गईं।

गुप्तकाल में बनी दो मीटर से भी ऊँची बुद्ध की कांस्यमूर्ति भागलपुर के निकट सुल्तानगंज में पाई गई है। फा-हियान ने 25 मीटर से भी अधिक ऊँची बुद्ध की एक ताम्रमूर्ति देखी थी लेकिन उसका अब पता नहीं है। गुप्तकाल में सारनाथ और मथुरा में बुद्ध की सुंदर प्रतिमाएँ बनीं। लेकिन गुप्तकालीन बौद्ध कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है अजंता की चित्रावली। यद्यपि इस चित्रावली में ईसा की पहली सदी से लेकर सातवीं सदी तक के चित्र शामिल हैं, फिर भी अधिकतर गुप्तकालीन ही हैं। इन चित्रों में गौतम बुद्ध और उनके पिछले जन्मों की विभिन्न घटनाएँ चित्रित हैं। ये चित्र वास्तविक–जैसे सजीव और सहज लगते हैं और आश्चर्य यह है कि चौदह सौ वर्ष के बाद भी उनके रंगों की चमक में विशेष अंतर नहीं है, यद्यपि गुप्त राजा अजंता चित्रकारियों के संरक्षक नहीं थे।

चूँकि गुप्तवंशी राजा हिन्दू धर्म के संपोषक थे, इसलिए पहली बार हम गुप्त काल में ही विष्णु, शिव तथा अन्य हिन्दू देवताओं की प्रतिमा पाते हैं। कई स्थानों में हम संपूर्ण देवमंडल पाते हैं जहां मध्य में मुख्य देवता है और चारों ओर उसके परिचर और गौण देवता एक ही पट्ट पर विराजमान हैं। मुख्य देवता का आकार बड़ा रहता है, पर उसके परिचर तथा गौण देवता छोटे पैमाने पर उतारे गए रहते हैं। इससे स्पष्टतः सामाजिक विभेद तथा श्रेणीबद्धता का संकेत मिलता है।

वास्तुकला में गुप्त काल पिछड़ा था। वास्तुकला के नाम पर हमें ईंट के बने कुछ मंदिर उत्तर प्रदेश में मिले हैं। एक पत्थर का मंदिर भी मिला है। यहाँ कानपुर के भीतरगाँव, गाजीपुर के भीतरी,

और झाँसी के देवगढ़ के ईंट के मंदिर भी उल्लेखनीय हैं। नालंदा का बौद्ध महाविहार पाँचवीं सदी में बना, और इसकी सबसे पहले की संरचना, जो ईंट की है, गुप्तकाल में बनी है।

साहित्य

गुप्तकाल लौकिक साहित्य की सर्जना के लिए स्मरणीय है। भास के तेरह नाटक इसी काल के हैं। शूद्रक का लिखा नाटक **मृच्छकटिक** या **माटी की खिलौना-गाड़ी**, जिसमें निर्धन ब्राह्मण के साथ वेश्या का प्रेम वर्णित है, प्राचीन नाटकों में सर्वोत्कृष्ट कोटि का माना जाता है। परंतु जिसको लेकर गुप्त काल का सबसे ऊँचा नाम है वह है कालिदास की कृति। कालिदास का **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** विश्व की एक सौ उत्कृष्टतम साहित्यिक कृतियों में एक है। इसमें राजा दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम की कथा चित्रित है, जिनका पुत्र भरत नामी राजा हुआ। अभिज्ञानशाकुन्तलम् प्रथम भारतीय रचना है जिसका अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुआ। ऐसी दूसरी रचना है **भगवद्गीता**। भारत में गुप्त काल में लिखे नाटकों के बारे में दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात यह है कि ये सभी नाटक सुखान्त हैं। दुखान्त नाटक एक भी नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि उच्च वर्गों के लोग भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं। इन नाटकों में स्त्री और शूद्र प्राकृत बोलते हैं जब कि भद्रजन संस्कृत।

इस काल में धार्मिक साहित्य की रचना में भी भारी प्रगति हुई है। गुप्त काल की अधिकांश रचनाओं में प्रबल धार्मिक रुझान है। दो महान गाथाकाव्य **रामायण** और **महाभारत** ईसा की चौथी सदी में आकर लगभग पूरे हो चुके थे। **रामायण** में राम की कथा है, जिन्हें उनके पिता दशरथ ने उनकी सौतेली माँ कैकेई की साज़िशों के कारण चौदह वर्षों के लिए निष्कासित कर दिया था। वे निष्ठापूर्वक पिता की आज्ञा मानकर वन में रहने लगे जहाँ उनकी पत्नी सीता को लंकेश्वर रावण ने हर लिया। अंत में राम ने अपने भाई लक्ष्मण की सहायता से रावण को मारा और वे सीता को वापस ले आए। इस कहानी में दो आधारभूत नैतिक तत्व हैं। पहला यह कि इसमें परिवार रूपी संस्था का आदर्श दिखाया गया है, जिसमें किसी भी परिस्थिति में पुत्र को पिता की आज्ञा और छोटे भाई को बड़े भाई की आज्ञा माननी होती है, और स्त्री को पति के प्रति निष्ठा बरतनी पड़ती है। दूसरा यह कि रावण बुराई के और राम भलाई के प्रतीक हैं, अंत में असत् पर सत् की और कुव्यवस्था पर सुव्यवस्था की जीत होती है। **महाभारत** की मुख्य कथा की अपेक्षा राम की कथा कहीं अधिक सामाजिक और धार्मिक प्रभाव डाल सकी। **रामायण** के अनेकानेक रूप-रूपांतर भारतीय भाषाओं में तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की भाषाओं में पाए जाते हैं।

महाभारत सार रूप में चचेरे भाईयों के दो समूह कौरवों और पाण्डवों के आपसी झगड़े की कहानी है जो बताती है कि राजसत्ता स्वजनों के प्राण से भी अधिक प्यारी होती है। यद्यपि धृतराष्ट्र द्वारा छोड़े गए राज्य के उत्तराधिकारी पाण्डव थे, तथापि कौरवों ने सुई की नोंक भर भी जमीन देने से इंकार कर दिया। फलतः कौरवों और कृष्ण समर्थित पाण्डवों के बीच लंबी बन्धुघाती लड़ाई हुई। अंत में कौरवों को हरा कर पाण्डव विजयी हुए। इसमें भी दुष्ट शक्ति पर इष्ट शक्ति की विजय दिखाई देती है। **भगवद्गीता महाभारत** का

महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें शिक्षा दी गई है कि वर्ण और जाति के अनुसार जिसका जो कर्त्तव्य निर्धारित है उसे उस कर्त्तव्य का पालन हर हालत में किसी प्रतिफल की कामना के बिना करना चाहिए।

पुराण उपर्युक्त दोनों महाकाव्यों के ढर्रे पर ही लिखे गए हैं। इनमें जो अधिक पहले के हैं, उनका अन्तिम संकलन-संपादन गुप्तकाल में हुआ। ये मिथकों, आख्यानों और प्रवचनों से भरे हैं। इनका उद्देश्य सामान्य लोगों को शिक्षा और बुद्धिविवेक देना था। इस काल में बहुत-सी **स्मृतियाँ** भी लिखी गईं जिनमें सामाजिक और धार्मिक नियम कानून पद्य में बाँधकर संकलित किए गए हैं। स्मृतियों पर टीकाएँ लिखने की अवस्था गुप्तकाल के बाद आई।

गुप्त काल में पाणिनि और पातांजलि के ग्रंथों के आधार पर संस्कृत व्याकरण का भी विकास हुआ। यह काल विशेष रूप से स्मरणीय है **अमरकोश** को लेकर, जिसका संकलन चंद्रगुप्त द्वितीय की सभा के एक नवरत्न अमरसिंह ने किया है। प्राचीन रीति से संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों को यह शब्दकोश रटा दिया जाता है। कुल मिलाकर शास्त्रीय साहित्य के इतिहास में गुप्त काल उज्ज्वल अध्याय है। इस काल में जटिल अलंकारिक शैली का विकास हुआ, जो पुराने सरल संस्कृत साहित्य की शैली से भिन्न थी। जब हम इस काल में आगे की ओर बढ़ते हैं तो गद्य की अपेक्षा पद्य पर अधिक जोर पाते हैं। कुछ टीका ग्रंथ भी मिलते हैं। संस्कृत निःसंदेह गुप्त राजाओं की शासकीय भाषा थी। यों तो ब्राह्मण-धर्म-विषयक साहित्य की बहुतायत है, फिर भी इस काल में पहली बार धर्मनिरपेक्ष साहित्य की बहुत-सी रचनाएँ पाई जाती हैं।

दिल्ली में लौह-स्तम्भ

विज्ञान और प्रौद्योगिकी

गणित के क्षेत्र में इस काल का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है **आर्यभटीय**। इसके रचयिता आर्यभट पाटलिपुत्र के रहने वाले थे। प्रतीत होता है कि गणित के ये विद्वान विविध प्रकार की गणना में पारंगत थे। इलाहाबाद जिले में मिले 448 ई. के एक गुप्त अभिलेख से पता चलता है कि ईसा की पाँचवीं सदी के आरंभ में भारत में दाशमिक पद्धति ज्ञात थी। खगोलशास्त्र में रोमकसिद्धान्त नामक पुस्तक रची गई इसके नाम से ही अनुमान किया जा सकता है कि इस पर यूनानी चिन्तनों का प्रभाव था।

गुप्तकालीन शिल्पकारों ने अपना चमत्कार अपनी लौह और कांस्य कृतियों में दिखाया है। बुद्ध की नाना तरह की अनेकों कांस्यमूर्तियों का निर्माण बड़े पैमाने पर शुरू हो गया था, क्योंकि तब तक धातु के बारे में तकनीकी जानकारी उन्नत अवस्था में पहुँच गई थी। लोहे की वस्तुओं के बारे में सबसे अच्छा उदाहरण वह लौह-स्तंभ है जो दिल्ली में मेहरौली में स्थित हैं। इसका निर्माण ईसा की चौथी सदी में हुआ और तब से 15 सौ वर्षों के बीत जाने पर भी इसे जंग नहीं छू पाई है। यह स्तंभ शिल्पकार के महान तकनीकी कौशल का प्रमाण है यद्यपि शुष्क क्षेत्र में रहने के कारण भी इसका जीवन लंबा हुआ है। इस प्रकार का लौहस्तंभ सौ बरस पहले पश्चिम के किसी भी ढलाई-घर में बनाना संभव नहीं था। दुख की बात है कि बाद के शिल्पकार इस ज्ञान को और आगे बढ़ा नहीं सके।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :
   ज्येष्ठाधिकार, विष्टि, भुक्ति, विषय, वीथी, भक्ति, अवतार।
2. गुप्त साम्राज्य की प्रशासन पद्धति का वर्णन करें। इसमें मौर्य प्रशासन पद्धति से किन-किन बातों में अंतर है ?
3. गुप्तकाल में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता के क्या-क्या कारण थे ? उस काल के समाज और अर्थव्यवस्था पर इसका क्या प्रभाव पड़ा होगा ?
4. गुप्तकाल में जाति-प्रथाओं में किन-किन बातों में परिवर्तन आये ? विवेचन करें।
5. गुप्तकाल में हुए आर्थिक परिवर्तनों का वर्णन करें।
6. लौकिक साहित्य का क्या आशय है? इस काल की कुछ साहित्यिक कृतियों का उल्लेख करें। साहित्य की इन कृतियों की खास विशेषताएँ क्या हैं ?
7. ईसा की चौथी-छठी सदियों में धार्मिक स्थिति क्या थी ? नवागत प्रवृतियों के विशेष संदर्भ में उसका वर्णन करें।
8. गुप्तकालीन समाज में नारी की स्थिति क्या थी ?
9. विज्ञान, गणित, धातुकर्म, ललितकला और वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्तकाल की उपलब्धियों का वर्णन करें।
10. फा-हियान और उस के भारत-वर्णन का विवरण लिखें।
11. गुप्तकाल में हुए सांस्कृतिक विकासों पर परियोजना तैयार करें और सामग्री एकत्र कर प्रदर्शन के लिए तैयारी करें।

अध्याय 22

पूर्वी भारत में सभ्यता का प्रसार

सभ्यता के लक्षण

कोई भी क्षेत्र तभी सभ्य माना जाएगा जब वहाँ लिखने की कला ज्ञात हो, कर-संग्रह करने और सुव्यवस्था बनाए रखने की कोई प्रणाली हो, तथा धार्मिक, प्रशासनिक और उत्पादनात्मक कार्यों के संपादन के लिए सामाजिक वर्ग और विशेषज्ञ उपलब्ध हों। सब से बढ़कर, सभ्य समाज में उतना उत्पादन करने की क्षमता होनी चाहिए जितने से न केवल शिल्पियों व कृषकों जैसे वास्तविक उत्पादकों की ही नहीं, बल्कि उत्पादन-कार्य से दूर रहने वाले उपभोक्ताओं की भी आवश्यकता पूरी की जा सके। ये सभी तत्व सभ्यता की ओर बढ़ाने वाले हैं। परंतु ये सभी तत्व पूर्वी भारत के काफ़ी बड़े हिस्से में यथेष्ठ मात्रा में बहुत ही बाद में दिखाई देते हैं। पूर्वी मध्य प्रदेश के अधिकतर भागों में तथा उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, बांगलादेश और असम के संलग्न क्षेत्रों में ईसा की चौथी सदी के मध्य तक कोई लिखित दस्तावेज़ नहीं के बराबर मिलता है।

चौथी से सातवीं सदी तक के काल की विशेषता है मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पूर्वी और दक्षिण पूर्वी बंगाल तथा असम में उन्नत कृषि-अर्थव्यवस्था का प्रसार, राज्यतंत्रों का गठन, और सामाजिक वर्गों की स्थापना। यह बात इन क्षेत्रों में बिखरे पाए गए गुप्त काल के बहुत-सारे अभिलेखों से मालूम होती है। अनेक अभिलेखों में काल का उल्लेख गुप्त संवत् में किया गया है। ये अभिलेख अधिकतर ऐसे शासनपत्र हैं जिनके जरिए सामंतों और अन्य लोगों ने धर्मार्थ भूमि-दान बौद्धों और ब्राह्मणों को तथा वैष्णव मंदिरों और बौद्ध विहारों को दिया है। इन अनुदानभोगियों ने संस्कृति के उन्नायक तत्वों को फैलाने और मजबूत बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रक्रिया को समझने के लिए एक-एक इलाके का अलग-अलग सर्वेक्षण करना होगा।

उड़ीसा और पूर्वी एवं दक्षिणी मध्य प्रदेश

महानदी के दक्षिण में उड़ीसा का समुद्रतटवर्ती प्रदेश जो कलिंग कहलाता था अशोक के काल में सहसा उत्कर्ष पर चढ़ गया, लेकिन वहाँ सुदृढ़ राज्य की स्थापना बहुत दिनों के बाद ईसा-पूर्व पहली सदी में आकर हुई। इसका शासक खारवेल बढ़ते-बढ़ते मगध तक चढ़ आया। ईसा की पहली और दूसरी सदियों में उड़ीसा के बंदरगाहों में

मोती, हाथी दाँत और मलमल का अच्छा व्यापार चलता था। भुवनेश्वर से 60 किलोमीटर दूरी पर खारवेल की राजधानी कलिंगनगरी के स्थल पर शिशुपालगढ़ में जो खुदाई हुई है उसमें रोम की कई वस्तुएँ मिली हैं। उनसे प्रकट होता है कि वहाँ रोमन साम्राज्य से व्यापारिक संपर्क था। परंतु उड़ीसा का अधिकतर भाग, खास कर उत्तर उड़ीसा, न तो राज्य-गठन कर सका और न वहाँ कोई खास वाणिज्य- संबंधी चहल-पहल ही रही। चौथी सदी में, समुद्रगुप्त द्वारा विजित प्रदेशों की सूची में कोसल और महाकान्तार आए हैं। इन दोनों के अंतर्गत उत्तरी और पश्चिमी उड़ीसा के भाग आते हैं। चौथी सदी के मध्य से छठी सदी तक उड़ीसा में कई राज्य स्थापित हुए, और इन में कम से कम पाँच की पहचान तो साफ़-साफ़ की जा सकती है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण माठर वंश का राज्य है। इसे **पितृभक्त** वंश भी कहते हैं। जब उनकी सत्ता चोटी पर थी, महानदी और कृष्णा के बीच उनका राज्य फैला हुआ था। वसिष्ठ, नल और मान वंशों के राज्य उनके पड़ोसी और समकालीन थे। वसिष्ठ वंश का राजा दक्षिण कलिंग में आन्ध्र की सीमाओं पर था, नल वंश का राज्य महाकान्तार के वन्य प्रदेशों में था, और मान वंश का राज्य महानदी के पार उत्तर के समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में था। प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी कर-संग्रह, प्रशासन और सैन्य संगठन की पद्धति थी। नल वंश ने और संभवतः मान वंश ने भी सिक्के ढाले। हर राज्य ने ब्राह्मणों को बुलाया था। अधिकांश राजा वैदिक यज्ञ करते थे, जिसका उद्देश्य न केवल पुण्य अर्जित करना था, बल्कि अपनी शक्ति, प्रतिष्ठा और वैधता स्थापित करना भी था।

इस काल में उन्नत संस्कृति के तत्व न केवल कलिंग नाम से विदित समुद्रतटवर्ती पट्टी तक ही सीमित थे, बल्कि उड़ीसा के अन्य भागों में भी दिखाई देने लगे थे। मध्य प्रदेश में बस्तर के जनजातीय इलाके में जो नल वंश की स्वर्णमुद्राएँ मिली हैं वे कुछ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। वे बतलाती हैं कि वहाँ अर्थव्यवस्था विकसित हो चुकी थी जिसमें बड़ी-बड़ी लेन-देन में और ऊँचे अधिकारियों के वेतनभुगतान में स्वर्णमुद्रा का प्रयोग होता था। इसी तरह माठ वंश ने भी शायद ताँबे के सिक्के जारी किए, जिसका मतलब होता है कि शिल्पियों और किसानों के बीच भी सिक्कों का प्रचलन था। कई राज्यों ने ग्रामीण क्षेत्र में नई-नई राजस्व इकाइयाँ स्थापित करके अपनी आय बढ़ाई। माठरों ने महेन्द्र पर्वत के क्षेत्र में महेन्द्रभोग नाम का नया ज़िला बनाया। उसके पास दन्तयवागुभोग नाम का एक ज़िला था जहाँ से इसके प्रशासकों को हाथी दाँत और चावल का माड़ प्राप्त होता था। इससे पता चलता है कि वह ज़िला किसी पिछड़े इलाके में बनाया गया होगा। माठरों ने एक प्रकार के न्यास स्थापित किए जो **अग्रहार** कहलाते थे। इस न्यास में कुछ भूमि होती थी और गाँवों से होने वाली आय। इन अग्रहारों का उद्देश्य पठन-पाठन और धार्मिक अनुष्ठानों में लगे ब्राह्मणों का भरण-पोषण करना था। यहाँ कुछ अग्रहारों से कर उगाहा जाता था, जबकि देश में अन्यत्र ऐसे अग्रहार कर-मुक्त होते थे। जनजातीय, जंगली और लाल मिट्टी वाले क्षेत्रों में भूमिदान दे-दे कर ब्राह्मणों को बसाने से नई-नई परती ज़मीन में खेती शुरू हुई और मौसम की अच्छी

जानकारी के सहारे खेती के सुधरे तरीके शुरू हुए। आरंभ में वर्ष चार-चार महीनों के तीन भागों से बाँटा जाता था, और काल को गणना तीन ऋतुओं के आधार पर की जाती थी। माठरों के अमल में पाँचवीं सदी के मध्य से वर्ष को बारह चान्द्र मासों में विभाजित करने की परंपरा चली। इसमें मौसम की स्थिति को ठीक से जानना आवश्यक हुआ, जो कृषि-कार्य के लिए बड़ा उपयोगी था।

उड़ीसा के समुद्रतटवर्ती भाग में लेखन-कला ईसा-पूर्व तीसरी सदी से ही ज्ञात थी, और ईसा की चौथी सदी तक के अभिलेख प्राकृत में मिलते हैं। परंतु 350 ई. के आसपास से संस्कृत का प्रयोग शुरू हुआ। इससे भी महत्त्व की बात यह है कि इस भाषा में लिखे भूमिअनुदान-पत्र समुद्रतटवर्ती क्षेत्र के बाहर उत्तर में महानदी के पार भी मिलते हैं। इस प्रकार प्रकट होता है कि लिखने की कला और संस्कृत भाषा का प्रसार उड़ीसा के बड़े हिस्से में हो गया था, और इस काल के कुछ अभिलेखों में उत्कृष्ट संस्कृत श्लोक पाए गए हैं। इन नए क्षेत्रों में संस्कृत न केवल ब्राह्मणिक धर्म और संस्कृति के लिए बल्कि संपत्तिसंबंधी कानूनों और सामाजिक नियमों के लिए भी सामान्य माध्यम का काम देती रही। संस्कृत के शासनपत्रों (चार्टरों) में पुराणों और धर्मशास्त्रों के वचन उद्धृत किए गए हैं। इनमें राजा अपने को वर्णव्यवस्था का रक्षक कहता है। इनमें गंगा के मैदान की संस्कृति से लोगों के लगाव पर ज़ोर दिया गया है। प्रयाग के गंगा-यमुना संगम में स्नान को पवित्र माना गया है और विजयी राजा प्रयाग की तीर्थयात्रा करते हैं।

बंगाल

बंगाल के बारे में, इस बात का प्रमाण मिलता है कि उत्तरी बंगाल के कई भागों में, जहाँ अब बोगरा ज़िला है, अशोक काल में लेखन प्रचलित था। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कई बस्तियों में बौद्ध भिक्षुओं के भरण-पोषण के लिए अनाज और सिक्कों से भरे भंडार-घर थे। स्पष्ट है कि स्थानीय किसान ऐसी स्थिति में थे कि अपनी उपज का कुछ भाग बचाकर कर चुकाएँ और दान-पुण्य करें। इस इलाके के लोग प्राकृत जानते थे और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इसी तरह दक्षिण-पूर्व बंगाल के समुद्रतटवर्ती नोआखाली ज़िले में मिले एक अभिलेख से प्रकट होता है कि उस इलाके के लोग ईसा-पूर्व दूसरी सदी में प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि जानते थे। लगता है कि दक्षिण-पूर्व बंगाल में खरोष्टी लिपि भी प्रचलित थी। परंतु बंगाल के अधिकतर भाग के बारे में हम तब तक कुछ नहीं जानते जब तक ईसा की चौथी सदी में नहीं पहुँचते हैं। लगभग मध्य चौथी सदी में **महाराज** उपाधिधारी एक राजा बाँकुरा जिले के दामोदर तटवर्ती पोखरना में राज करता था। वह संस्कृत जानता था और विष्णु का उपासक था, जिसकी पूजा के लिए उसने शायद एक गाँव का अनुदान किया था।

गंगा और ब्रह्मपुत्र के बीच का प्रदेश, जहाँ सम्प्रति बांगलादेश है, पाँचवीं और छठी सदियों में बस्तियों से भरा-पूरा था और वहाँ संस्कृत शिक्षा प्रचलित हो चुकी थी। लगता है 550 ई. के बाद गुप्त राजाओं के गवर्नर स्वतंत्र हो गए, और उन्होंने उत्तर बंगाल पर कब्ज़ा कर लिया। इस

के कुछ भाग को कामरूप के राजाओं ने हथिया लिया होगा। स्थानीय अधीनस्थ राजाओं ने, जो **सामन्त महाराज** कहलाते थे, स्थानीय प्रजा से कर वसूलने के लिए तथा अपने प्रतिद्वंद्वियों से लड़ाई में सामना करने के लिए अपना-अपना प्रशासन-तंत्र स्थापित किया; हाथियों, घोड़ों और पैदल सिपाहियों की सेना गठित की। 600 ई. में आकर यह प्रदेश **गौड़** कहलाने लगा और यहाँ हर्ष के शत्रु शशांक ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया।

432-33 ई. से लेकर लगभग सौ वर्षों तक हमें पुण्ड्रवर्धनभुक्ति में, जो लगभग समूचे उत्तरी बंगाल में स्थित था और अब जिसमें अधिकतर बांग्लादेश शामिल है, बड़ी संख्या में ताम्रपत्र मिले हैं जिन पर भूमि के विक्रय और अनुदान अभिलिखित हैं। अधिकतर अनुदानपत्रों से ज्ञात होता है कि भूमि का मूल्य दीनार नामक स्वर्ण-मुद्राओं में चुकाया जाता था। परंतु जब कभी भूमि का अनुदान धार्मिक प्रयोजनों के लिए किया जाता था तब अनुदान पाने वालों को कर नहीं लगता था। भूमि-हस्तान्तरण के इन अभिलेखों से पता चलता है कि ऐसे हस्तान्तरणों में प्रमुख लिपिकारों (कातिबों), वणिकों, शिल्पियों, भूस्वामियों आदि के नाम रहते थे जो गुप्त साम्राज्य में गवर्नरों द्वारा संचालित स्थानीय प्रशासन से संबद्ध होते थे। इन भूमि-हस्तान्तरण अभिलेखों से हमें न केवल विभिन्न सामाजिक समूहों और स्थानीय अधिकारियों के बारे में, अपितु कृषि के विस्तार के बारे में भी महत्त्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। अधिकतर, धार्मिक अनुदान के लिए खरीदी गई ज़मीन को परती, गैर-आबाद और इसलिए कर-हीन बताया गया है। ज़मीन से लाभ उठाने के लिए इन अनुदानों के परिणामस्वरूप उसमें खेती होने लगी और बस्तियाँ बसने लगी होंगी।

बंगाल का ब्रह्मपुत्र द्वारा गठित त्रिभुजाकार भाग **समतट** कहलाता था, जिसे चौथी सदी में समुद्रगुप्त ने जीता था। दक्षिण-पूर्वी बंगाल इसी में पड़ता है। इसका कुछ भाग आबादीवाला और मूल्यवान रहा होगा, इसीलिए तो विजेता गुप्त राजा का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ होगा। लेकिन शायद इसके शासक ब्राह्मणधर्मावलंबी नहीं हुए थे, इसीलिए यहाँ न संस्कृत भाषा का प्रयोग पाते हैं और न वर्णव्यवस्था का प्रचलन; जैसा कि उत्तरी बंगाल में पाते हैं। लगभग 525 ई. से इस प्रदेश में सुसंगठित राज्य रहा है जिसमें समतट के अतिरिक्त उसकी पश्चिमी सीमा से सटा वंग का भाग भी शामिल था। यह समतट राज्य या वंग कहलाता था। सम हरदेव सहित इसके शासकों ने छठी सदी के उत्तरार्ध में स्वर्णमुद्राएँ जारी कीं।

इस राज्य के अतिरिक्त, हम सातवीं सदी में ढाका क्षेत्र में खड्ग वंश का राज्य पाते हैं। यहाँ और दो राज्य भी पाते हैं, लोकनाथ नामक ब्राह्मण सामंत का राज्य और राट वंश का राज्य। दोनों कुमिल्ला क्षेत्र में पड़ते हैं। दक्षिण-पूर्व और मध्य बंगाल के इन सभी राजाओं ने छठी और सातवीं सदियों में भूमि के अनुदानपत्र जारी किए। उड़ीसा के राजाओं की भाँति उन्होंने भी अग्रहारों की स्थापना की। इन अनुदानपत्रों से ज्ञात होता है कि उन इलाकों में सातवीं सदी के उत्तरार्ध में संस्कृत की शिक्षा प्रचलित थी, और इसीलिए इनमें कई जटिल छन्दों का प्रयोग मिलता है। साथ ही इनसे खेती के और ग्रामीण बस्तियों के फैलाव का भी पता चलता है। बंगाल और उड़ीसा के बीच वाले

सीमान्त क्षेत्रों में **दण्डभुक्ति** नाम की राजस्व और प्रशासन संबंधी इकाई बनाई गई थी। दण्ड का अर्थ है राज़ा, और भुक्ति का अर्थ है भोग। अत: लगता है कि इस इकाई की स्थापना उस इलाके के जनजातीय बाशिन्दों को सुधारने और सज़ा देने के उद्देश्य से की गई होगी। इससे जनजातीय क्षेत्रों में संस्कृत भाषा का तथा संस्कृति के अन्य तत्वों का प्रचार बढ़ा होगा। वर्धमानभुक्ति (बर्दवान) में भी ऐसा ही हुआ होगा, जिसका पता हमें छठीं सदी में आकर चलता है। दक्षिण-पूर्वी बंगाल में फ़रीदपुर क्षेत्र में पाँच किता ज़मीन एक बौद्ध विहार को दी गई, जो परती थी, पानी में डूबी रहती थी और इसलिए कर लगाने लायक नहीं थी। इसी तरह, कुमिल्ला ज़िले में हिरणों, सूअरों, भैंसों, बाघों, सांपों आदि से भरे जंगली इलाके में बहुत-सारी जमीन 200 ब्राह्मणों को दान दी गई। ये सभी उदाहरण इस बात के साक्ष्य हैं कि नए-नए क्षेत्रों में जनपदनिवेश और सभ्यता के प्रसारण की प्रक्रिया चालू थी।

बंगाल के इतिहास में लगभग पाँचवीं सदी के मध्य से दो सदियाँ बड़ी ही गतिशील मालूम पड़ती हैं। इस अवधि में लगभग आधे दर्जन राज्य उदित हुए – कुछ छोटे, कुछ बड़े, कुछ स्वतंत्र और कुछ सामंती। पर हर राज्य का अपना-अपना विजय-शिविर या सैन्य-शिविर था जिसमें पैदल, घुड़सवार, हाथी और नाव वाली टुकड़ियाँ रहती थीं। हर राज्य के अपने-अपने कर-संबंधी और प्रशासनिक ज़िले थे जिनमें कर-संग्रह और शान्ति-सुव्यवस्था के लिए कर्मचारी दल रहते थे। हर राज्य युद्ध करके तथा बौद्धों और ब्राह्मणों को भूमिदान देकर अपनी सत्ता का विस्तार करता था। धार्मिक न्यासों की संख्या इतनी बढ़ गई कि अंततोगत्वा उनकी देखभाल करने के लिए **अग्रहारिक** नाम का एक अधिकारी नियुक्त करना पड़ा। भूमिदान से ग्रामों का विस्तार हुआ और भूमि पर कई नए-नए अधिकार सृजित हुए। सामान्यतया भूमि पर स्वामित्व अलग-अलग परिवारों का होता था, लेकिन भूमि की खरीद-बिक्री पर ऊपरी नियंत्रण स्थानीय समितियों का रहता था जिनमें मुख्य-मुख्य शिल्पियों, वणिकों, भूस्वामियों, लिपिकारों आदि का हाथ रहता था। ये समितियाँ स्थानीय राज-प्रतिनिधियों की मदद करती थीं। लेकिन गाँव की जमीन की बिक्री के मामले में गाँव के किसानों की सलाह ली जाती थी। लगता है कि अतीत में भूमि कबीले की या समुदाय की होती थी, इसलिए भूमि वही किसी को दे सकता था। अत: जब कोई अपनी व्यक्तिगत भूमि भी किसी धार्मिक प्रयोजन के लिए दान देना चाहता था तो उसमें समुदाय की अनुमति लेने की प्रथा का पालन करता था। संभवत: पूर्व काल में समुदाय धार्मिक कार्यों के लिए ब्राह्मणों को भूमि देता था और सैनिक और राजनीतिक सेवाओं के लिए राजा को कर देता था। बाद में राजा ने प्रजा-समुदाय से बहुत-सी ज़मीन अपने हाथ में ले ली और अपनी सत्ता बहुत ऊँची कर ली जिससे वह कर वसूलने में समर्थ हो गया, तथा बंजर और परती भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया। हर राज्य के प्रशासनिक अधिकारी लोग संस्कृत जानते थे जो राजकाज की भाषा थी। वे पुराणों और धर्मशास्त्रों का सार जानते थे। इस प्रकार यह अवधि बड़े महत्त्व की रही, क्योंकि इस काल में सभ्यता फैलाने का अभियान इस क्षेत्र में खूब आगे बढ़ा।

असम

ब्रह्मपुत्र मैदान में पूरब से पश्चिम तक फैला कामरूप सातवीं सदी में उभरकर आगे आया। लेकिन उत्खननों से पता चलता है कि गुवाहाटी के निकट बस्तियाँ ईसवी सन् की चौथी सदी में बस चुकी थीं। इसी सदी में समुद्रगुप्त ने डवाक और कामरूप से कर वसूला था। डवाक शायद नवगाँव जिले का भाग था और कामरूप तो निश्चय ही बह्मपुत्र के मैदान का नाम था। समुद्रगुप्त ने जिन शासकों से कर वसूला था वे जनजातीय किसानों से कर वसूलकर निर्वाह करते रहे होंगे।

गुवाहाटी के पास अम्बारी में हुए उत्खननों से प्रकट होता है कि वहाँ छठी और सातवीं सदी में बस्तियाँ अच्छी तरह विकसित हो चुकी थीं। इसकी पुष्टि अभिलेखों से भी होती है। छठी सदी के आरंभ तक लेखन-कला और संस्कृत भाषा प्रचलित हो चुकी थी। कामरूप के राजाओं ने **वर्मन्** उपाधि धारण की। यह उपाधि केवल उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में ही नहीं फैली अपितु बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्र, कर्नाटक और तमिलनाडु में भी पाई जाती है। यह उपाधि, जिसका अर्थ है कवच या ज़िरह-बख्तर और जो योद्धा होने का प्रतीक है, मनु ने क्षत्रियों के लिए निर्धारित की है। कामरूप के राजाओं ने ब्राह्मणों को भूमिदान दे-देकर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया। सातवीं सदी में भास्करवर्मन् ऐसे राज्य के प्रधान के रूप में खड़ा हुआ, जिसका नियंत्रण ब्रह्मपुत्र मैदान के बड़े भाग पर और उसके आगे के कुछ क्षेत्रों पर भी था। यहाँ बौद्ध धर्म के भी पैर जमे हुए थे और चीनी यात्री हुआन सांग इस राज्य में घूमा था।

रचनात्मक काल

यद्यपि पूर्वी भारत के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न कालों में उत्कर्ष पर पहुँचे, फिर भी चौथी सदी से सातवीं सदी तक के काल को रचनात्मक काल कह सकते हैं। इस काल में पूर्वी मध्य प्रदेश, उत्तरी उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और असम में तथा बांग्लादेश के एक बड़े भाग में संस्कृत विद्या, वैदिक कर्मकाण्ड, वर्णव्यवस्था और राज्यतंत्र फैले और विकसित हुए। गुप्त साम्राज्य से होने वाले सांस्कृतिक सम्पर्कों से पूर्वांचल में सभ्यता के प्रसार को बल मिला। उत्तरी बंगाल और पश्चिमोत्तर उड़ीसा पर गुप्तों का राज छाया। इस अंचल के अन्य क्षेत्रों में गुप्त साम्राज्य से सम्पर्क का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि यहाँ के अभिलेखों में गुप्त संवत् का प्रयोग किया गया है। बंगाल में सामंतों ने नए-नए राज्य स्थापित किए, जो हाथी, घोड़े, नाव आदि साधन भारी मात्रा में अपने सैन्य-शिविरों में रखते थे। ज़ाहिर है कि वे वेतनभोगी सेना के रख-रखाव के लिए ग्रामीण समुदायों से नियमित रूप से कर वसूलते थे। पहली बार हम इस अंचल में पाँचवीं और छठी सदियों में स्पष्ट रूप से बड़े पैमाने पर लेखन, संस्कृत भाषा का प्रयोग, वर्णभेदमूलक समाज का गठन, तथा बौद्ध धर्म का प्रचलन पाते हैं। हम शैव और वैष्णव संप्रदाय के रूप में ब्राह्मण धर्म की प्रगति देखते हैं। भूमि पर सामुदायिक स्वत्व का तो अवशेष मात्र पाते हैं, परंतु जमीन के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व पाते हैं और स्वर्णमुद्राएँ भी पाते हैं जिनसे वह सम्पत्ति खरीदी जा सके। ये सभी सिद्ध करते हैं कि खाद्य-उत्पादक

अर्थव्यवस्था उन्नत अवस्था में पहुँच चुकी थी। कहना न होगा कि लोहे के फाल वाले हलों से कृषि, पानी में रोप कर धान की खेती, और तरह-तरह के शिल्प-कौशल की जानकारी इसकी आधार-शिला थी। कालिदास ने वंग में होने वाली धान के बिचड़ों की रोपाई का वर्णन किया है, पर मालूम नहीं कि यह कृषि-परम्परा स्थानीय थी या मगध से सीखी हुई। उत्तरी बंगाल में ऊँची किस्म की ईख उपजाई जाती थी। इन सबों से पर्याप्त मात्रा में कृषि उत्पादन सम्भव हुआ, जिससे कि प्रजा और राजा दोनों का निर्वाह हो, तथा गैर-आबाद और विरल आबादी वाले क्षेत्रों में ग्रामीण बस्तियों के प्रसार को बल मिला। उस काल के राजाओं, राजवंशों और सामंतों की तथा उन पर शासन करने वाली केन्द्रीय सत्ता की स्पष्ट रूपरेखा खींच पाना तो संभव नहीं है, लेकिन पूर्वांचल के दूरवर्ती प्रांतों में संस्कृति का विकास और सभ्यता का प्रकाश हुआ, इसके बारे में संदेह की गुंजाइश नहीं है।

एक ओर गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ तो दूसरी ओर उसी समय बाहरी प्रांतों में उल्लेखनीय प्रगति हुई। बहुत-से ऐसे अनदेखे क्षेत्र, जो सम्भवतः जनजातीय सरदारों के अधीन थे और विरल आबादीवाले थे, इतिहास की रोशनी में चमके। यह बात लाल मिट्टी वाले उस भू-भाग पर लागू होती है जो पश्चिमी बंगाल और उत्तरी उड़ीसा में तथा मध्य प्रदेश से सटे क्षेत्रों में छोटानागपुर पठार के भीतर पड़ता है और बहुत कठिनाई से ही खेती करने और बसने के लायक हो सकता है। बांग्लादेश के जलोढ़ मिट्टी और भारी वर्षा वाले जंगली इलाकों के बारे में तथा ब्रह्मपुत्र के मैदानी इलाकों के बारे में तो यह और भी लागू होती है।

अभ्यास

1. मोटे तौर पर ईसा की चौथी से सातवीं सदी तक की अवधि पूर्वी भारत के अधिकतर भागों के इतिहास में क्यों महत्त्वपूर्ण है? विवेचन करें।
2. पूर्वी भारत में राज्यों के गठन की प्रक्रिया का वर्णन करें। इन राज्यों में ब्राह्मणों की स्थिति और भूमिका क्या थी ?
3. भूमिअनुदान का क्या अभिप्राय है? पूर्वी भारत के राज्यों में उदित समाज-व्यवस्था में भूमिदानों की क्या भूमिका रही ?
4. इस अध्याय में उल्लिखित राज्यों की सूची बनाएँ और भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर उन राज्यों के अन्तर्गत क्षेत्रों को दर्शाएँ।

अध्याय 23

हर्ष और उसका काल

हर्ष का राज्य

गुप्तवंश ने बिहार और उत्तर प्रदेश स्थित अपने सत्ता-केंद्र से उत्तर और पश्चिम भारत पर ईसा की छठी सदी के मध्य तक लगभग 160 वर्ष राज किया। उसके बाद उत्तर भारत फिर अनेक राज्यों में बँट गया। गोरे हूणों ने लगभग 500 ई. से कश्मीर, पंजाब और पश्चिमी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उत्तरी और पश्चिमी भारत लगभग आधे दर्जन सामन्त राजाओं के हाथ में चला गया, जिन्होंने गुप्त साम्राज्य को आपस में बाँट लिया था। इनमें से एक ने, जो हरियाणा स्थित थानेसर का शासक था, धीरे-धीरे अपनी प्रभुता अन्य सभी सामन्तों पर कायम कर ली। यह शासक था हर्षवर्धन (606-647 ई.)। थानेसर स्थित 'हर्ष के टीले' की खुदाई में कुछ ईंट की इमारतें मिली हैं, पर वे राजमहल जैसी नहीं हैं।

हर्ष ने कन्नौज को राजधानी बनाया, जहाँ से उसने चारों ओर अपना प्रभुत्व फैलाया। सातवीं सदी के आते-आते पाटलिपुत्र के बुरे दिन आ गए और कन्नौज का सितारा चमका। यह कैसे हुआ? पाटलिपुत्र की सत्ता और महत्ता व्यापार-वाणिज्य पर और मुद्रा-धन के व्यापक प्रचलन पर टिकी थी। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों दिशाओं से नदियों के रास्ते व्यापारी लोग नगर में आते थे और उनसे चुंगी वसूली जाती थी।

परंतु ज्यों ही व्यापार में गिरावट आई, मुद्रा दुर्लभ होती गई, और अधिकारियों व सैनिकों को नकद वेतन के बदले भूमि अनुदान दिया जाने लगा, त्यों ही नगर का महत्त्व समाप्त हो गया। वास्तविक शक्ति स्कन्धावारों अर्थात् फ़ौजी पड़ावों में चली गई और बड़े भू-भाग पर प्रभुत्व रखने वाले सैनिक महत्त्व के स्थान प्रमुख हो गए। एक ऐसा ही स्थान था कन्नौज, जो उत्तर प्रदेश के फ़र्रुखाबाद ज़िले में पड़ता है। वह छठी सदी के उत्तरार्ध से अचानक राजनीतिक उत्कर्ष पर चढ़ गया। हर्ष के समय से लेकर कन्नौज का राजनीतिक शक्ति के केंद्र के रूप में उभरना उत्तर भारत में सामन्त युग के आगमन का सूचक था—ठीक उसी तरह जैसे पाटलिपुत्र मुख्यतया प्राक-सामन्तीय स्थिति का निदर्शक था। समतल स्थानों में किलाबन्दी बहुत कठिन होती है, लेकिन कन्नौज ऊँची जगह पर था, अत: उसे किलाबन्द

करना आसान था। वह दोआब के बीच में था। सातवीं सदी में उसकी उत्तम ढंग से किलाबंदी की गई। अत: दोआब के पूर्वी और पश्चिमी दोनों बाजुओं पर नियंत्रण रखने के लिए जल और स्थल दोनों मार्गों से सैनिक आ-जा सकते थे।

हर्ष के शासन काल का आरंभिक इतिहास बाणभट्ट से ज्ञात होता है। बाणभट्ट हर्ष का दरबारी कवि था, जिसने हर्षचरित नामक पुस्तक लिखी है। इस इतिहास को चीनी यात्री हुआन सांग के विवरण के साथ मिलाकर पूरा किया जा सकता है, जो ईसा की सातवीं सदी में भारत आया और लगभग 15 वर्ष इस देश में रहा। हर्ष के अपने अभिलेखों से विभिन्न प्रकार के करों और अधिकारियों के बारे में जानकारी मिलती है।

हर्ष को भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट कहा गया है, लेकिन वह न तो कट्टर हिन्दू था और न सारे देश का शासक ही। उसका राज्य कश्मीर को छोड़ उत्तर भारत तक सीमित था। राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार उसके प्रत्यक्ष नियंत्रण में थे। लेकिन उसका दबदबा इससे कहीं अधिक क्षेत्र में था। लगता है कि सीमान्त राज्य उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार करते थे। पूर्वी भारत में उसे मुकाबला करना पड़ा गौड़ के शैव राजा शशांक से, जिसने बोध गया में बोधिवृक्ष को काट डाला। 619 ई. में शशांक की मृत्यु हुई, तब से यह शत्रुता समाप्त हो गई। दक्षिण की ओर हर्ष के अभियान को नर्मदा के किनारे चालुक्य वंश के राजा पुलकेशिन् ने रोका। पुलकेशिन् आधुनिक कर्नाटक और महाराष्ट्र के बड़े भूभाग पर शासन करता था। उसकी राजधानी कर्नाटक में आधुनिक बीजापुर जिले के बादामी में थी। इसको छोड़ हर्ष को अन्य किसी तगड़े विरोध का सामना नहीं करना पड़ा, और वह देश के काफी बड़े भाग को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधने में सफल रहा।

प्रशासन

हर्ष ने अपने साम्राज्य का प्रशासन उसी ढर्रे पर किया जिस ढर्रे पर गुप्तवंशियों ने किया था, फर्क यही है कि हर्ष का प्रशासन अधिक सामन्तिक और विकेन्द्रित था। कहा जाता है कि हर्ष के पास 1,00,000 घोड़े और 60,000 हाथी थे। यह बात अचरज-सी लगती है, क्योंकि सुदूर दक्षिण को छोड़ सारे भारत पर शासन करने वाले मौर्य राजाओं के पास भी केवल 30,000 घोड़े और 9,000 हाथी थे। हर्ष के पास बड़ी सेना तभी हो सकती थी यदि वह युद्ध के समय अपने सभी सामन्तों का सहयोग प्राप्त कर सकता। लगता है कि उसे हर सामन्त निर्धारित मात्रा में पैदल सैनिक और घोड़े देता था, और इस प्रकार उसने अपनी शाही सेना को आकार में विशाल बना लिया।

राज्य को समर्पित विशेष सेवाओं के लिए पुरोहितों को भूमि-दान देने की परंपरा जारी रही। इतना ही नहीं, हर्ष ने पदाधिकारियों को शासनपत्र (सनद) के द्वारा ज़मीन देने की प्रथा चलायी। इन अनुदानों में भी वही रियायतें शामिल थीं जो पिछले अनुदानों में रहती थीं। चीनी यात्री हुआन सांग ने बताया है कि हर्ष की राजकीय आय चार भागों में बाँटी जाती थी। एक भाग राजा के खर्च के लिए रखा जाता था, दूसरा भाग विद्वानों के लिए, तीसरा भाग पदाधिकारियों और अमलों के बन्दोबस्त के लिए, और चौथा भाग धार्मिक कार्यों के लिए। उसने यह भी बताया कि राज्य के मंत्रियों और ऊँचे अधिकारियों को जागीर दी जाती थी। लगता है, अधिकारियों को वेतन

और पुरस्कार के रूप में भूमि देने की सामंती प्रथा हर्ष ने ही शुरू की। इसलिए हम हर्ष के सिक्के अधिक मात्रा में नहीं पाते हैं।

हर्ष के साम्राज्य में विधि-व्यवस्था अच्छी नहीं थी। चीनी यात्री हुआन सांग की सुरक्षा का प्रबंध राज्य की ओर से खास तौर से किया गया होगा, फिर भी डाकुओं ने उसके माल-असबाब छीन लिए। हुआन सांग लिखता है कि देश के कानून में अपराध के लिए कड़ी सज़ा का विधान था। डकैती तो दूसरा राजद्रोह मानी जाती थी और उसके लिए डाकू का दायाँ हाथ काट दिया जाता था। परंतु प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव में पड़कर दण्ड की कठोरता कम कर दी गई, और अपराधियों को आजीवन कारावास दिया जाने लगा।

हुआन सांग का विवरण

हर्ष के शासन काल का महत्त्व चीनी यात्री हुआन त्सांग के भ्रमण को लेकर है। वह चीन से 629 ई. में चला और सारे रास्ते घूमते हुए भारत पहुँचा। भारत में लंबे अरसे तक ठहर कर 645 ई. में चीन लौट गया। वह नालन्दा महाविहार अर्थात् बौद्ध विश्वविद्यालय में, जो बिहार के आधुनिक नालंदा जिले में था, पढ़ने के लिए और भारत से बौद्ध ग्रंथ बटोर कर ले जाने के लिए आया था। उसने हर्ष के दरबार में कई वर्ष बिताए और भारत में व्यापक भ्रमण किया। हुआन सांग के प्रभाव में पड़कर हर्ष बौद्ध धर्म का महान् समर्थक हो गया और उसने इसके लिए उदारतापूर्वक दान दिए। उसने हर्ष के दरबार का और उस समय के जीवन का सजीव विवरण लिखा, और यह विवरण फा-हियान के विवरण से कहीं अधिक भरपूर और विश्वसनीय है। इससे तत्कालीन लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर तथा तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों पर काफी प्रकाश पड़ता है।

उक्त चीनी विवरण से प्रकट होता है कि उस समय पाटलिपुत्र पतनावस्था में था और वैशाली का भी वही हाल था। इसके विपरीत, दोआब में प्रयाग और कन्नौज महत्त्वपूर्ण हो चले थे। कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग सादा जीवन बिताते थे, पर सामंतों और पुरोहितों का जीवन विलासमय था। इससे भान होता है कि ऊपर के दो वर्णों के बीच भी वर्गभेद या स्तर-भेद आ गया था। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों के अधिकांश लोग खेती करने लगे होंगे। हुआन सांग ने शूद्रों को कृषक कहा है जो एक महत्त्वपूर्ण बात है यद्यपि धर्मशास्त्रों और अन्य प्राचीन ग्रंथों में शूद्र को तीन वर्णों का सेवक माना गया है। चीनी यात्री ने मेहतर, चाण्डाल आदि अछूतों पर नजर डाली। वे गाँव के बाहर बसते थे और लहसुन-प्याज खाते थे। अछूत लोग नगर में प्रवेश करने से पहले जोर-जोर से आवाज करते थे ताकि लोग उनके स्पर्श से बचे रहें।

बौद्ध धर्म और नालंदा

चीनी यात्री के समय में बौद्ध लोग 18 संप्रदायों में बँटे हुए थे। बौद्ध धर्म के पुराने केंद्र दुर्दिन झेल रहे थे। सबसे विख्यात केंद्र नालंदा महाविहार था, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं को शिक्षित करने के लिए एक बड़ा विश्वविद्यालय था। कहा गया है कि वहाँ 10,000 छात्र थे, जो सभी बौद्ध भिक्षु थे। उन्हें महायान संप्रदाय का बौद्ध दर्शन पढ़ाया जाता था। यद्यपि नालन्दा के सभी टीलों

नालंदा में एक स्तूप का ध्वंसावशेष

की खुदाई नहीं हुई है तथापि जो भी खुदाई हुई उससे इमारतों का शानदार समूह प्रकाश में आया है। इन इमारतों का निर्माण और नवीकरण ईसा की पाँचवी सदी से लेकर 700 वर्षों तक होता रहा। खुदाई में जितने भवन निकले हैं उनमें 10,000 भिक्षुओं के रहने लायक जगह नहीं है। एक अन्य चीनी यात्री इ-त्सिंग 670 ई. में नालंदा आया। उसके अनुसार वहाँ केवल 3,000 भिक्षु रहते थे। यह तर्कसंगत है, क्योंकि यदि सारे टीलों की खुदाई हो जाए तब भी इमारतों में इतनी जगह नहीं होगी कि 10,000 भिक्षु रह सकें। हुआन सांग के अनुसार नालंदा विश्वविद्यालय का भरण-पोषण 100 गाँवों के राजस्व से होता था। इ-त्सिंग ने इस संख्या को बढ़ा कर 200 कर दिया है। इस प्रकार हर्षवर्धन के काल में नालन्दा में विशाल बौद्ध विहार था।

हर्ष की धार्मिक नीति सहनशील थी। वह आरंभिक जीवन में शैव था, पर धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का महान् संपोषक हो गया। नैष्ठिक बौद्ध की हैसियत से उसने महायान के सिद्धांतों के प्रचार के लिए कन्नौज में एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में न केवल चीनी यात्री हुआन सांग और कामरूप के राजा भास्करवर्मन् पधारे, बल्कि बीस देशों के राजा और विभिन्न संप्रदायों के कई हज़ार पुरोहित भी सम्मिलित हुए। फूस के दो बड़े-बड़े घर बनाए गए, जहाँ हरेक में एक-एक हजार लोग टिक सकते थे। सबसे महत्त्वपूर्ण निर्माण था एक विशाल मीनार का जिसके बीच में बुद्ध की स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित की गयी। प्रतिमा की ऊँचाई उतनी ही थी जितनी हर्ष की अपनी। हर्ष ने इस प्रतिमा की पूजा की और सार्वजनिक भोज दिया। सम्मेलन में शास्त्रार्थ का आरंभ हुआन सांग ने किया। उसने बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय के सद्गुणों का प्रतिपादन किया और श्रोताओं का आह्वान किया कि जो चाहें उसके तर्कों का खण्डन करें। लेकिन पाँच दिनों तक कोई भी खण्डन करने को खड़ा नहीं हुआ। तब उसके सैद्धान्तिक प्रतिद्वंद्वियों ने उसे जान से मार देने की साजिश की। इस पर हर्ष ने चेतावनी दी कि जो कोई हुआन सांग को छुएगा उसका सिर काट लिया जाएगा। अचानक इस महास्तंभ (मीनार) में आग लग गई और हर्ष पर घातक हमला किया गया। तब हर्ष ने 500 ब्राह्मणों को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें निर्वासित कर दिया; कुछ ब्राह्मणों को तो मौत की भी सज़ा मिली। इससे प्रकट होता है कि वह धर्म के विषय में उतना सहनशील नहीं था जितना उसे बताया जाता है। कन्नौज के बाद उसने प्रयाग में महासम्मेलन बुलाया। इसमें उसके सभी सामन्त, मंत्री, सभ्य आदि उपस्थित हुए थे। इस अवसर पर

भी बुद्ध की प्रतिमा का पूजन हुआ, और हुआन सांग ने प्रवचन किया। अंत में हर्ष ने बड़े-बड़े दान किए और अपने शरीर के वस्त्रों को छोड़ सभी वस्तुओं का दान कर दिया। हुआन सांग ने हर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। राजा उसके प्रति कृपालु था, शिष्ट था, और उपकारी था, और उस चीनी तीर्थ -यात्री ने साम्राज्य के विभिन्न भागों में भ्रमण किया।

बाणभट्ट ने अपने आश्रयदाता के आरंभिक जीवन का चाटुकारितापूर्ण चित्रण हर्षचरित नामक पुस्तक में किया है, जिसकी गहन आलंकारिक शैली परवर्ती लेखकों के लिए अनुकरणीय हो गई। हर्ष को विद्वानों के संपोषक के रूप में ही नहीं, तीन नाटकों प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द के रचयिता के रूप में भी याद किया जाता है। बाण ने हर्ष को अद्भुत कवित्वप्रतिभा संपन्न कहा है और बाद के कुछ लेखकों ने उसे साहित्यकार-सम्राट् कहा है। परंतु मध्य काल के कई लेखकों ने इस बात का खंडन किया है कि ये तीनों नाटक हर्ष ने लिखे। कहा जाता है, धावक नामक कवि ने हर्ष से पुरस्कार लेकर इसके नाम से ये तीनों नाटक लिख दिए। हो सकता है कि हर्ष ने स्वयं भी कुछ रचना की हो, परंतु कहावत है कि राजे केवल नीम हकीम साहित्यकार होते हैं। वास्तव में प्राचीन भारत में और मध्यकालीन भारत में भी हम पाते हैं कि राजा में काव्य-कौशल सहित हर प्रकार के गुण आरोपित कर दिए जाते हैं ताकि उसकी ख्याति बढ़े। यह प्रवृत्ति जो समुद्रगुप्त के समय से ही दिखाई देती है, आज सामान्य प्रथा हो गई और हर्ष के समय में तो यह प्रथा पूर्णतः सुप्रतिष्ठित हो गई। कहना न होगा कि इसका उद्देश्य शत्रु की और प्रजा की नजर में राजा को मजबूत स्थिति में दिखाना रहता था।

अभ्यास

1. हर्ष की उपलब्धियों का मूल्यांकन करें।
2. हर्षकालीन भारत की धार्मिक स्थिति का वर्णन करें।
3. हर्ष के शासन-काल में सामाजिक और आर्थिक स्थिति कैसी थी ? किन-किन विषयों में यह स्थिति पूर्व काल में भी पाई जाती है ?
4. सातवीं सदी के भारतीय जीवन पर हुआन सांग का विवरण क्या-क्या प्रकाश डालता है ?
5. नालंदा के अवशेषों के चित्रों का संग्रह करें और इस विद्या-केन्द्र का संक्षिप्त विवरण लिखें।
6. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर हर्ष का राज्य और उस काल के अन्यान्य प्रमुख राज्य दिखाएं।
7. भारत के बाह्यरैखिक मानचित्र पर हुआन सांग के चीन से भारत आने और वहाँ से लौटने का मार्ग दिखाएँ। उसमें उन महत्वपूर्ण स्थानों को भी दिखाएँ जहाँ-जहाँ वह गया था।

अध्याय 24

प्रायद्वीप में नए राज्यों के गठन और ग्राम-विस्तार

नई अवस्था

लगभग 300 ई. से. 750 ई. तक का काल विन्ध्य से दक्षिण के प्रदेशों में द्वितीय ऐतिहासिक चरण कहा जा सकता है। इस काल में प्रथम ऐतिहासिक चरण (लगभग ईसा-पूर्व 200 से 300 ई. तक) वाली प्रक्रियाएँ चलती रहीं, किंतु कुछ ऐसे लक्षण भी दिखाई देते हैं जो प्रथम ऐतिहासिक चरण में खास महत्त्व के नहीं थे। प्रथम चरण में हम दकन पर सातवाहनों के तथा तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों पर तमिल राज्यों के बढ़ते हुए प्रभुत्व पाते हैं। उस काल में उत्तरी तमिलनाडु, दक्षिणी कर्नाटक, महाराष्ट्र का एक भाग, तथा गोदावरी-महानदी दोआब अपने क्षेत्रों से बाहर स्थापित राजनीतिक प्रभुसत्ता को सकारते थे। उनके अपने राज्य नहीं थे। अब इन क्षेत्रों में तथा विदर्भ में भी 300 ई. से 600 ई. के बीच लगभग आधा दर्जन राज्य उदित हुए जिनका पता हमें अनुदानपट्टों से चला है। कालक्रमेण, सातवीं सदी के आरंभ तक काची के पल्लव, बादामी के चालुक्य और मदुरै के पांड्य ये तीनों प्रमुख राज्यों के रूप में उदित हुए। प्रथम ऐतिहासिक चरण में विविध शिल्पों का उद्भव हुआ, आंतरिक और विदेशी व्यापार बढ़ा, सिक्कों का व्यापक प्रचलन हुआ और नगरों का बड़ी संख्या में उदय हुआ। द्वितीय चरण मे आकर व्यापार, नगर और सिक्के तीनों का ह्रास प्रतीत होता है। ब्राह्मणों के लिए कर-मुक्त भूमि का अनुदान भारी संख्या में दिखाई देता है, जो इस चरण का प्रमुख लक्षण है। भूमिअनुदानों से यह सिद्ध होता है कि अनेक नए-नए क्षेत्र खेती में और लोगों को बसाने में लगाए गए। अतः इस काल में कृषि अर्थव्यवस्था में कहीं अधिक विस्तार हुआ।

इस चरण में हम ब्राह्मण-धर्म की जययात्रा भी देखते हैं। प्रथम चरण में हमें आन्ध्र और महाराष्ट्र दोनों प्रदेशों में बड़े-बडे बौद्ध स्मारक मिलते हैं। कई गुहा-अभिलेख शायद इस बात का संकेत देते हैं कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म भी तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों में फैले थे। लेकिन अब जैन धर्म सिमटकर कर्नाटक में ही रह गया, सामान्यतः सारे प्रायद्वीप में राजाओं द्वारा किए गए वैदिक यज्ञों के उदाहरण भारी संख्या में पाते हैं। इस अवस्था में तमिलनाडु में पल्लवों और कर्नाटक में बादामी के चालुक्यों के शासन

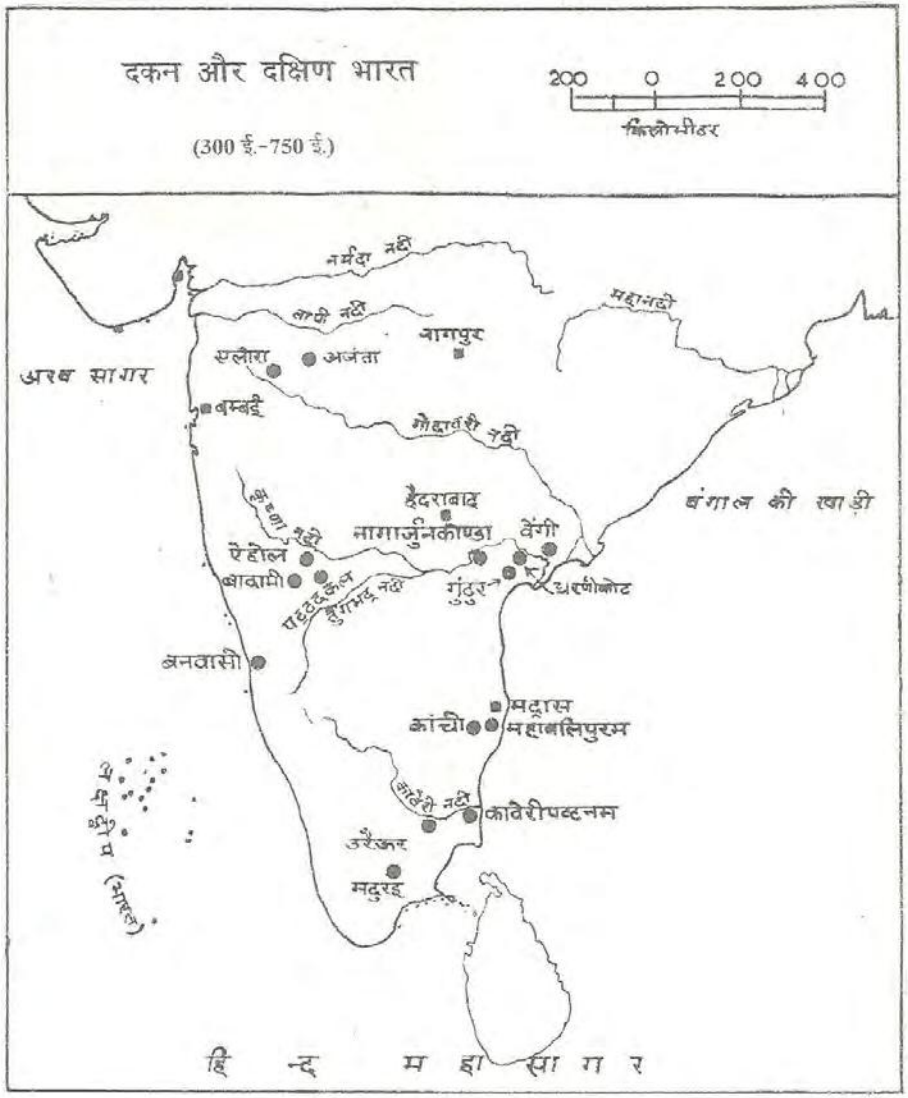

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
© भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार 1986

दकन और दक्षिण भा

में शिव और विष्णु के प्रस्तर-मंदिरों का निर्माण भी आरंभ हुआ। द्वितीय चरण में प्रवेश करते ही दक्षिण भारत महापाषाणों का क्षेत्र नहीं रह गया, और इस चरण का अन्त आते-आते हमें ऐसी गतिविधि दिखाई देने लगती है जिसने इसे मंदिरों का क्षेत्र बना दिया।

शासकवर्ग और साक्षर वर्ग की भाषा में परिवर्तन आया। अगर आन्ध्र और कर्नाटक में पाए गए अशोक के अभिलेख छोड़ भी दिए जाएँ तो ईसा-पूर्व दूसरी सदी और ईसा की तीसरी सदी के बीच के लगभग सभी अभिलेख प्राकृत भाषा में हैं। तमिलनाडु में मिले ब्राह्मी अभिलेख में भी प्राकृत के शब्द हैं। किंतु लगभग 400 ई. से इस प्रायद्वीप में संस्कृत राजभाषा हो गई और अधिकांश शासनपत्र (सनद) संस्कृत में ही मिलते हैं।

दकन और दक्षिण भारत के राज्य

उत्तरी महाराष्ट्र और विदर्भ (बेरार) में सातवाहनों के स्थान पर एक स्थानीय शक्ति वाकाटकों ने प्रभुत्व जमाया। वाकाटकों ने, जो स्वयं ब्राह्मण थे, ब्राह्मणों को खूब भूमिअनुदान दिए। इन अनुदानों के प्रमाण उनके द्वारा जारी किए गए अनेक ताम्रपत्रों में मिलते हैं। इन्हीं ताम्रपत्रों से वाकाटक प्रकाश में आए। वे ब्राह्मण-धर्म के महान पक्षधर थे। उन्होंने अनेकों वैदिक यज्ञ किए। उनका राजनीतिक इतिहास जितना दक्षिण भारत के लिए महत्त्वपूर्ण है उससे अधिक उत्तर भारत के लिए है। यह बताया जा चुका है कि कैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी बेटी प्रभावती का विवाह वाकाटक राजपरिवार में कराया और उस राजपराने की सहायता से ईसा की चौथी सदी के

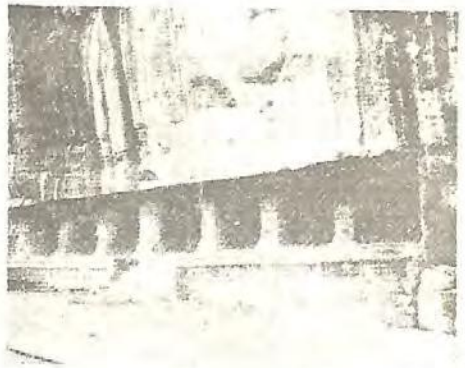

बादामी का गुफा-मन्दिर

अन्तिम चरण में शक क्षत्रपों से गुजरात और उससे संलग्न पश्चिमी भारत के हिस्से जीत लिए। सांस्कृतिक दृष्टि से वाकाटक राज्य ने ब्राह्मण ध र्म के आदर्शों और सामाजिक संस्थाओं को दक्षिण की ओर बढ़ाने में सेतु का काम किया।

वाकाटकों के बाद चालुक्यों का प्रभाव बढ़ा। उन्होंने 757 ई. तक लगभग दो सौ वर्ष दकन और दक्षिण भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उसके बाद उन्हीं के सामंत राष्ट्रकूटों ने उन्हें अपदस्थ कर दिया। चालुक्य लोग अपने को ब्रह्मा, मनु या चन्द्र के वंशज मानते थे। उन्हें इस बात का गर्व था कि उन्हीं के पूर्वजों ने अयोध्या में राज किया। परंतु इसका उद्देश्य सिर्फ वैधता और प्रतिष्ठा अर्जित करना था। वास्तव में प्रतीत होता है कि वे किसी स्थानीय कन्नड जाति के थे, जो ब्राह्मणों के आशीर्वाद से क्षत्रियों की पंक्ति में बैठा दिए गए थे।

चालुक्यों ने छठी सदी के आरंभ में पश्चिमी दकन में अपना राज्य कायम किया। अपनी राजधानी

उन्होंने वातापी (आधुनिक बादामी) में बनाई जो कर्नाटक के बीजापुर जिले में स्थित है। बाद में वे कई स्वतंत्र राजघरानों में बँट गए, परंतु उनका मुख्य घराना वातापी में दो सौ वर्षों तक राज करता रहा। इस काल में दक्षिण में कोई भी अन्य शक्ति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हुई जितना बादामी का चालुक्य राज्य। इसके बाद उत्तर मध्य काल में विजयनगर का राज्य ही उतने महत्त्व का निकला।

प्रायद्वीप के पूर्वी भाग में सातवाहनों के अवशेष पर कृष्णा-गुंटूर क्षेत्र में इक्ष्वाकुओं का उदय हुआ। लगता है कि वे कोई स्थानीय जनजाति थे और अपने वंश की प्राचीनता दिखाने के लिए उन्होंने अपने वंश का नामकरण "इक्ष्वाकु" कर लिया। वे नागार्जुनकोण्ड और धरणीकोटा में अनेक स्मारक छोड़ गए हैं। उन्होंने कृष्णा-गुंटूर क्षेत्र में भूमिअनुदान की प्रथा चलाई। वहाँ उनकी अनेक ताम्रपत्र-सनदें पाई गई हैं।

इक्ष्वाकुओं को अपदस्थ कर उनकी जगह पर पल्लव आए। पल्लव शब्द का अर्थ है लता, और यह शब्द टोंडाई का रूपांतरण है जो लता का ही वाचक है। संभवतः पल्लवों की स्थानीय जनजाति थी जिसने टोंडाईनाडु अर्थात् लताओं के देश में अपनी सत्ता स्थापित की। लेकिन उन्हें पूरा-पूरा सभ्य और ग्राह्य बनने में कुछ समय लगा, क्योंकि तमिल भाषा में पल्लव शब्द का अर्थ डाकू होता है। पल्लवों का अधिकार दक्षिणी आन्ध्र और उत्तरी तमिलनाडु दोनों पर था। उन्होंने अपनी राजधानी कांची (आधुनिक कांचीपुरम) में बनाई जिस नगर में उन दिनों मंदिरों और वैदिक विद्या का केंद्र खड़ा हो गया था।

पल्लव वंशियों का आरंभ में कदंबों से संघर्ष हुआ। कदंबों ने चौथी सदी में उत्तरी कर्नाटक और कोंकण में अपनी सत्ता कायम की थी। वे ब्राह्मण होने का दावा करते थे। उन्होंने अपने बंधु-बांधवों को उदारतापूर्वक पुरस्कृत किया।

कदंब राज्य की स्थापना मयूरशर्मन् ने की। कहा जाता है कि वह पढ़ने के लिए कांची आया, पर वह अपमान के साथ वहाँ से निकाल दिया गया। इस अपमान से दुखी होकर कदम्बों के सरदार ने जंगल में अपना शिविर बनाया और संभवतः जंगली जनजातियों की सहायता से पल्लवों को हराया। अन्ततः पल्लवों ने हार का बदला लिया, परंतु फिर भी मयूरशर्मन् को औपचारिक रूप से राजचिह्न देकर उन्होंने कदम्बों की राजसत्ता को मान्यता दे दी। कहा जाता है कि मयूरशर्मन् ने अठारह अश्वमेध यज्ञ किए और ब्राह्मणों को असंख्य गाँव दान में दिए। कदंबों ने अपनी राजधानी कर्नाटक के उत्तरी केनरा जिले में वैजयन्ती या बनवासी में बनाई।

पल्लवों के दूसरे महत्त्वपूर्ण समसामयिक गंग थे। उन्होंने चौथी सदी के आसपास दक्षिणी कर्नाटक में अपना शासन कायम किया। उनका राज्य पूरब में पल्लवों के राज्य और पश्चिम में कदम्बों के राज्य के बीच में था। वे पश्चिमी गंग या मैसूर के गंग कहलाते हैं, क्योंकि पूर्वी गंग इनसे भिन्न थे और वे पाँचवीं सदी से कलिंग में शासन करते थे। अधिकांश काल तक, पश्चिमी गंग पल्लवों के सामन्त रहे। उनकी सबसे पहले की राजधानी कोलार में थी, जहाँ सोने की खान होने के कारण इस राजवंश का उत्थान आसान हुआ होगा।

पश्चिमी गंग राजाओं ने भूमिअनुदान

अधिकतर जैनों को दिया। कदंब राजाओं ने भी जैनों को दान दिया, पर वे ब्राह्मणों की ओर अधिक झुके थे। पल्लवों ने बहुत-सारे कर-मुक्त ग्रामदान अधिकांश ब्राह्मणों को दिए। हमें आरंभिक पल्लवों के 16 भूमिअनुदान पत्र मिले हैं। उनमें से कुछ जो अधिक पुराने लगते हैं पत्थर पर प्राकृत भाषा में खुदे हैं, लेकिन अधिकांश संस्कृत भाषा में ताम्रपत्रों पर खुदे हैं। जो गाँव ब्राह्मणों को दिए गए वे राज्य को मिलने वाले सभी करों से और बेगार (श्रमकर) से मुक्त थे। इसका अर्थ हुआ कि ये सभी पावने दानग्राही ब्राह्मण अपने भोग के लिए वसूल सकते थे। चौथी सदी के एक पल्लव अनुदान पत्तों में तो ब्राह्मणों को दी जाने वाली उन्मुक्तियों या सुविधाओं की संख्या 18 तक पहुँचा दी गई है। वे भूमिकर चुकाए बिना, बेगार दिए बिना नगर के राजकीय अधिकारियों को रसद पहुँचाए बिना और राजकीय सिपाहियों और एजेंटों द्वारा किसी हस्तक्षेप के बिना अनुदान की सम्पत्ति का उपभोग कर सकते थे।

पल्लव, कदम्ब, बादामी के चालुक्य और उनके अन्य समसामयिक शासक वैदिक यज्ञ के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ किए, जिससे न केवल उनकी राजा की हैसियत को वैधता मिली और प्रतिष्ठा बढ़ाई, बल्कि पुरोहित वर्ग की आय में काफी वृद्धि भी हुई। इस प्रकार ब्राह्मण किसानों के बूते पर संपन्न वर्ग में आ गए, क्योंकि एक ओर वे किसानों से सीधे कर वसूलते थे और दूसरी ओर प्रजा से राजा द्वारा वसूले गए राजस्व की राशि में से भी दान-दक्षिणा के रूप में अच्छा-खासा अंश प्राप्त कर लेते थे।

यद्यपि 300 ई. और 750 ई. के बीच की अवधि राज्य के गठन और कृषि-विस्तार की दृष्टि से उस प्रायद्वीप में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण रही, फिर भी इस विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है कि चोल, चेर और पांड्य राज्यों के पतन के बाद प्रायद्वीप के सिरे वाले क्षेत्र में क्या हाल हुआ। एकमात्र महत्त्वपूर्ण घटना है छठी सदी में कलभ्रों के नेतृत्व में हुआ विद्रोह। इसका असर पल्लवों पर तथा उनके समकालीन पड़ोसियों पर पड़ा। कलभ्रों को दुष्ट राजा कहा गया है। उन्होंने अनेकानेक राजाओं को उखाड़ फेंका और तमिलक्षेत्र पर अपना कब्जा जमा लिया। उन्होंने बहुत-सारे गावों में ब्राह्मणों को मिले ब्रह्मदेय अधिकारों को खत्म कर दिया। लगता है कि कलभ्र बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, क्योंकि उन्होंने बौद्ध विहारों का संपोषण किया था। कलभ्रों का विद्रोह इतना व्यापक हो गया था कि उसको पांड्यों, पल्लवों और बादामी के चालुक्यों के संयुक्त प्रयास से ही दबाया जा सका। ऐसा कहा जाता है कि कलभ्रों ने चोल, पांड्य और चेर राजाओं को बन्दी बना लिया। इन सबों से यही प्रकट होता है कि इस विद्रोह ने विशाल रूप धारण कर लिया था, और तमिल देश के बाहर इसका असर पहुँचा। अनुदान में दी गई भूमि पर ब्राह्मणों के अधिकार को खत्म करने वाले कलभ्रों के विरुद्ध इन राजाओं के एकजुट होने का अर्थ यह है कि वह विद्रोह दक्षिण भारत के तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के खिलाफ उठा था।

कलभ्र विद्रोह से पता चलता है कि 300 ई. से 500 ई. के बीच ब्राह्मणों को कुछ भूमिदान सुदूर दक्षिण के राजाओं ने दिए थे। संगम ग्रंथों में कहा गया है कि राजा वीरता के लिए योद्धाओं को गांव

देतें थे। इन भूमिदानों के फलस्वरूप पल्लवों के अधीन तीसरी सदी के अन्त से दक्षिणी आन्ध्र और उत्तरी तमिलनाडु में कृषि-विस्तार को बढ़ावा मिला होगा। संभवतः सुदूर दक्षिण के कुछ राज्यों में भी यह प्रक्रिया चली होगी।

पल्लव-चालुक्य संघर्ष

छठी सदी से आठवीं सदी तक प्रायद्वीपीय भारत के राजनीतिक इतिहास का मुख्य आकर्षण है कांची के पल्लवों और बादामी के चालुक्यों के बीच प्रभुसत्ता को लेकर संघर्ष। इस संघर्ष में तीसरे दल के रूप में पांड्य भी उलझ गए थे पर वे कमज़ोर थे और उनका राज्य तमिलनाडु और तिन्नेवेली जिले में था। यद्यपि पल्लव और चालुक्य दोनों ब्राह्मण-धर्म के समर्थक थे और दोनों ने वैदिक यज्ञ किए और ब्राह्मणों को अनुदान दिया, तथापि दोनों के बीच लूटपाट, प्रतिष्ठा और क्षेत्रीय संसाधनों को लेकर झगड़े हुए। दोनों ने कृष्णा और तुंगभद्रा के दोआब पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा की। उत्तर मध्य काल में यह दोआब विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच झगड़े का कारण बन गया। बार-बार पल्लव राजाओं ने तुंगभद्रा नदी पार करने की कोशिश की, जो नदी अनेक राज्यों और सुदूर दक्षिण के बीच प्राकृतिक ऐतिहासिक सीमा थी। यह संघर्ष कभी इस करवट कभी उस करवट करते लंबी अवधि तक चलता रहा।

इस लंबे संघर्ष के क्रम में पहली महत्त्वपूर्ण घटना परम प्रसिद्ध चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय (609-642) के शासनकाल में घटी। उसके बारे में जानकारी उसके ऐहोल अभिलेख से मिलती है, जिसमें उसके दरबारी कवि रविकीर्ति द्वारा रचित उसकी प्रशस्ति (गुणवर्णन) उत्कीर्ण है। यह प्रशस्ति उस काल की काव्य-कला का उत्कृष्ट नमूना है और अतिरंजनों के बावजूद पुलकेशिन् की जीवनी जानने का मूल्यवान स्रोत है। अभिलेख बतलाता है कि उसने कदम्बों की राजधानी बनवासी को अपने अधीन कर लिया और कर्नाटक के गंग वंशियों को अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार करने पर मजबूर किया। उसने नर्मदा के किनारे हर्ष की सेना को हराकर उसे दकन की ओर बढ़ने से रोक दिया। पल्लवों के साथ लड़ते-लड़ते वह पल्लव राजधानी के पास तक पहुँच गया, परंतु पल्लवों ने पुलकेशिन् द्वितीय को अपना उत्तरी प्रान्त देकर उसके साथ संधि कर ली। पुलकेशिन् द्वितीय ने 610 ई. के आसपास कृष्णा और गोदावरी का दोआब पल्लवों से छीन लिया। यह दोआब वेंगी प्रांत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ पर मुख्य राजवंश की एक शाखा स्थापित की गई जो वेंगी का पूर्वी चालुक्य राजवंश कहलाने लगी। परंतु पल्लवों के राज्य पर पुलकेशिन् का दूसरा हमला विफल रहा और पल्लव राजा नरसिंहवर्मन् (630-668 ई.) ने चालुक्य राजधानी वातापी पर लगभग 642 ई. में कब्जा कर लिया। उस समय पल्लवों से युद्ध करते हुए पुलकेशिन् द्वितीय शायद मारा गया। नरसिंहवर्मन् ने **वातापीकोण्ड** अर्थात् वातापी-विजेता की उपाधि धारण की। कहा जाता है कि उसने चोलों, चेरों, पांड्यों और कलभ्रों को भी पराजित किया।

सातवीं सदी के अन्तिम भाग में इस संघर्ष में ठहराव-सा आ गया, लेकिन आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यह संघर्ष फिर जाग उठा। कहा जाता है कि चालुक्य राजा विक्रमादित्य

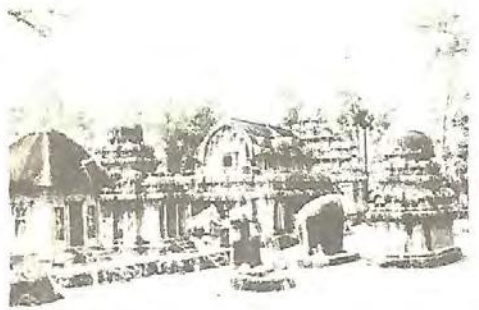

महाबलिपुरम् के रथ-मंदिर

द्वितीय (733-745 ई.) ने कांची को तीन बार रौंदा। उसने 740 ई. में पल्लवों को पूरी तरह पराजित कर दिया। उसकी विजय ने सुदूर दक्षिण में पल्लवों के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया, यद्यपि वह राजवंश उसके बाद भी सौ वर्ष तक वर्तमान रहा। लेकिन चालुक्य राजा पल्लवों पर अपनी विजय का फल अधिक दिनों तक भोग नहीं पाए, क्योंकि 757 ई. में राष्ट्रकूटों ने उनके प्रभुत्व का अन्त कर दिया।

मंदिर

यज्ञानुष्ठानों के अलावा, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा लोकप्रिय होती गई। विष्णु और शिव तो और भी अधिक पूजित होने लगे। सातवीं सदी से वैष्णवप्रवर आल्वार संतों ने वैष्णव संप्रदाय को फैलाया तो नायन्नार संतों ने शैव संप्रदाय को। इस प्रकार सातवीं सदी से लेकर दक्षिण भारत के लोगों के धार्मिक जीवन में भक्ति-मार्ग प्रमुख हो गया, तथा आल्वारों और नायन्नारों ने इस मार्ग को फैलाने में बड़ा योगदान दिया।

पल्लव राजाओं ने सातवीं और आठवीं सदियों में अपने आराध्य देवताओं की प्रतिमा स्थापित करने के लिए बहुत-सारे प्रस्तर-मंदिर बनवाए। इनमें सबसे प्रसिद्ध हैं रथ के रूप में सात मंदिर जो मद्रास से 65 किलोमीटर दूर महाबलिपुरम् में पाए गए हैं। इनका निर्माण सातवीं सदी में नरसिंहवर्मन् ने कराया था, जिसने प्रसिद्ध बंदरगाह शहर महाबलिपुरम् या मामल्लपुरम् की स्थापना

कांची का कैलाशनाथ मंदिर

की। यह नगर अपने तट-मंदिर के लिए भी प्रसिद्ध है जो किसी चट्टान को काटकर नहीं, बल्कि स्वतंत्र संरचना के रूप में खड़ा किया गया है। इसके अतिरिक्त, पल्लव राजाओं ने अपनी राजधानी कांची में भी ऐसे कई मंदिरों का निर्माण किया। आठवीं सदी में बना कैलाशनाथ मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है। बादामी के चालुक्य राजाओं ने भी 610 ई. और उसके बाद ऐहोल में

अनेक मंदिर बनवाए। ऐहोल में तो मंदिरों की संख्या 70 तक पहुँच गई। मंदिर-निर्माण का काम बगल के बादामी और पट्टडकल नगरों में भी जारी रहा। पट्टडकल में सातवीं-आठवीं सदी में बने दस मंदिर हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं पापनाथ मंदिर (लगभग 680 ई.) और विरूपाक्ष मंदिर (लगभग 740 ई.)। पहला मंदिर लम्बाई में तो 30 मीटर है, पर उसका बुर्ज उत्तर भारतीय शैली में बना है, और वह बौना व नीचा है। दूसरा पूर्णत: दक्षिण की शैली में बना है और उसका शिखर बहुत ही ऊंचा, आयताकार और मंजिलों वाला है। उसकी दीवारें रामायण के दृश्यों वाली सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों से सजी हैं।

यह ज्ञात नहीं है कि इन आरंभकालिक मंदिरों का रखरखाव कैसे होता था। आठवीं सदी के बाद से मंदिरों को भूमिअनुदान देने की प्रथा दक्षिण भारत में खूब चल पड़ी, और प्राय: भूमिदान दीवारों पर अभिलिखित कर दिए जाते थे। परंतु लगता है कि मंदिरों का निर्माण और अनुपोषण राजा द्वारा प्रजा से वसूले गए करों से होता था। कर्नाटक में कुछ मंदिर जैन व्यापारियों ने चालुक्यों के शासनकाल में बनवाए। यद्यपि आम लोग धान और ताड़ी चढ़ाकर अपने ग्राम देवताओं की पूजा किया करते थे, तथापि वे समाज में प्रतिष्ठा पाने और अपनी धार्मिक तृष्णा बुझाने के लिए इन मंदिरों में भी चढ़ावा समर्पित करते होंगे।

किसानों पर कर-भार

युद्ध के लिए, कला और साहित्य के विकास के लिए, धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए और प्रशासन-तंत्र चलाने के लिए अपार संसाधनों की आवश्यकता होती थी। कहना न होगा कि ये संसाधन किसानों को ही जुटाने पड़ते थे। कृषक-समुदायों पर पड़े कर-भार का स्वरूप पल्लव राज्य में भी करीब-करीब वैसा ही था जैसा वाकाटक राज्य में। भले ही वाकाटक राज्य विदर्भ और महाराष्ट्र में था जबकि पल्लव राज्य दक्षिण आन्ध्र और उत्तर तमिलनाडु में। उपज के एक हिस्से के रूप में लिए जाने वाले भूमि-कर के अतिरिक्त राजा अन्न और स्वर्ण के रूप में नज़राना ले सकता था तथा गुड़, मदिरा जैसी वस्तु निकालने के लिए ताड़ आदि पेड़ों से रस निकलवा सकता था। बेशक, गाँव की सारी खानें और छिपे खजाने (निखात निधि) राजा के होते थे। इसके अलावा, फूल और दूध तथा लकड़ी और घास बिना मूल्य देने के लिए गाँव वाले बाध्य होते थे। उन्हें बोझा भी ढोना पड़ता था। राजा को विष्टि अर्थात् बेगार (भुक्त में खटाने) का अधिकार था।

जब कभी राजा के अधिकारी कर वसूल करने या अपराधियों को सजा देने के लिए गाँवों में पहुँचते थे या सैनिक अभियान के क्रम में गाँव हो कर गुजरते थे, तब गाँव के लोगों को बहुत कुछ करना पड़ता था। उन्हें गाड़ियों के लिए बैल, सोने के लिए खाट, रसोई बनाने के लिए ईंधन, चूल्हा और बरतन तथा सेवा के लिए चाकर देने पड़ते थे।

लगानों की इस पूरी सूची से प्रकट होता है कि राजा किसानों से उसके श्रम और उपज का बड़ा भाग लगान के तौर पर वसूल लेता था। इनमें से अधिकांश लगान चौथी सदी से ब्राह्मणों को दी जाने वाली 18 प्रकार की छूटों में शामिल हैं।

बाद में तो किसानों पर और भी कई तरह के लगान थोपे जाने लगे।

ग्रामीण विस्तार

गांव के लोगों पर राजा द्वारा लगाए गए इतने सारे लगान इस बात के द्योतक हैं कि किसानों में इनके चुकाने की क्षमता अवश्य रही होगी। जब तक कृषि-उत्पादन में वृद्धि न हुई हो तब तक इनकी वसूली सभव न होती। इसी काल में हमें विन्ध्य पार क्षेत्रों में नए-नए राज्य खड़े हुए दिखाई देते हैं। हरेक राज्य के अधीन कई सामन्ती राज्य थे, जो एक बड़े राज्य के तहत छोटे राज्य की तरह चलते थे। ऐसे हर राज्य को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, खुदसर हो या सामन्त, अपनी सेना चाहिए, अपनी कर-व्यवस्था चाहिए, अपना प्रशासन तंत्र चाहिए, और काफी सख्या में पुरोहित और अन्य समर्थक वर्ग चाहिए। इसके लिए हर राज्य को संसाधन की आवश्यकता थी जो ग्रामीण पृष्ठभूमि से ही प्राप्त हो सकता था। अत ग्रामीण आबादी के विस्तार या मौजूदा गांवों में कृषि उत्पादन में वृद्धि हुए बिना नए-नए राज्यों का उद्भव नहीं हो सकता था। लगता है कि जनजातीय क्षेत्रों में ब्राह्मणों को भूमि दी गई, और जनजातीय किसानों ने पशुपालन की उपयोगिता और खेती के उन्नत तरीके उन ब्राह्मणों से सीखे। कुछ इलाकों में जन-शक्ति की कमी थी। ऐसे क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था को चलाते रहने के उद्देश्य से कुछ बटाईदार और बुनकर लोग भी ब्राह्मणों के जिम्मे लगा दिए गए, जैसा कि एक आरंभिक पल्लव अनुदान पत्र से मालूम होता है। इसलिए खेती के नए तरीके फैलाने और ग्रामीण आबादी को बढ़ाने में ब्राह्मणों को दिए गए भूमिअनुदानों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।

इस काल में दक्षिण भारत में तीन प्रकार के गाँव दिखाई देते हैं--उर, सभा, और नगरम्। उर गाँव सब से अधिक प्रचलित था। जिनमें किसान जातियों के लोग बसते थे और भूमि पर उन लोगों का शायद सामुदायिक स्वत्व होता था। ऐसे गाँव में ग्रामप्रधान का कर्त्तव्य होता था कि गाँव वालों से कर की वसूली करके उनकी ओर से चुकाए। ऐसे गाँव अधिकतर दक्षिणी तमिलनाडु में पाए जाते थे। सभा कोटि के गाँव में ब्रह्मदेय अर्थात् ब्राह्मणों को दिए गए गाँव और अग्रहार गाँव आते थे। अग्रहार गाँवों में भूमि पर तो दानभोगी ब्राह्मणों का व्यक्तिगत स्वत्व होता था, पर उनके काम-काज सामूहिक होते थे। नगरम् कोटि का गाँव वह होता था जहाँ व्यापारियों और वणिकों का मिला-जुला वास होता था और उन्हीं का दबदबा रहता था। ऐसे गाँव संभवत: इसलिए बसे क्योंकि व्यापार में गिरावट आयी और वणिक लोग गाँवों की ओर चल पड़े। चालुक्य क्षेत्रों में गाँव की कार्य-व्यवस्था गाँव के श्रेष्ठजन करते थे जो महाजन कहलाते थे। कुल मिलाकर 300 से 750 ई. की अवधि में हम ग्रामीण विस्तार, ग्रामीण संघटन और भूमि के अच्छे उपयोग की अच्छी झलक पाते हैं।

सामाजिक ढाँचा

हम इस काल में विकसित सामाजिक ढाँचे की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं। समाज पर राजाओं और पुरोहितों का दबदबा था। राजा लोग ब्राह्मण या क्षत्रिय होने का दावा करते थे,

जबकि उनमें कई स्थानीय जातियों के सरदार थे जिन्हें ब्राह्मणों ने दान पाकर द्वितीय वर्ण का दर्जा दे दिया था। पुरोहितों ने उन राजाओं की प्रतिष्ठाजनक वंशावलियाँ गढ़ी और उनका मूल प्राचीन सूर्य और चन्द्र वंशों से जोड़ा। इस तरह नए शासकों ने प्रजा की नजर में राजा के रूप में अपनी मान्यता और वैधता स्थापित की। पुरोहितों में अधिकांश ब्राह्मण ही थे, हालांकि जैन और बौद्ध भिक्षुओं को भी इसी में स्थान मिलना चाहिए। 300-750 ई. की अवधि में पुरोहितों ने भूमिदान के बल पर अपना प्रभाव और प्रभुत्व जमाया। राजाओं और पुरोहितों के नीचे किसान आते थे, जो अनगिनत कृषक-जातियों में बँटे थे। इनमें अधिकांश जातियाँ वर्णव्यवस्था में शूद्र मानी जाती थीं। यदि किसान या शिल्पी लोग उत्पादन-कर्म में, सेवा-कर्म में, या दायित्व चुकाने में चूकते थे तो इसे धर्म अर्थात् परंपरागत सामान्य नियम से विचलन माना जाता था। ऐसी ही स्थिति को कलियुग कहा गया है। राजा का कर्त्तव्य होता था कि वह धर्म की रक्षा करे अर्थात् इस तरह की गड़बड़ी न होने दे और शान्तिपूर्ण व्यवस्था बनाए रखे, जिससे राजाओं और पुरोहितों का कल्याण होता रहे। इसीलिए वाकाटक, पल्लव, कदम्ब और पश्चिमी गंग राजाओं ने धर्ममहाराज की उपाधि धारण की। पल्लव राज्य के वास्तविक संस्थापक सिंहवर्मन् के विषय में कहा गया है कि कलियुग के दुर्गुणों से ग्रस्त धर्म का उन्होंने उद्धार किया। स्पष्टतः इसका इशारा कलभ्र के विद्रोह की ओर है जिसने पारंपरिक समाज-व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया था।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :

   ब्रह्मदेय अधिकार, शिखर, उर, सभा, नगरम्, अग्रहार।

2. प्रायद्वीपीय भारत के राजनीतिक इतिहास में 300 ई. से 750 ई. के बीच हुई प्रमुख घटनाओं का वर्णन करें।
3. कांची के पल्लवों और बादामी के चालुक्यों के इतिहास का संक्षिप्त विवरण लिखें। इन दोनों राजवंशों के आपसी संबंधों का वर्णन करें।
4. विवेचन करें कि प्रायद्वीपीय भारत में ब्राह्मणों की क्या स्थिति थी।
5. ऐहोल अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है ?

6. प्रायद्वीपीय भारत में 300 ई. -750 ई. की अवधि में धार्मिक स्थिति क्या थी ? इस अवधि में क्या-क्या नई धार्मिक प्रवृत्तियाँ उदित हुईं ?
7. इस काल में शासक लोग किसानों से क्या-क्या पावना वसूलते थे ?
8. पल्लवों और चालुक्यों की मंदिर-वास्तुकला का वर्णन करें।
9. प्रायद्वीपीय भारत के बाह्यरेखिक मानचित्र पर पाठ्यपुस्तक में उल्लिखित राज्यों के अधिकार-क्षेत्र दिखाएँ। साथ ही, पाठ्यपुस्तक में उल्लिखित स्थान भी उस मानचित्र में अंकित करें।
10. एक समूह परियोजना के अगस्वरूप उन मंदिरों के चित्र एकत्र करें जिनका निर्माण प्रायद्वीपीय भारत में इस काल में किया गया। उन मंदिरों के वास्तुशिल्प की विशेषताओं का अध्ययन करें।

अध्याय 25

दर्शन का विकास

जब राज्य और वर्णभेदमूलक सामाजिक व्यवस्था दोनों दृढ़ हो गई तब प्राचीन चिन्तकों ने सिखाया कि मानव को चार पुरूषार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। ये पुरूषार्थ हैं **अर्थ** या आर्थिक संसाधन, **धर्म** या सामाजिक नियम-व्यवस्था, **काम** या शारीरिक सुखभोग, और **मोक्ष** या आत्मा का उद्धार। प्रत्येक पुरूषार्थ पर पुस्तकें लिख-लिख कर उसका प्रतिपादन किया गया। अर्थ संबंधी विषयों का प्रतिपादन अर्थशास्त्र में किया गया, जिस पर कौटिल्य की पुस्तक सुविख्यात है। राज्य और समाज को सुव्यवस्थित बनाने वाली विधि (कानून) पर धर्मशास्त्र की रचना हुई। शारीरिक सुखभोग का विवेचन कामसूत्र में किया गया। विद्या की ये तीन शाखाएँ मूलत: भौतिक जगत और उसकी समस्याओं से जुड़ी हैं। इनमें मोक्ष की चर्चा कदाचित् ही केवल प्रसंगवश आई है। मोक्ष मुख्यत: दर्शन संबंधी ग्रंथों का विषय रहा, जिसका अर्थ है जन्म और मृत्यु के चक्र से उद्धार, जिसका उपदेश सबसे पहले गौतम बुद्ध ने दिया लेकिन बाद में कई ब्राह्मणपन्थी दार्शनिकों ने इसे आगे बढ़ाया।

ईसवी सन् के आरंभ तक दर्शन के छह संप्रदाय (पद्धतियाँ) विकसित हो चुके थे--सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त।

सांख्य

सांख्य की व्युत्पत्ति सख्या शब्द से हुई है। लगता है यह सबसे पुराना है। प्राचीन सांख्य दर्शन के अनुसार जगत की सृष्टि के लिए दैवी शक्ति का अस्तित्व मानना आवश्यक नहीं है। जगत की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं, अपितु **प्रकृति** से होती है। यही तर्कमूलक प्राचीन मत था। चौथी सदी के आसपास सांख्य दर्शन में **प्रकृति** के अतिरिक्त **पुरुष** नामक एक और उपादान जुड़ा, और दोनों को सृष्टि का कारण माना गया। इस नवीनतम मत के अनुसार, प्रकृति और पुरुष दोनों के मेल से जगत की सृष्टि होती है। इस तरह सांख्य अपने आरंभकाल में भौतिकवादी था, फिर आध्यात्मिकता की ओर मुड़ गया। तो भी इस दर्शन के अनुसार मोक्ष यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से हो सकता है और मोक्ष प्राप्त होने पर मानव को दुख से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाता है। यह यथार्थ ज्ञान **प्रत्यक्ष, अनुमान** और **शब्द** से हो सकता है। आजकल यही मार्ग वैज्ञानिक अनुसंधान का भी है।

योग

योग दर्शन के अनुसार, मोक्ष ध्यान और शारीरिक साधना से मिलता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का निग्रह योगमार्ग का मूलाधार है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए कई तरह के **आसन** अर्थात् विभिन्न स्थिति मे दैहिक व्यायाम, तथा **प्राणायाम** अर्थात् श्वास के व्यायाम सुझाए गए हैं। ऐसा समझा गया है कि इन साधनाओं से चित्त का सांसारिक लगाव दूर हो जाता है और उसमें एकाग्रता आती है। ये साधनाएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि इनसे न केवल प्राचीन काल में शरीर-क्रिया और शरीर-रचना संबंधी ज्ञान के विकास का पता चलता है, परन्तु इनमें सांसारिक समस्याओं से भागने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है।

न्याय

न्याय या विश्लेषण पद्धति का विकास तर्कशास्त्र के रूप में हुआ है। इस दर्शन के अनुसार मोक्ष ज्ञान की प्राप्ति से हो सकता है। इसमें विशेष महत्त्व की बात है, किसी प्रतिज्ञा या कथन की सत्यता की जाँच अनुमान, शब्द और उपमान द्वारा किया जाना। इस दर्शन में तर्क का प्रयोग किस तरह किया जाता है इसका उदाहरण नीचे देखा जा सकता है।

1. पर्वत अग्नियुक्त है,
2. क्योंकि वहाँ धुआँ है,
3. जहाँ-जहाँ धुआँ रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती है, जैसे रसोई घर में।

इस दर्शन में तर्क के प्रयोग का जो महत्त्व प्रतिपादित हुआ उससे भारतीय विद्वान प्रभावित होकर तार्किक रीति से सोचने और बहस करने की ओर झुके।

वैशेषिक

वैशेषिक दर्शन **द्रव्य** अर्थात भौतिक तत्वों के विवेचन को महत्त्व देता है। वह सामान्य और विशेष के बीच अन्तर करता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के मेल से नई वस्तुएँ बनती हैं। वैशेषिक दर्शन ने परमाणुवाद की स्थापना की। इसके अनुसार भौतिक वस्तुएँ परमाणुओं के संयोजन से बनी हैं। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन ने ही भारत में भौतिकशास्त्र का आरंभ किया। लेकिन इस वैज्ञानिक दृष्टि को ईश्वर में विश्वास और आध्यात्मवाद ने अपने में फँसा लिया और दर्शन में भी स्वर्ग और मोक्ष समा गए।

मीमांसा

मीमांसा का मूल अर्थ है तर्क करने और अर्थ लगाने की कला। लेकिन इसमें तर्क का प्रयोग विविध वैदिक कर्मो के अनुष्ठानों का औचित्य सिद्ध करने में किया गया है, और इसके अनुसार मोक्ष इन्हीं वेद-विहित कर्मो के अनुष्ठान से प्राप्त होता है। मीमांसा के अनुसार वेद में कही गई बातें सदा सत्य हैं। इस दर्शन का मुख्य लक्ष्य स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति है। मनुष्य तब तक स्वर्ग-सुख पाता रहता है जब तक उसका संचित पुण्य शेष रहता है। जब वह पुण्य समाप्त हो जाता है तब वह फिर धरती पर आ गिरता है। परंतु यदि वह मोक्ष पा लेता है तो वह सांसारिक जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

मीमांसा दृढ़तापूर्वक बताती है कि मोक्ष पाने के लिए यज्ञ करना चाहिए। ऐसे यज्ञों में पुरोहितों को

दान-दक्षिणा का लाभ मिलता था और विविध वर्गों के बीच सामाजिक स्तरभेद को मान्यता मिलती थी। मीमांसा का प्रचार करके ब्राह्मण लोग धार्मिक कृत्यों पर अपना प्रभुत्व कायम रखना और ब्राह्मणप्रधान बहुस्तरीय सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना चाहते थे।

वेदान्त

वेदान्त का अर्थ है वेद का अन्त। ईसा-पूर्व दूसरी सदी में संकलित बादरायण का **ब्रह्मसूत्र** इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। बाद में इस पर दो प्रख्यात भाष्य लिखे गए, पहला शंकर का नौवीं सदी में, और दूसरा रामानुज का बारहवीं सदी में। शंकर ब्रह्म को निर्गुण बताते हैं, किन्तु रामानुज के अनुसार ब्रह्म सगुण हैं। शंकर ज्ञान को मोक्ष का मुख्य कारण मानते हैं, किन्तु रामानुज भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताते हैं।

वेदान्त दर्शन का मूल आरंभिक उपनिषदों में पाया जाता है। इस दर्शन के अनुसार **ब्रह्म** ही सत्य है, अन्य हर वस्तु **माया** अर्थात् अवास्तविक है। **आत्मा** और **ब्रह्म** में अभेद है। अतः जो कोई आत्मा को या अपने आप को पहचान लेता है, उसे **ब्रह्म** का ज्ञान हो जाता है, और मोक्ष मिल जाता है। ब्रह्म और आत्मा दोनों शाश्वत और अविनाशी हैं। ऐसा मत स्थायित्व और अपरिवर्तनीयता की भावना जगाता है। अध्यात्मिक दृष्टि से जो सत्य है वह उस व्यक्ति की अपनी सामाजिक और भौतिक परिस्थिति में भी सत्य हो सकता है।

कर्मवाद भी वेदान्त के साथ जुड़ गया। इसका अर्थ है कि मनुष्य को पूर्व जन्म में किए गए कर्मों का परिणाम भुगतना पड़ता है। पुनर्जन्म में विश्वास वेदान्त में ही नहीं, बल्कि और भी कई हिन्दू दर्शनों का महत्त्वपूर्ण उपादान बन गया। इसका भीतरी अर्थ तो यही हुआ कि मनुष्य जो सुख-दुख भोगता है वह सांसारिक कारणों से नहीं बल्कि ऐसे कारणों से भोगता है जो न उसकी जानकारी में है और न वश में।

जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टि

कुल मिलाकर इन छः प्रकार के दर्शनों के उपदेश से जीवन के प्रति प्रत्ययवादी दृष्टि उभरी। सभी मोक्ष प्राप्त करने के उपाय बन गए। सांख्य और वैशेषिक दर्शनों ने जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सांख्य दर्शन के मूल प्रवर्तक कपिल ने बताया है कि मानव का जीवन प्रकृति की शक्ति द्वारा रूपायित होता है, न कि किसी दैवी शक्ति के द्वारा। भौतिकवादी विचार आजीवकों के सिद्धांतों में भी पाए जाते हैं, जिन्होंने बुद्ध के समय में नास्तिक दर्शन पद्धति स्थापित की। परंतु भौतिकवादी दर्शन का प्रमुख प्रवर्तक चार्वाक हुआ। इस दर्शन का नाम **लोकायत** हुआ, जिसका अर्थ है सामान्य लोगों से प्राप्त विचार। इसमें लोक अर्थात् दुनिया के साथ गहरे लगाव को महत्त्व दिया गया है और परलोक में अविश्वास व्यक्त किया गया है। बहुत से उपदेशों को चार्वाक से जोड़ा जाता है। वह मोक्ष की कामना का विरोधी था। वह किसी दैवी या अलौकिक शक्ति का अस्तित्व नहीं मानता था। वह उन्हीं वस्तुओं की सत्ता/यथार्थता स्वीकार करता था जिन्हें मानव की बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सके। स्पष्टतः इसका अर्थ यह हुआ कि वह ब्रह्म और ईश्वर की सत्ता नहीं

मानता था। उसके अनुसार यज्ञ की कल्पना ब्राह्मणों ने दक्षिणा अर्जित करने के उद्देश्य से की है। चार्वाक को बदनाम करने के लिए उसके विरोधियों ने उसके केवल इस मत को खूब उछाला : *जब तक जिएँ सुख से जिएँ, कर्ज लेकर घी पिएँ*। लेकिन चार्वाक का वास्तविक योगदान है उसकी भौतिकवादी दृष्टि। वह किसी भी कार्य में दिव्य या अलौकिक हाथ को नकारता है और मानव को सभी क्रियाओं का मूल मानता है।

भौतिकवाद के आग्रह वाले दार्शनिक धाराओं का विकास ईसा-पूर्व 500 और 300 ई. के बीच की अवधि में हुआ जब आर्थिक और सामाजिक स्थिति विकास-विस्तार की ओर थी। गंगा के मैदान में और अन्यत्र बस्तियाँ बनाने में और दैनन्दिन जीवन गुजारने में बाधा डालने वाली प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष के परिणामस्वरूप लोहे के सहारे खेती का कौशल उद्भूत और विकसित हुआ, धातु मुद्रा चली, और शिल्प एवं व्यापार चलने लगा। इस नए वातावरण में वैज्ञानिक और भौतिकवादी विचारधारा पनपी। यह विचारधारा मुख्य रूप से चार्वाक दर्शन में आयी तथा कई परंपरागत दार्शनिक धाराओं में भी दिखाई दी।

पाँचवीं सदी के आते-आते भौतिकवादी दर्शन को प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने दबा दिया। वे भौतिकवादी दर्शन की निरन्तर निन्दा करते रहे और धार्मिक अनुष्ठानों एवं आध्यात्मिक साधनाओं को मोक्ष का मार्ग बताते रहे। उन्होंने सांसारिक कार्य का कारण अलौकिक शक्ति को बताया। यह मत वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रगति में और तार्किक चिंतन में बाधक सिद्ध हुआ। प्रबुद्ध वर्ग भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विशेषाधिकारों पर शंका करने में हिचकिचाने लगे। प्रत्ययवादी और मोक्षवादी दर्शनों में खोया हुआ जनसामान्य वर्णाधारित समाज-व्यवस्था की विषमताओं की ओर तथा राज्य की प्रतिमूर्ति राजा की प्रबल सत्ता की ओर कभी नजर उठा नहीं सका।

अभ्यास

1. निम्नलिखित पदों और धारणाओं का आशय स्पष्ट करें :
   अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष, आसन, कर्म, प्रत्ययवादी, भौतिकवादी।
2. प्राचीन भारतीय दर्शन की मुख्य-मुख्य पद्धतियाँ क्या थीं ? प्रत्येक का वैशिष्ट्य बताएँ।
3. प्राचीन भारत के मनीषियों ने मानव जीवन के कौन-कौन से चार लक्ष्य बताएँ हैं ?
4. 'प्रत्ययवादी जीवन दर्शन' और 'भौतिकवादी जीवन दर्शन' का क्या तात्पर्य है ? प्राचीन भारत की विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों में किसे प्रत्ययवादी और किसे भौतिकवादी कह सकते हैं, और क्यों ?

अध्याय 26

भारत का एशियाई देशों से सांस्कृतिक सम्पर्क

मध्यकालीन स्मृतिकारों और टीकाकारों ने कहा है कि समुद्र-यात्रा नहीं करनी चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अतीत में बाहरी दुनिया से भारत का संपर्क नहीं था। पर ऐसी बात है नहीं। भारत हड़प्पा-युग से ही अपने एशियाई पड़ोसियों से सम्पर्क बनाए रहा। भारतीय व्यापारी लोग मेसोपोटामिया के नगरों तक पहुँचे जहाँ ईसा-पूर्व 2400 से ईसा-पूर्व 1700 के बीच उन व्यापारियों की मुहरें पाई गई हैं। ईसवी सन् के आरंभ से भारत ने चीन, दक्षिण-पूर्व एशिया,पश्चिम एशिया और रोमन साम्राज्य के साथ वाणिज्य संपर्क बनाए रखे। हम बता चुके हैं कि किस प्रकार भारतीय स्थल-मार्ग चीनी रेशम-मार्ग से जुड़े हुए थे। पूर्वी रोमन साम्राज्य के साथ भारत के वाणिज्य संबंधों की चर्चा भी की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त, भारत ने पड़ोसी देशों में धर्मप्रचारक, विजेता और व्यापारी भेजे, जिन्होंने वहाँ बस्तियाँ बनाईं।

बौद्ध धर्म के प्रचार से श्रीलंका, बर्मा, चीन और मध्य एशिया के साथ भारत के सम्पर्क बढ़े। अधिक संभव है कि ईसा-पूर्व तीसरी सदी में अशोक के शासन काल में बौद्ध धर्मप्रचारक श्रीलंका भेजे गए। ईसा-पूर्व दूसरी और पहली सदियों के छोटे-छोटे ब्राह्मी अभिलेख श्रीलंका में पाए गए हैं। कालान्तर में बौध धर्म ने श्रीलंका में स्थायी तौर पर अपने पैर जमा लिए। ईसवी सन् की आरंभिक सदियों में बौद्ध धर्म का प्रचार भारत से बर्मा अर्थात् आधुनिक म्यनमार की ओर हुआ। बर्मी लोगों ने बौद्ध धर्म के थेरवाद को विकसित किया, और बुद्ध की आराधना में अनेक मंदिर और प्रतिमाएँ बनाई। इससे भी महत्त्व की बात यह है कि बर्मा और श्रीलंका के बौद्धों ने प्रचुर बौद्ध साहित्य की रचना की, जो भारत में दुर्लभ था। श्रीलंका में समस्त पालि मूल ग्रन्थ संगृहीत किए गए और उन पर टीकाएँ लिखी गईं। बौद्ध धर्म भारत में तो लुप्त हो गया, पर श्रीलंका में इस धर्म के अनुयायी भारी संख्या में रहे। वहाँ आज भी यही स्थिति है।

कनिष्क के शासन काल से ही कई भारतीय धर्मप्रचारक चीन, मध्य एशिया और अफगानिस्तान जा-जाकर बौद्ध धर्म का उपदेश देते रहे। चीन से बौद्ध धर्म कोरिया और जापान पहुँचा। फा-ह्यिान और हुआन सांग जैसे कई चीनी यात्री बौद्ध धर्मग्रंथों और सिद्धांतों की खोज में ही भारत आए। अन्ततः यह संपर्क दोनों देशों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। बौद्धों की एक बस्ती

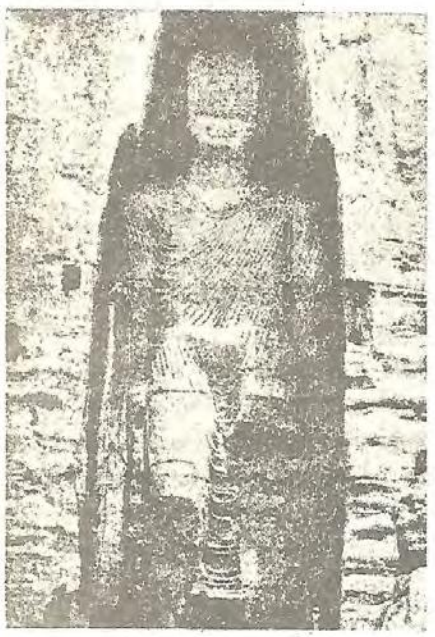

अफगानिस्तान के बामियान में मिली बुद्ध की मूर्ति

चीन-स्थित तुन-हुआङ में बस गई, जहां से मरुभूमि के उस पार जाने वाली वणिकों की टोलियां अपनी यात्रा शुरू करती थीं। भारतीयों ने रेशम उपजाने का कौशल चीन से सीखा और चीनियों ने बौद्ध चित्रकला भारत से सीखी।

प्राचीन काल में बौद्ध धर्म के दो और महान् केंद्र थे—अफगानिस्तान और मध्य एशिया। अफगानिस्तान में बुद्ध की बहुत-सी मूर्तियाँ और कई विहार मिले हैं। बेगराम और बामियान, जो इस देश के उत्तरी भाग में हैं, ऐसे पुरावशेषों के लिए प्रख्यात हैं। बेगराम की हाथीदांत की दस्तकारी मशहूर है, जिसमें कुषाण काल की भारतीय कलाकारी से समानता है। दुनिया की सबसे बड़ी बुद्धमूर्ति जो ईसवी सन् के आरंभिक वर्षों में चट्टान को काटकर बनाई गई, बामियान का गौरव बढ़ा रही है। यहाँ अनगिनत प्राकृतिक और कृत्रिम गुफाएँ हैं जिनमें बौद्ध भिक्षु रहते थे। अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म सातवीं सदी तक जमा रहा। इस सदी में इस्लाम धर्म ने इसे अपदस्थ कर दिया।

ऐसी ही गतिविधियां मध्य एशिया में भी हुई थी। मध्य एशियाई क्षेत्रों में कई स्थानों पर उत्खननों के फलस्वरूप कई बौद्ध विहार, स्तूप और अभिलेख प्रकाश में आए हैं और भारतीय भाषाओं में लिखी पांडुलिपियाँ मिली हैं। कुषाण शासन के विस्तार के फलस्वरूप खरोष्ठी लिपि में लिखी प्राकृत भाषा मध्य एशिया में फैली, जहाँ ईसा की चौथी सदी के अनेक प्राकृत अभिलेख और पांडुलिपियां मिली हैं। लिखित भाषा का प्रयोग प्रशासनिक तथा दैनन्दिन पत्राचार में तथा बौद्ध धर्म के परिरक्षण और प्रचारण में भी होता था। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म की प्रमुखता सातवीं सदी के अन्त के आसपास तक रही।

भारतीय संस्कृति दक्षिण-पूर्व एशिया में भी पहुँची लेकिन बौद्ध धर्म के माध्यम से नहीं। बर्मा को छोड़ कर अन्य देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार मुख्यतया ब्राह्मणीय धर्म के जरिए हुआ। बर्मा के पेगू और मोलमेन सुवर्णभूमि कहलाते हैं। भड़ौच, वाराणसी और भागलपुर के व्यापारी बर्मा के साथ व्यापार करते थे। बर्मा में गुप्त काल के काफी बौद्ध अवशेष मिले हैं। भारत ने ईसा की पहली सदी से ही इंडोनेशिया (जावा) के साथ, जिसे प्राचीन भारत के लोग सुवर्णद्वीप कहते थे, घनिष्ठ व्यापारिक संबंध स्थापित किए। यहाँ भारतीय बस्तियाँ सबसे पहले 56 ई. में स्थापित की गई। ईसा की दूसरी सदी में यहां कई छोटे-छोटे भारतीय

राज्य कायम किए गए। जब चीनी यात्री फा-हियान पाँचवीं सदी में जावा गया तो उसने वहाँ पर ब्राह्मण धर्म फैला पाया। ईसवी सन् की आरंभिक सदियों में पल्लवों ने सुमात्रा में अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं। कालक्रमेण वे सभी श्रीविजय राज्य के रूप में परिणत हुए जो राज्य पाँचवी से दसवीं सदी तक महत्त्वपूर्ण शक्ति और भारतीय संस्कृति का केंद्र बना रहा। जावा और सुमात्रा की भारतीय बस्तियाँ भारतीय संस्कृति के प्रसार का द्वार बन गईं। बस्तियों को स्थापित करने का सिलसिला आगे भी जारी रहा।

हिन्दचीन में, जो सम्प्रति वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस के रूप में बँट गया है, भारतीयों ने कम्बोज और चम्पा में दो शक्तिशाली राज्य स्थापित किए। कम्बोज का अर्थात् आज के कम्बोडिया का शक्तिशाली राज्य छठी सदी में स्थापित हुआ। उसके शासक शैव थे। उन्होंने कम्बोज को संस्कृत विद्या का केंद्र स्थल बना दिया। यहाँ असंख्य अभिलेख संस्कृत भाषा में लिखे गए।

कम्बोज के निकट चम्पा में, जिसमें उत्तरी वियतनाम की सीमापट्टी सहित दक्षिणी वियतनाम शामिल है, व्यापारियों ने अपनी बस्तियाँ बनाईं। चम्पा का राजा भी शैव था। उसकी राजकीय भाषा संस्कृत थी। यह देश वेदों और धर्मशास्त्रों की शिक्षा का प्रमुख केंद्र माना जाता था।

हिन्द महासागर स्थित भारतीय बस्तियां तेरहवीं सदी तक फलती-फूलती रहीं, और इस अवधि में भारतीय लोग स्थानीय लोगों के साथ घुल-मिल गए। इस प्रकार दोनों के लगातार घुले-मिले रहने के कारण यहाँ नए प्रकार की कला, भाषा और साहित्य का उदय हुआ। इन देशों में हम ऐसी कई कलाकृतियाँ पाते हैं जो भारतीय और स्थानीय

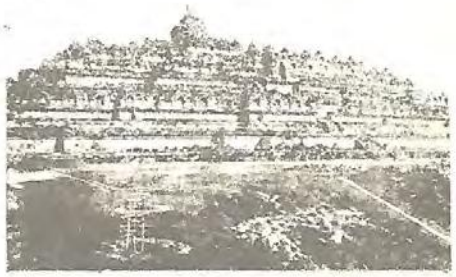

बोरोबुदुर मंदिर का विहंगम दृश्य

तत्वों का सफल मिश्रण दिखलाती हैं। यह अद्भुत बात है कि सबसे विशाल बौद्ध मंदिर भारत में नहीं बल्कि इंडोनेशिया के बोरोबुदुर में है। यह संसार भर में सबसे बड़ा बौद्ध मंदिर माना जाता है। इसका निर्माण आठवीं सदी में हुआ। इस पर बुद्ध के 436 चित्र उत्कीर्ण हैं।

कम्बोडिया के अंकोरवट का मंदिर बोरोबुदुर के मंदिर से भी बड़ा है। मध्यकाल में निर्मित होने पर भी इसकी तुलना मिस्रियों और यूनानियों की उत्कृष्टतम कलाकृतियों से की जा सकती है। इस मंदिर की दीवारों पर **रामायण** और **महाभारत** की कहानियां उभड़ी हुई मूर्तियों में अंकित हैं। इंडोनेशिया में **रामायण** की कहानी इतनी लोकप्रिय है कि वहाँ की जनता इस पर आधारित लोक नाट्य खेलती है। इंडोनेशियाई भाषा **बहसा इंडोनेशिया** में अनगिनत संस्कृत शब्द हैं। मूर्तियों के बारे में कहा जा सकता है कि थाईलैंड में मिला बुद्ध का मुण्ड, कम्बोज में पाया गया बुद्ध का मुण्ड तथा जावा में मिली काँसे की शानदार मूर्तियाँ दक्षिण-पूर्व एशिया की स्थानीय कला-परंपराओं के साथ भारतीय कला के संगम के उत्कृष्टतम नमूने हैं। इसी प्रकार चित्रकला के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण, जिनकी तुलना अजन्ता के

चित्रों से की जा सकती है, न केवल श्रीलंका में बल्कि चीनी सीमा पर तुन हुआंड, गुफ़ाओं में भी मिले हैं।

यह समझना गलत होगा कि भारतीय संस्कृति के प्रसार का श्रेय केवल धर्म को है। धर्मप्रचारकों के पीछे-पीछे व्यापारी और विजयाकांक्षी भी जाते रहे और उन्होंने मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत के संबंधों को मजबूत बनाने में प्रमुख भूमिका निभाई। दक्षिण-पूर्व एशिया के इन क्षेत्रों को दिए गए नाम **सुवर्णभूमि** और **सुवर्णद्वीप** स्वयं सूचित करते हैं कि भारतीय वहाँ सोने की खोज में गए थे। व्यापार से वस्तुओं का विनिमय हुआ ही, साथ-साथ सांस्कृतिक तत्वों का भी विनिमय हुआ। यह मानना गलत होगा कि केवल भारतीयों ने ही अपने पड़ोसियों के सांस्कृतिक विकास में योगदान किया। यह दो-तरफ़ा प्रक्रिया थी। भारतीयों ने अपने दूर और पास के पड़ोसियों से भौतिक संस्कृति के कई उपादेय तत्व लिये भी। उन्होंने यूनानियों और रोमनों से सोने का सिक्का ढालना सीखा, चीनियों से रेशम पैदा करना सीखा, इंडोनेशिया से पान की बेल लगाना सीखा, और कई अन्यान्य चीज़ें भी अपने पडोसी देशों से सीखीं। इसी प्रकार कपास उगाने का कौशल भारत से चीन और मध्य एशिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कला, धर्म, लिपि और भाषा के क्षेत्र में भारत का योगदान अधिक मूल्यवान रहा। परंतु पड़ोसी देशों में जो संस्कृति विकसित हुई वह किसी भी तरह भारतीय संस्कृति की प्रतिकृति मात्र न थी। जिस प्रकार भारत ने विदेशी प्रभावों के बावजूद अपने व्यक्तित्व को बनाए रखा और उसका विकास किया उसी प्रकार दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों ने भारतीय संस्कृति के कई तत्वों को मिलाकर अपनी-अपनी संस्कृति विकसित की।

अभ्यास

1. दक्षिणी, दक्षिण-पूर्वी, मध्य और पूर्वी एशिया के देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक संबंधों का वर्णन करें।
2. बताएँ कि भारतीय संस्कृति के तत्व इन देशों में किन-किन ज़रियों से पहुंचे।
3. इन देशों के जीवन और संस्कृति के कौन-कौन से पहलू भारतीय सपर्क से प्रभावित हुए ? उदाहरण दे।
4. इन देशों की कलाकृतियों और वास्तुशिल्पों के चित्रों का संग्रह करें। इन चित्रों के सहारे इस बात की समीक्षा करें कि इन देशों की कला में भारतीय और देशी दोनों तत्वों का संगम है।

5. प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास में अन्य देशो की सस्कृति का प्रभाव–इस विषय पर एक निबन्ध लिखें। इसके लिए इस पुस्तक के पिछले अध्यायों का और अन्यान्य पुस्तकों का अवलोकन करें।
6. एशिया के बाह्यरैखिक मानचित्र पर उन देशों और स्थानों को दिखाएँ जिनका उल्लेख इस पाठ्यपुस्तक में किया गया है।

अध्याय 27

प्राचीन से मध्यकाल की ओर

सामाजिक संकट और भूमि-संबंधी परिवर्तन

प्राचीन भारतीय समाज जो धीरे-धीरे मध्यकालीन समाज में बदला, उसका मूल कारण था भूमिअनुदान की प्रथा। यह प्रथा कैसे आरंभ हुई? भूमिअनुदान के शासन-पत्र (सनद) बताते हैं कि दाताओं, मुख्यत: राजाओं को पुण्य-प्राप्ति की कामना रहती थी और दान पानेवालों, मुख्यत: भिक्षुओं और पुरोहितों को धार्मिक अनुष्ठानों के लिए संसाधन की आवश्यकता रहती थी। परंतु वास्तव में यह प्रथा ऐसे गंभीर संकट के कारण चली जो प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के ऊपर मंडरा रहा था। वर्णमूलक समाज-व्यवस्था वैश्य कहलानेवाले किसानों और शूद्र कहलाने वाले मज़दूरों के उत्पादनात्मक कार्यकलापों पर टिकी थी। राजा के अधिकारी इन वैश्यों से जो कर वसूलते थे उससे वे अपने अधिकारियों और श्रमिकों का वेतन चुकाते थे, पुरोहितों को दान-दक्षिणा देते थे, और भोग-विलास की वस्तुएँ वणिकों और बड़े-बड़े शिल्पियों से खरीदते थे। लेकिन ईसा की तीसरी-चौथी सदियों में आकर पुराणों में वर्णित कलियुग नामक संकट ने इस व्यवस्था को ग्रसित कर लिया। समकालीन पुराणों ने ऐसी अवस्था का वर्णन किया है जब वर्ण अपने-अपने नियत कर्मों से विमुख होने लगे। निचले वर्ण उच्च वर्ण बनने और उनके कर्मों को अपनाने लगे। अर्थात् वे कर चुकाना और सेवा-कर्म करना अस्वीकार करने लगे। इससे वर्णसंकर उत्पन्न हुआ, अर्थात् एक वर्ण दूसरे वर्ण में मिलने लगा। वर्णभेद के बन्धनों को तोड़ने का प्रयास होने लगा। क्योंकि उत्पादक वर्ग तरह-तरह के करों और लगानों के बोझ से पीड़ित था, और राजा उस वर्ग की रक्षा नहीं करता था। इस तरह की स्थिति को पुराणों में कलियुग के नाम से वर्णित किया गया है, और पुराणों के जिन भागों में इसका चित्रण किया गया है, उनका समय तीसरी-चौथी ई. में रखा गया है।

इस संकट से निबटने के लिए अनेक उपाय किए गए। **मनु स्मृति**, जो लगभग इसी समय की है, बताती है कि शूद्रों और वैश्यों को अपने-अपने कर्मों से विचलित नहीं होने देना चाहिए। इससे दमनात्मक कार्रवाई को प्रश्रय मिला होगा। लेकिन इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए एक अधिक कारगर कदम था पुरोहितों और अधिकारियों को

वेतन और पारिश्रमिक की जगह बड़े पैमाने पर भूमि का अनुदान। इस प्रथा में यह सुविधा थी कि इससे राज-प्रदत्त क्षेत्रों में करों की वसूली करने और शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने का भार अनुदानभोगियों के ऊपर चला जाता था। वे उद्दण्ड किसानों के साथ सीधा निपट सकते थे। इस प्रथा से खेती का नए क्षेत्रों में विस्तार करना भी संभव हुआ। साथ ही, विजित जनजातीय क्षेत्रों में बसाए गए ब्राह्मण वहाँ के मूलवासियों को आसानी से यह शिक्षा दे सकें कि वर्ण-व्यवस्था को मानें, राजा की आज्ञा का पालन करें और उसे कर चुकाएँ।

भूस्वामियों का उदय

भूमिअनुदान की प्रथा ईसा की पाँचवी सदी से तेजी पकड़ती गई। इस प्रथा के अनुसार ब्राह्मणों को सारे कर चुकाने की छूट के साथ भूमि दी जाती थी। गाँवों से राजा जितने भी करों की उगाही करता था उन सबों की उगाही का अधिकार ब्राह्मणों को मिल जाता था। इसके अलावा अनुदान-ग्रामों में बसने वाले लोगों पर शासन करने का अधिकार भी दानग्राही पाते थे। सरकारी अधिकारियों और राजा के परिचरों को दान किए गए गाँवों में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। ईसा की पाँचवीं सदी तक चोरों को सजा देने का अधिकार राजा सामान्यतः अपने ही हाथ में रखता था, परंतु बाद में सभी प्रकार के अपराधियों को सजा देने का भी अधिकार दानग्राहियों को दिया जाने लगा। इस प्रकार दानग्राही ब्राह्मण किसानों और शिल्पियों से करों की वसूली करने के साथ-साथ अपने गाँव में शान्ति व्यवस्था का काम भी करने लगे। ब्राह्मणों को दिया गया दान शाश्वत् अर्थात् सदा स्थायी होता था। अतः गुप्तकाल के बाद से राजा की शक्ति बहुत ही घटने लगी। मौर्य काल में कर का निर्धारण और वसूली राजा के कारिंदे करते थे और वे ही शान्ति-व्यवस्था को देखते थे। परंतु, भूमिअनुदानों के फलस्वरूप ऐसे-ऐसे इलाके बन गए जो राजकीय नियंत्रण के परे थे।

अधिकारियों को वेतन के बदले भूमि देने की प्रथा ने राज्य नियंत्रित क्षेत्र को संकुचित कर दिया। मौर्यकाल में छोटे से बड़े तक सभी अधिकारियों को वेतन सामान्यतः नगद चुकाया जाता था। यह प्रणाली कुषाणों के अमल में भी चलती रही, जिन्होंने भारी संख्या में तांबे और सोने के सिक्के जारी किए। यही प्रथा किसी-न-किसी तरह गुप्त काल में भी चलती गई, जिन्होंने स्वर्ण-मुद्राएँ स्पष्टतः सेना और उच्च अधिकारियों को वेतन चुकाने के उद्देश्य से ढलवाई थी। लेकिन ऐसा लगता है कि छठी सदी में स्थिति बदल गई। उस सदी की स्मृतियों में कहा गया है कि वेतन के बदले भूमि दी जा सकती है। तदनुसार हर्षवर्धन के समय से अधिकारियों को वेतन भूराजस्व के रूप में दिया जाता रहा। राज्य की आय का चौथा हिस्सा उच्च अधिकारियों के वेतन-भुगतान की मद में संचित किया जाने लगा। गवर्नरों या राज्य प्रतिनिधियों को तथा मंत्रियों, दण्डनायकों और अधिकारियों को भूमि का कुछ भाग निजी भरण-पोषण के लिए दे दिया जाता था। इन सबों के फलस्वरूप राजा के प्रभुत्व क्षेत्र को हड़पते हुए भूस्वामी उदित हुए।

नई कृषि-अर्थव्यवस्था

कृषि-अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। ये भूस्वामी न खुद अपनी जमीन आबाद कर सकते थे, और न ही कर की वसूली कर सकते थे। असल में खेती का काम उन किसानों या बटाईदारों को सौंपा जाता था जो जमीन से जुड़े तो थे पर कानूनन वे उसके हकदार नहीं थे। चीनी यात्री इ-त्सिंग ने कहा है कि अधिकांश बौद्ध विहार अपने नौकर-चाकर से खेती कराते थे। हुआन सांग ने शूद्रों को कृषक बतलाया है, इससे यह ज्ञात होता है कि शूद्र दासों या कृषि-मज़दूरों के रूप में खेती का काम करना छोड़ रहे थे, शायद उनका अस्थायी तौर पर जमीन पर कब्जा हो रहा था। ऐसा उत्तर भारत की पुरानी बस्तियों में हुआ होगा।

जब जनजातीय इलाकों में गाँव अनुदान में दिया जाता था तब इस गाँव के कृषक अनुदान लेने वाले व्यक्ति के हाथ सौप दिए जाते थे। ये भूस्वामी सामान्यतः ब्राह्मण होते थे, क्योंकि पाँचवीं-छठी सदियों से ही बड़े पैमाने पर गाँव ब्राह्मणों को दान में दिए जाते रहे। छठी सदी से ही उड़ीसा, दकन आदि पिछड़े पहाड़ी क्षेत्रों में बटाईदारों और किसानों से खास तौर से कहा जाता था कि वे दी गई भूमि पर कायम रहें। वहाँ से यह परिपाटी गंगा के मैदान में भी फैली। सातवीं सदी में गया और नालन्दा के अभिलेख में शिल्पियों और किसानों से कहा गया है कि वे दान किए गए गाँवों को नहीं छोड़ें। अतः वे एक गाँव को छोड़ दूसरे गाँव नहीं जा सकते थे, लेकिन उसी गाँव में रहकर वहाँ की सभी आवश्यकताओं यथासाध्य को पूरा किया करते थे।

व्यापार का ह्रास और प्राचीन नगरों का पतन

ईसा की छठी सदी से व्यापार का ह्रास होने लगा। पश्चिमी रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार तीसरी सदी में ही समाप्त हो गया था, तथा ईरान और बायजेंटियम के साथ रेशम का व्यापार छठी सदी के मध्य में आकर बन्द हो गया। भारत का चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ कुछ-कुछ व्यापार चलता था, परन्तु इसका लाभ अरब लोगों के हाथ में चला जाता था जो बिचौलिए का काम करते थे। इस्लाम के उदय होने के पूर्व काल में अरब लोगों ने वास्तव में भारत के निर्यात व्यापार को लगभग पूरा-पूरा हथिया लिया था। छठी सदी के बाद लगभग 300 वर्षों से भी अधिक समय तक व्यापार पतनावस्था में रहा। इस बात का प्रबल प्रमाण है-देश में स्वर्ण मुद्राओं का लगभग पूरा-पूरा गायब हो जाना। इस अवधि में सिक्कों की कमी उत्तर भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी दिखाई देती है।

व्यापार के ह्रास से नगरों के बुरे दिन आए। नगरों का उत्थान दकन, पश्चिम और उत्तर भारत में सातवाहनों और कुषाणों के राज्यकाल में हुआ। कुछ नगर गुप्तकाल में तो फूलते-फलते रहे, लेकिन गुप्तोत्तर काल में उत्तर भारत के बहुत-सारे पुराने वाणिज्य नगर उजाड़ हो गए। उत्खननों से पता चलता है कि हरियाणा और पूर्वी पंजाब के कई नगर, पुराना किला (दिल्ली), मथुरा, हस्तिनापुर (जिला मेरठ), श्रावास्ती (उत्तर प्रदेश), कौशाम्बी (इलाहाबाद के निकट), राजघाट (वाराणसी), चिरॉद, (सारन जिला) वैशाली और पाटलिपुत्र गुप्तकाल में ही पतनोन्मुख हो गए थे

और गुप्तोत्तर काल में ही अधिकांश लुप्त हो गए। चीनी यात्री हुआन त्सांग ने बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध कई पुण्य-नगरों में भ्रमण किया तो देखा कि वे या तो उजड़ गए या टूटे-फूटे हैं। भारत के माल के लिए विदेशों में बहुत कम बाज़ार रह गया, इसलिए इन नगरों में रहने वाले शिल्पी और वणिक लोग देहात चले गए और वहाँ खेती करनें लगे। पाँचवी सदी के उत्तरार्ध में रेशम बुनकरों की एक टोली पश्चिम समुद्रतट को छोड़कर मालवा के मन्दसोर में आ बसी, और वहाँ रेशम की बुनाई छोड़कर दूसरे पेशे को अपनाया। व्यापार और नगरों का ह्रास हो जाने पर गाँव के लोगों को तेल, नमक, मसाला, कपड़ा आदि वस्तुओं के बारे में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति खुद ही करनी पड़ी इससे उत्पादन की छोटी-छोटी इकाइयाँ उभरी, हर इकाई अपनी आवश्यकता की पूर्ति अपने आप कर लेती।

छठी सदी के बाद समाज के ढाँचे में कुछ बदलाव आए। उत्तर भारत के गंगा के मैदान में वैश्य स्वतंत्र किसान माने जाते थे, परंतु ग्राम अनुदानों ने उनके और राजा के बीच भूस्वामियों को लाकर खड़ा कर दिया, जिससे वैश्यों की हैसियत वही हो गई जो शूद्रों की थी। इस प्रकार पुरानी समाज-व्यवस्था में अंतर आ गया। सामाजिक ढाँचे का यह परिवर्तन उत्तर भारत से बंगाल और दक्षिण भारत में भी फैल गया जहाँ पाँचवीं से सातवीं सदियों तक ब्राह्मणों को उत्तर भारत से बुला-बुला कर भूमिअनुदान दिया जाता रहा। अत: बाह्य क्षेत्रों में हम केवल दो वर्ण पाते हैं– ब्राह्मण और शूद्र।

वर्णव्यवस्था में परिवर्तन

बार-बार सत्ता हथियाते और भूमिअनुदान पाते-पाते कई कोटियों के भूस्वामी पनप उठे। जब कोई सत्ता और भूमि हथिया लेता था तो वह सहज ही समाज में उँचा स्थान पाने के लिए इच्छुक होने लगता था। वह भले ही निम्न वर्ण का हो, अपने स्वामी से भूमिदान पा लेता था। इससे कठिनाइयाँ पैदा होने लगीं, क्योंकि उसकी स्थिति आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से निम्न होती थी। धर्मशास्त्र के अनुसार सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार वर्ण ही होता था। समाज चार वर्णों में विभक्त था जिसमें सबसे ऊपर ब्राह्मण और सबसे नीचे शूद्र थे। किसी व्यक्ति को आर्थिक अधिकार भी उसके वर्ण के अनुसार ही मिलता था। अत: इन नए भूस्वामियों के विभिन्न वर्गों को प्रतिष्ठोचित स्थान देने के लिए शास्त्रों में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। छठी सदी में हुए वराहमिहिर नामक ज्योतिषी ने निवास-गृहों का आकार चार वर्णों के लिए अलग-अलग बताया, जैसा कि पहले से चला आ रहा था। परंतु उसने इसके साथ ही भिन्न-भिन्न कोटि के शासकों के लिए भी निवासगृहों के अलग-अलग आकार निर्धारित किए। इस तरह पूर्व के समाज में हर वस्तु का वर्गीकरण वर्ण के अनुसार होता था, पर अब हस्तगत भूमिसंपदा की मात्रा के अनुसार वर्गीकरण शुरू हो गया।

सातवीं सदी के बाद अनगिनत जाति-उपजातियाँ पैदा हुईं। पूर्व मध्यकाल का एक पुराण बतलाता है कि वैश्य वर्ण की स्त्री के साथ निम्न वर्ण के पुरुष के संयोग से हजारों वर्णसंकरों की उत्पत्ति हुई।

इसका अर्थ हुआ कि शूद्र और अन्त्यज असंख्य उपजातियों में बँट गए। यही हाल हुआ ब्राह्मणों का, और उन राजपूतों का भी जो सातवीं सदी के आसपास भारतीय राज्यव्यवस्था और समाज में आगे आए। जातियों की संख्या बढ़ाने में उस नई अर्थव्यवस्था का भी हाथ रहा जिसमें लोग एक स्थान छोड़ दूसरे स्थान को नहीं जा सकते थे। एक ही तरह के व्यवसाय में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लगे लोग अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार भिन्न-भिन्न उपजातियों में बँट गए। इसके अतिरिक्त, जनजातीय क्षेत्रों में जहाँ भूमिअनुदान पाकर ब्राह्मण बस गए वहाँ के जनजातीय लोग ब्राह्मणीय समाज में शामिल कर लिए गए, और इनमें अधिकतर लोगों को शूद्र और मिश्रित जाति का मान लिया गया। इस प्रकार प्रत्येक जनजाति या कुल को ब्राह्मणीय समाज में अलग जाति के रूप में शामिल कर लिया गया।

सांस्कृतिक विकास

छठी-सातवीं सदियों के आसपास देश में कई सांस्कृतिक इकाइयों का उदय हुआ जो बाद में, असम, आन्ध्र, उड़ीसा, कर्नाटक, गुजरात, तमिलनाडु, बंगाल, महाराष्ट्र, राजस्थान आदि नामों से प्रसिद्ध हुईं। इस तरह के सांस्कृतिक समूहों के अस्तित्व को विदेशी और देशी दोनों स्रोतों ने स्वीकार किया है। चीनी यात्री हुआन सांग ने कई राष्ट्रीय समवायों या जनगणों का उल्लेख किया है। आठवीं सदी के उत्तरार्ध में रचित कई जैन ग्रन्थों में 18 प्रमुख जनगणों अथवा उपराष्ट्रीय समूहों की चर्चा है। इसमें सोलह के शारीरिक लक्षण भी वर्णित हैं, उनकी भाषा के नमूने दिए हुए हैं और उनके चरित्रों के बारे में भी कुछ बातें कही गई हैं। नौवीं सदी का नाटककार विशाखादत्त कहता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न आचार व्यवहार, वेश-भूषा और भाषा वाले लोग बसते हैं।

छठी-सातवीं सदियाँ संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। शासक वर्ग ईसा की दूसरी सदी से ही संस्कृत का प्रयोग करते आ रहे थे। शासक स्वयं शान-शौकत से रहते थे, अत: उनकी भाषा भी शब्दाडम्बरपूर्ण और अलंकृत होती गई। संस्कृत गद्य और पद्य की अलंकृत शैली सातवीं सदी से ही जोर पकड़ती गई। प्राचीन परंपरा के संस्कृत पंडितों को आज भी अलंकृत शैली बहुत पसन्द है। गद्य में शब्दाडम्बर की पराकाष्ठा बाण की कृतियों में देखी जाती है। यद्यपि बाण की गद्य-शैली का अनुकरण करना खेल नही था, फिर भी मध्य काल के संस्कृत लेखकों ने उसी को अपना आदर्श बनाया।

ईसा की सातवीं सदी से हम भारतीय भाषाओं के इतिहास में अद्भुत गतिविधि पाते हैं। पूर्वी भारत की बौद्ध कृतियों में बांग्ला, असमिया, मैथिली, उड़िया और हिन्दी के उद्भव का मंद आभास पाया जाता है। इसी प्रकार इसी काल की जैन प्राकृत की रचनाओं में गुजरती और राजस्थानी का आरंभ दिखाई देता है। दक्षिण में तमिल तो सबसे पुरानी भाषा थी, लेकिन कन्नड़ का उद्भव इसी समय आरंभ होता है, जबकि तेलुगु और मलयालम बहुत बाद में विकसित हुई हैं। लगता है प्रत्येक प्रदेश के अन्य प्रदेशों से अलग रहने के कारण हर प्रदेश में उसकी अपनी-अपनी भाषा बनने लगी। गुप्त साम्राज्य के विघटित होने

पर बहुत से छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य उदित हुए, जिससे सहज ही देशव्यापी संचार और संपर्क में बाधा पड़ी। व्यापार में गिरावट आने के फलस्वरूप भी एक प्रदेश का दूसरे प्रदेश से संपर्क टूटा, और इससे क्षेत्रीय भाषाओं के उद्भव को बल मिला।

क्षेत्रीय लिपियों को सातवीं सदी में और उसके बाद में प्रमुखता मिली। मौर्य काल से गुप्त काल तक लिपि में परिवर्तन होते रहे, लेकिन देश के अधिकांश भाग में आमतौर पर एक ही लिपि चलती रही। अतः जो कोई गुप्त काल की लिपि पढ़ने में कुशल हो जाएगा उस काल के विभिन्न प्रदेशों में प्राप्त अभिलेखों को भी पढ़ सकेगा। लेकिन सातवीं सदी से प्रत्येक क्षेत्र में अपनी-अपनी लिपि विकसित हुई, इसलिए जो क्षेत्रीय लिपियों का जानकार नहीं रहेगा वह गुप्तोत्तर काल में देश के भिन्न-भिन्न भागों में पाए गए अभिलेखों को नहीं पढ़ सकेगा।

सातवीं-आठवीं सदियों से मूर्ति और मंदिर के निर्माण की शैली हर प्रदेश में अलग-अलग हो गई। विशेषकर दक्षिण भारत तो मानो प्रस्तर-मंदिरों का क्षेत्र बन गया। पत्थर और काँसा ये दो ऐसे माध्यम थे जिनके सहारे देवता साकार किए गए। कांस्य-प्रतिमाएँ बड़े पैमाने पर बनने लगीं। यद्यपि कांस्य-प्रतिमाएँ भारी संख्या में हिमालयी प्रदेशों में भी मिलती हैं, तथापि ये दक्षिण भारत में इसलिए अधिक पाई जाती हैं क्योंकि ब्राह्मण धर्म के मंदिरों में इनकी आवश्यकता हुई, और पूर्वी भारत में इसलिए अधिक मिलती हैं कि बौद्ध मंदिरों और विहारों में इनकी आवश्यकता हुई। यद्यपि एक ही देवता देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पूजे जाते थे, फिर भी हर प्रदेश के लोगों ने उनकी मूर्ति का निर्माण अपनी-अपनी रीति से किया।

भक्ति और तंत्र संप्रदाय

गुप्तोत्तर काल में हमें कुछ धार्मिक परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। देवमाला में देवताओं को स्थान उनकी श्रेष्ठता के क्रम से दिया जाने लगा। जिस तरह कर्मकाण्ड, भूमि-सम्पत्ति, सैनिक शक्ति आदि के आधार पर समाज असमान वर्गों में बँटा हुआ था, उसी तरह देवगण भी असमान कोटियों में बाँट दिए गए। विष्णु, शिव और दुर्गा ये तीनों मुख्य देवता के रूप में गृहीत हुए, और कई अन्य देव और देवियाँ उनके अधीन या गौण देवता माने गए, तथा परिचरों और अनुचरों के रूप में उनके नीचे रखे गए। हम ब्रह्मा, गणपति, विष्णु, शक्ति और शिव इन पाँच देवताओं की पूजा प्रचलित पाते हैं, जो सम्मिलित रूप से **पंचदेवता** कहलाते हैं। मुख्य देवता शिव या किसी अन्य देव या देवी को मुख्य मंदिर में स्थापित किया जाता था और उसके चारों ओर बने चार गौण मंदिरों में चार अन्य देवता रखे जाते थे। ऐसे मंदिर को **पंचायतन** कहा जाता था। वैदिक देव इन्द्र, वरुण और यम का दर्जा घट गया और वे **लोकपाल** की कोटि में आ गए। आरंभिक मध्यकाल की देवमालाओं के अवलोकन से प्रकट होता है कि सांसारिक सोपानक्रमिक वर्गभेद के अनुरूप ही देवों में भी वर्गभेद बनाया गया। कई देवमालाओं में मातृदेवी को अन्य देवताओं से ऊँचा स्थान दिया गया। हमें न केवल शैवों, शाक्तों और वैष्णवों के ऐसे देवमंडल मिलते हैं, बल्कि जैनों और बौद्धों के भी

मिलते हैं, जिनमें देव अपनी हैसियत के क्रम से अंकित और स्थापित होते हैं।

जैनों, शैवों और वैष्णवों आदि के संघटन भी श्रेणीबद्ध हो गए और पाँच पंक्तियों में बँट गए। सबसे ऊपर की पंक्ति आचार्य को मिली, जिसका अभिषेक उसी तरह होने लगा जिस तरह राजा का। उसके नीचे उपाध्याय उपासक आदि होते थे।

सातवीं सदी से भक्ति-संप्रदाय देश भर में फैल गया, दक्षिण में तो और भी। भक्ति का अर्थ था अपने आराध्य देव को सब कुछ समर्पित कर देना और उसके प्रतिफल में केवल आराध्य देव की कृपा प्राप्त करना। इसका आशय यह हुआ कि भक्ति-मार्ग का साधक अपने आराध्य के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता था। इसकी तुलना किसानों के अपने भूस्वामियों के ऊपर पूर्णतः आश्रित रहने की स्थिति में कर सकते हैं। जिस तरह किसान समर्पण की भावना से अपने भूस्वामी की सेवा करता था और भूस्वामी की कृपा से जोतने के लिए भूमि और रक्षा पाता था, उसी तरह का संबंध भक्त और भगवान के बीच भी बन गया। चूँकि सामंतवाद का रंग इस देश में दीर्घ काल तक जमा रहा, इसलिए भारतीय लोकाचार में भक्ति की जड़ें भली भाँति जम पाईं।

ईसा की छठी सदी के आस-पास से भारत में धर्म के क्षेत्र में तान्त्रिक संप्रदाय का फैलना सबसे बड़ी घटना है। पाँचवीं-सातवीं सदियों में नेपाल, असम, बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत और दकन में बहुत-से ब्राह्मणों को ग्रामदान मिले और लगभग इसी अवधि में तान्त्रिक ग्रन्थों, तांत्रिक पीठों और तांत्रिक साधनाओं का प्रचार हुआ। तंत्र-मार्ग में स्त्री और शूद्र दोनों के लिए द्वार खुला था और इसमें जादुई अनुष्ठान प्रमुख थे। कुछ अनुष्ठान पहले से भी चलते रहे होंगे, किंतु ईसा की छठी सदी के आस-पास से इन्हें सुव्यवस्थित करके तांत्रिक ग्रन्थों के रूप में लिखा जाने लगा। इन अनुष्ठानों का उद्देश्य धन-सम्पत्ति आदि की प्राप्ति तथा आधि-व्याधियों से विमुक्ति की कामना पूरी करना था। निःसन्देह तंत्र-मार्ग का उदय ब्राह्मणिक समाज में जनजातियों के बड़े पैमाने पर प्रवेश का परिणाम था। ब्राह्मणों ने उन के बहुत-सारे अनुष्ठानों, जादू टोनों और धार्मिक प्रतीकों को अपना लिया और उन्हें प्रामाणिक रूप में संकलित करके खूब चलाया। धीरे-धीरे ब्राह्मणों और पुरोहितों ने अपने धनवान यजमानों के हितार्थ इनमें मनमाना हेर-फेर भी किया। तंत्र-मार्ग जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव संप्रदायों में घुस गया। सातवीं सदी से लेकर सारे मध्य काल में तांत्रिक मार्ग जमा रहा। देश के विभिन्न भागों में पाई गई अनेक पांडुलिपियाँ तांत्रिक साधना और ज्योतिष के विषय की हैं और ये दोनों आपस में मिले-से गए हैं।

कुल मिलाकर ईसा की छठी और सातवीं सदी के दौरान राज्यव्यवस्था, समाज-संरचना, अर्थव्यवस्था, भाषा, लिपि, धर्म और कला इन सबों में कई गंभीर परिवर्तन हुए। इस अवधि में प्राचीन भारतीय जीवन के बहुत-सारे महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्यों के स्थान पर मध्यकालीन जीवन के वैशिष्ट्य अपने आसन जमाने लगे। मोटे तौर पर ये परिवर्तन भिन्न प्रकार के समाज और अर्थतंत्र के आगमन का संकेत देते हैं जिसमें राज्य और किसानों के बीच भूस्वामी वर्ग प्रमुख हो

चला। प्रशासन का संचालन जो पहले राज्य द्वारा नियुक्त अधिकारी करते थे, अब से भूस्वामी लोग करने लगे। यह घटना-क्रम वैसा ही है, जैसा ईसा की छठी सदी में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद वास्तविक सत्ता भूस्वामियों के हाथ में आने पर यूरोप में हुआ था। रोमन साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य दोनों पर हूणों के आक्रमण हुए लेकिन परिणाम भिन्न-भिन्न निकले। रोमन साम्राज्य पर हूणों और अन्य जनजातियों का दबाव इतना पड़ा कि किसानों को अपनी रक्षा के लिए अपनी स्वतंत्र वैसियत भूस्वामियों को समर्पित कर देनी पड़ी। लेकिन भारत में हूणों के आक्रमण का ऐसा परिणाम नहीं हुआ।

रोमन समाज के विपरीत, प्राचीन भारतीय समाज में उत्पादन-कार्य में दासों को किसी बड़े पैमाने पर नहीं लगाया गया। भारत में उत्पादन करने और कर चुकाने का मुख्य भार किसानों, शिल्पियों, वणिकों और कृषि-मजदूरों पर रहा, जो वैश्य और शूद्र की कोटि में रखे गए। हम इस व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह के लक्षण देखते हैं, जिसके चलते सीधे उत्पादकों से कर वसूल करना राज्य के अधिकारियों के लिए कठिन हो गया। इसलिए विभिन्न कार्यकर्ताओं को पारिश्रमिक के तौर पर भूमि देने की परंपरा बड़े पैमाने पर चल पड़ी। आरंभ में भूमिअनुदान केवल ब्राह्मणों और मंदिरों को दिया जाता था, ठीक वैसे ही जैसे यूरोप में चर्च को दिया जाता था।

भारत और यूरोप दोनों जगह ईसा की छठी सदी के बाद से शिल्प और वाणिज्य की गतिविधि में मंदी का रुख दिखाई देने लगा। पाँचवीं-छठी सदियों में भारत और रोमन साम्राज्य दोनों जगह प्राचीन नगर उजड़ने लगे। भारत और यूरोप दोनों में कृषि का विस्तार हुआ जिससे गाँवों में बस्तियाँ फैलीं। भारत में भूमिअनुदान-प्रथा से इसे बल मिला। भारत और यूरोप दोनों जगह प्राचीन युग के बाद शक्तिशाली वर्ग के रूप में भूस्वामियों का खड़ा होना सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिदृश्य का प्रमुख तत्व हो गया। भूमिअनुदान चाहे धार्मिक प्रयोजन से किया गया हो या अन्य प्रयोजन से, इन भूस्वामियों ने ईसा की सातवीं सदी से भारत और यूरोप दोनों जगह समाज, धर्म, कला, स्थापत्य और साहित्य को नई दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अभ्यास

1. पाँचवीं-सातवीं सदियों के बीच भारतीय शासनतन्त्र, अर्थतन्त्र और समाज-संरचना में हुए परिवर्तनों का वर्णन करें।
2. पाँचवीं-सातवीं सदियों के बीच हुई धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का वर्णन करें।
3. भारतीय इतिहास में प्राचीनकाल के अन्त का अभिप्राय क्या है? कब यह कहा जा सकता है कि इतिहास में प्राचीन युग का अंत हुआ और मध्य युग आरंभ हुआ? विवेचन करें।

अध्याय 28

सामाजिक परिवर्तनों का अनुक्रम

प्राग्वैदिक काल में समाज कैसा था इसका अध्ययन करने के लिए हमारे पास कोई लिखित स्रोत नहीं है। पुरातत्व से प्रकट होता है कि पुरापाषाण युग में लोग पहाड़ी इलाकों में छोटे-छोटे समूहों में रहते थे। जीवन-निर्वाह के लिए वे शिकार करते थे या वनों से कन्दमूल और फल बटोर कर लाते थे। मानव ने प्रस्तर-युग के अन्त और धातु-युग के आरंभ में खाद्य उपजाना और घर में रहना सीखा। नवपाषाण और ताम्रपाषाण युग के लोग ज़मीन के ऊँचाई वाले भाग पर रहते थे जो पहाड़ियों और नदियों से अधिक दूर नहीं होते थे। धीरे-धीरे सिन्धु घाटी क्षेत्र में किसानों के गाँव बसने लगे और फलते-फूलते वे गाँव छोटे-बड़े घरों वाले हड़प्पाई नगर-समाज के रूप में परिणत हुए। परंतु जब एक बार हड़प्पाई सभ्यता लुप्त हो गई तो लगभग हजार वर्षों तक भारतीय उपमहादेश में शहरी सभ्यता का पुनर्जन्म न हो सका।

जनजातीय और पशुचारण अवस्था

ऋग्वैदिक काल में समाज के इतिहास के लिए हमें लिखित स्रोत भी मिलने लगते हैं। उनसे प्रकट होता है कि खेती से सुपरिचित होने पर भी ऋग्वैदिक समाज प्रधानतः पशुचारक था। लोग अर्द्ध-यायावर (लगभग खानाबदोश) थे। गाय-बैल और घोड़े ही उनकी संपत्ति होते थे। ऋग्वेद में गो, वृषभ तथा अश्व के उल्लेख बार-बार आते हैं। गाय-बैल और धन दोनों समानार्थक माने जाते थे और **गोमत्** का अर्थ होता था धनवान। गाय-बैल के लिए लड़ाइयाँ होती थी और गायों की रक्षा करना राजा का मुख्य धर्म होता था, इसलिए राजा **गोप** या **गोपति** कहलाता था। परिवार में गाय का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण था कि बेटी को **दुहितृ** अर्थात् दुहने वाली कहा जाता था। वैदिक आर्यों को गाय से इतनी घनिष्ठता थी कि जब उन्होंने भारत में पहली बार भैंस को देखा तो वे उसे **गोवाल** अर्थात् गाय जैसे बालों वाली कहने लगे। गाय और वृषभ की चर्चा की तुलना में कृषि की चर्चा ऋग्वेद में कम है, जो है वह भी अधिकांशतः उत्तरकालीन सूक्तों में ही है। इसलिए पशुचारण ही जीविका का मुख्य साधन था।

ऐसे समाज में लोग अपने जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य मात्रा से अधिक उत्पादन शायद ही करते होंगे। जनजाति के लोग अपने प्रधानों को

कभी-कभार ही भेंट या नज़राना दे पाते होंगे। प्रधानों या राजाओं का मुख्य आय-साधन युद्ध-लूट रहा होगा। वे शत्रुओं से सम्पत्ति छीनते होंगे और विरोधी जनजातियों और जनजातीय सहवासियों से नज़राना लेते होंगे। राजा को दिया जाने वाला यह नजराना बलि (चढ़ावा) कहलाता था। लगता है कि जनजातीय स्वजन अपने सरदार के प्रति श्रद्धा करते और स्वैच्छिक भेंट चढ़ाते थे। बदले में सरदार उन्हें विजय पर विजय दिलाते और संकट की घड़ी में उनकी रक्षा करते थे। श्रद्धा के कारण समय-समय पर मिलने वाली भेंट वैदिक काल में रिवाज बन गई होगी। लेकिन पराजित विरोधी जनजातियों को नजराना चुकाने के लिए बाध्य किया जाता था। समय-समय पर होने वाले यज्ञों के मौकों पर ऐसे उपहार और नज़राने स्वजनों में बाँट दिए जाते थे। इस बँटवारे में सबसे बड़ा हिस्सा उन पुरोहितों को मिलता था जो अपने यजमानों के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। ऋग्वेद में एक जगह देवता का आवाहन करके उससे ब्राह्मणों, राजन्यों और यजमानों के आरोग्य की प्रार्थना की गई है। इसमें असमान वितरण की चेष्टा का संकेत मिलता है। राजा और पुरोहित सामान्य लोगों का हक मारकर अधिक से अधिक हिस्सा हथियाना चाहते थे, जबकि लोग अपने राजा को भक्तिवश और उसकी वीरता और उपयोगिता के कारण स्वेच्छापूर्वक अधिक अंश दे देते थे। कबीले के सामान्य लोग जो हिस्सा पाते थे वह अंश या भाग कहलाता था। वितरण लोगों की आम सभा में किया जाता था जिसमें राजा और उसके गोतिये (कुल के सदस्य) उपस्थित रहते थे।

यद्यपि शिल्पी, किसान, पुरोहित और योद्धा ऋग्वेद के पुराने भागों में भी मिलते हैं, तथापि समाज कुल मिलाकर जनजातीय, पशुचारक, अर्धयायावर और समतानिष्ठ ही था। युद्ध में लूट और पशु, सम्पत्ति का मुख्य रूप था। पशु और दासियां अक्सर दान में दी जाती थीं। अन्नदान की चर्चा शायद ही हुई है। क्योंकि अनाज का उत्पादन अल्प मात्रा में होता था अत: युद्धों में होने वाली लूट के सिवा राजाओं और पुरोहितों के भरण-पोषण का कोई दूसरा साधन नहीं था। उच्च पद पाना संभव था, पर उच्च सामाजिक वर्ग पाना संभव नहीं था। राजाओं और पुरोहितों के यहाँ घरेलू काम के लिए दासियाँ रहती थीं, मगर उनकी संख्या अधिक नहीं होती। ऋग्वैदिक समाज में सेवकवर्ग के रूप में शूद्र का अस्तित्व नहीं था।

कृषि और उच्च वर्गों का उद्भव

जब वैदिक जन अफगानिस्तान और पंजाब से उत्तर प्रदेश की ओर बढ़े तब वे अधिकतर कृषक हो गए। उत्तर वैदिक काल में हम लगातार तीन-तीन सदियों से चली आ रही बस्तियाँ पाते हैं। इससे प्रदेशाश्रित लघु राज्यों का उदय हुआ। किसानों और अन्य लोगों से मिले राजांश (नज़राना) से राजा यज्ञ और पुरोहितों का संपोषण कर सकता था। उत्तर वैदिक काल में किसान शासकों और योद्धाओं को नजराना देते थे, फिर उनसे इस नज़राना का हिस्सा पुरोहितों को मिलता था, इसके अलावा उनसे पुरोहित यज्ञ की दक्षिणा भी पाते थे। किसान लोहारों, रथकारों और बढ़इयों का पेट भरते थे, जो मुख्यत: उभर रहे

योद्धाओं के वर्ग की आवश्यताओं की पूर्ति करने वाले थे। लेकिन उत्तर वैदिक किसान उतना पैदा नहीं कर सके जिससे व्यापार और नगर का उदय होता, जो बाद में बुद्ध के युग में आकर हुआ। उस समाज में धातु की मुद्रा नहीं आई थी।

वैदिक समुदाय में न तो कर-प्रणाली स्थापित हुई थी, न वैतनिक सैन्यव्यवस्था ही। राजा के नातेदारों के सिवा, कर वसूलने वाला कोई अधिकारी नहीं होता था। राजा को जो कुछ दिया जाता था वह वैसे ही दिया जाता था जैसे देवताओं को यज्ञादि में चढ़ावा दिया जाता था। पशुचारक समाज की जन-सेना के बदले बाद में कृषक समाज की किसान-सेना खड़ी हुई। विश् अर्थात् जनजातीय किसान-वर्ग ही सेना या सशस्त्र दल का काम करता था। उत्तर वैदिक काल में किसान-वर्ग बल अर्थात् सैन्य-शक्ति कहलाने लगा। अश्वमेध के घोड़े की रक्षा के लिए जो सेना चलती थी उसमें क्षत्रिय और विश् दोनों रहते थे। धनुष, तरकस और ढाल लिए क्षत्रिय सेनापति या अगुआ का काम करते थे और लाठी लिए विश् सिपाही का काम। राजा या क्षत्रिय से कहा गया है कि वे विजय के लिए विश् के साथ एक थाली में भोजन करें। पुरोहित लोग इस कामना से अनुष्ठान करते थे कि विश् अर्थात् किसान-वर्ग क्षत्रिय के वश में रहे। परंतु इस अवस्था में जनजातीय लोगों को करदाता किसान बनाने की प्रक्रिया बड़ी कमज़ोर थी। हल में लकड़ी के फाल होने और यज्ञों में पशुओं का अन्धाधुन्ध वध होने के कारण किसान लोग अपनी आवश्यकता से अधिक शायद ही कुछ उपजा पाते थे। इसलिए वे नियमित रूप से कर चुकाने में समर्थ नहीं थे। दूसरी ओर राजा किसानों से बिलकुल अलग नहीं थे। जनजातीय परिपाटी के अनुसार कृषि के विस्तार में राजा का योगदान आवश्यक होता था। इतना ही नहीं, राजाओं को अपने हाथ से हल भी चलाना पड़ता था। इस तरह वैश्यों और राजन्यों के बीच कोई गहरी खाई नहीं थी। यद्यपि शासक और योद्धा लोग अपने किसान बान्धवों पर शासन करते थे उन्हें शत्रुओं से लड़ने में किसानों की सेना पर निर्भर थे और वे जनजातीय किसानवर्ग की सहमति के बिना किसी को जमीन नहीं दे सकते थे। इन कारणों से वे कठिन स्थिति में रहते थे, तथा शासक और शासित के बीच अन्तर बढ़ा नहीं पा रहे थे।

उत्पादन और शासन की वर्णमूलक व्यवस्था

शिल्प और कृषि में लोहे के औज़ारों के प्रयोग से ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिससे ईसा-पूर्व छठी सदी में आकर, अपेक्षाकृत समताश्रित वैदिक समाज का कायापलट पूर्णत: कृषि-आधारित वर्ग-विभाजित समाज के रूप में हो गया। यद्यपि 600 ई. पू. में मध्य गंगा के मैदान के प्राक् वैदिक युग के वासी खेती से अच्छी तरह परिचित थे पर उनकी संख्या बहुत कम थी और उनके लोहे का प्रयोग अति सीमित था। मध्य-गंगा के मैदानों के जंगली इलाकों में आग और लोहे की कुल्हाड़ी के सहारे जंगलों का सफाया कर दिया गया। ये इलाका विश्व के सबसे अधिक उपजाऊ भागों में से है। जंगलों की सफाई से इस इलाके को आबाद करना संभव हो गया। 500 ई. पू. से यहाँ असंख्य गाँव और नगर बसे दिखाई देने लगे। बड़े-बड़े

जनपद-राज्य उदित हुए और इसके परिणामस्वरूप मगध साम्राज्य गठित हुआ। यह सब तभी संभव हुआ जब किसान लोहे की फालों, हँसियों और अन्य औज़ारों की मदद से अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित मात्रा से कहीं अधिक अनाज पैदा करने लगे। किसानों को शिल्पियों की मदद की आवश्यकता थी, क्योंकि वे किसानों को औज़ार, वस्त्र आदि वस्तुएँ मुहैया करते थे, साथ ही राजाओं और पुरोहितों को हथियार और विलास-वस्तुएँ उपलब्ध कराते थे। वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में कृषि की तकनीक कहीं अधिक उन्नत हो चली थी।

नई तकनीक और बल-प्रयोग की बदौलत कुछ लोगों ने बड़े-बड़े भूखंडों पर अपना कब्जा जमा लिया, जिन्हें आबाद करने के लिए बड़ी संख्या में दासों और कृषि-मज़दूरों की आवश्यकता थी। वैदिक काल में लोग अपने परिवार के लोगों की मदद से खेत आबाद करते थे। वैदिक साहित्य में मज़दूर (वेज अर्नर) के लिए कोई शब्द नहीं है। किंतु बुद्ध के युग में आकर खेती का काम दासों और मजदूरों से कराना आम बात हो गई थी। कौटिल्य की पुस्तक अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्य काल में दास और मज़दूर बड़े-बड़े राजकीय कृषिक्षेत्रों में काम करते थे। परंतु सामान्यत: प्राचीन भारत में दासों से केवल घरेलू काम लिया जाता था। आम तौर से, साधारण किसान ही उत्पादन चलाते थे। कभी-कभार वे दासों और मज़दूरों की मदद लेते थे।

अब किसानों, शिल्पियों, मज़दूरों और कृषिदासों ने मिलकर अपनी जरूरत से कहीं अधिक पैदा करना शुरू किया। इस पैदावार का अच्छा-खासा भाग राजा और पुरोहित ले लेते थे। करें की नियमित वसूली के लिए प्रशासनिक और धार्मिक दोनों तरीके निकाले गए। राजा ने करों के निर्धारण और वसूली के लिए कर संग्राहकों की नियुक्ति की। पर जनता में यह विश्वास जमा देना भी आवश्यक था कि राजा की आज्ञा मानना, कर चुकाना और पुरोहितों को दान देना श्रेयस्कर हैं। इसके लिए वर्णव्यवस्था लागू की गई। इसके अनुसार ऊपर के तीन वर्णों को धार्मिक अनुष्ठान के आधार पर चौथे वर्ण से अलग कर दिया गया। द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेद पढ़ने और यज्ञोपवीत संस्कार पाने के अधिकारी माने गए, परंतु शूद्र इससे वंचित कर दिया गया। शूद्रों का कर्त्तव्य अपने से ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना निर्धारित किया गया। कुछ स्मृतिकारों ने तो शूद्रों के लिए केवल दासता रख छोड़ी। इस स्थिति में द्विजों को 'नागरिक' और शूद्रों को 'अनागरिक' की संज्ञा दी जा सकती है। लेकिन द्विजों के बीच भी नागरिकों की श्रेणी के आधार पर अंतर आ गया। ब्राह्मणों के लिए हल जोतना निषिद्ध हो गया, शारीरिक श्रम इतना तुच्छ माना जाने लगा कि उन लोगों से भी घृणा की जाने लगी जो हाथ से शिल्पकर्म करते थे और इस प्रकार कुछ श्रमजीवी तो अछूत तक बना दिए गए। जो लोग शारीरिक श्रम से जितना ही हटे रहे उन्हें उतना ही अधिक पवित्र समझा जाने लगा। वैश्य द्विज होते हुए भी कृषि, पशुपालन और दस्तकारी करते थे और बाद में व्यापार भी करने लगे। गौर करने की बात यह है कि वे ही कर चुकाते थे जिसके सहारे क्षत्रियों और ब्राह्मणों का जीवन-निर्वाह होता था। वर्णव्यवस्था

के अनुसार क्षत्रियों को किसानों से कर और व्यापारियों एवं शिल्पियों से शुल्क वसूलने का अधिकार मिला और वे अपने कर्मचारियों तथा पुरोहितों को नकदी या जिन्सी पारिश्रमिक देने में समर्थ हुए।

हर वर्ण के लिए भुगतान की दर और आर्थिक सुविधा अलग-अलग निश्चित की गयी। उदाहरणार्थ ब्राह्मण को कर्ज पर ब्याज दो प्रतिशत लगता था, क्षत्रिय को तीन प्रतिशत, वैश्य को चार प्रतिशत और शूद्र को पाँच प्रतिशत। शूद्र वर्ण के अतिथि को तभी भोजन कराया जाता था जब वह घरवाले के काम में हाथ बँटाता था। धर्मशास्त्रों में निर्धारित ये नियम, हो सकता है कि कड़ाई के साथ पालित नहीं होते हों, परंतु इनसे यह संकेत मिलता है कि समाज के सामने किस तरह का आदर्श था।

चूँकि पुरोहित और राजा दोनों ही किसानों से उगाहे गए करों, नज़रानों, राजांशों और श्रमों पर जीते थे, इसलिए इन दोनों वर्गों के बीच कभी-कभी सामाजिक अधिशेष के बँटवारे में झगड़े हो जाया करते थे। समाज में अपने को सबसे ऊपर समझने वाले ब्राह्मणों के घमंड से क्षत्रियों को चोट पहुँचती होगी। लेकिन वैश्यों और शूद्रों के साथ विरोध होने पर ब्राह्मण और क्षत्रिय आपसी विरोध भूल कर एक हो जाते थे। प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है कि ब्राह्मणों के सहयोग के बिना क्षत्रियों का कल्याण नहीं होगा और क्षत्रियों के सहयोग के बिना ब्राह्मणों का कल्याण नहीं होगा, दोनों परस्पर सहयोग से ही फूल-फल सकेंगे और संसार पर शासन करेंगे।

सामाजिक संकट और भूस्वामी वर्ग का उदय

कई सदियों तक यह सामाजिक व्यवस्था गंगा के मैदानों और उनसे संलग्न क्षेत्रों में भली-भाँति चलती रही, जहाँ एक के बाद एक कई बड़े-बड़े राज्य बनते-बिगड़ते रहे। ईसा की पहली और दूसरी सदियों में वहाँ शानदार व्यापार और नगरीकरण दिखाई देता है। इस अवस्था में कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। पुरानी व्यवस्था लगभग तीसरी सदी में आकर अपने उत्कर्ष की चोटी पर पहुँच गई। लेकिन ऐसा लगता है कि यहाँ आकर इसकी प्रगतिशील भूमिका कमज़ोर पड़ गई। ईसा की तीसरी सदी के आस-पास पुराने सामाजिक संघटन में गहरा संकट आ पड़ा। इस संकट का चित्रण पुराणों के तीसरी-चौथी सदी से संबद्ध भागों में कलियुग वर्णन में मिलता है। कलियुग का लक्षण विभिन्न वर्णों या सामाजिक वर्गों के मिश्रण का होना बताया गया है, जिसे वर्णसंकर कहते हैं। इसका आशय यह हुआ कि वैश्यों और शूद्रों (किसानों, शिल्पियों और मज़दूरों) ने अपने ऊपर सौंपें गए उत्पादन-कार्य करने बंद कर दिए, अर्थात् वैश्य किसानों ने कर चुकाना रोक दिया और शूद्रों ने मज़दूरी करना छोड़ दिया। वे विवाह आदि सामाजिक संबंधों में वर्णसम्बन्धी प्रतिबन्धों की उपेक्षा करने लगे। ऐसी स्थिति को देखकर रामायण और महाभारत में दण्ड या दमन-नीति पर जोर दिया गया और मनु ने बताया कि वैश्यों और शूद्रों को अपने-अपने कर्त्तव्यों से विचलित नहीं होने दिया जाए। राजा वर्णव्यवस्था के रक्षक और उद्धारक के रूप में सामने आने लगे।

परंतु केवल दमनात्मक कार्रवाई से ही यह संभव नहीं था कि किसान कर चुकाते रहें और मज़दूर मज़दूरी करते रहें। राज्य के लिए यह सुविधाजनक था कि वे अपने कारिंदों से सारा राजस्व वसूल नहीं करवाए। राज्य ने भूमि भोगने का अधिकार सीधे अब पुरोहितों, सेनापतियों, प्रशासकों आदि को सौंप दिया। यह व्यवस्था वैदिक परंपरा से एकदम भिन्न तरह की थी। अतीत में पुरोहितों और शायद अपने सरदार या राजा को भी भूमि देने का अधिकार केवल जन-समुदाय के हाथ में था। लेकिन अब राजा ने यह अधिकार छीन कर अपने हाथ में ले लिया और समुदाय के कुछ शक्तिशाली सदस्यों को भूमि देकर कृतज्ञ बना लिया। इन भूस्वामी हितधिकारियों को शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने की शक्ति भी सौंप दी गई। इसी उपाय से वित्तीय और प्रशासनिक समस्याओं का समाधान कर लिया गया। नए और फैलते राजवाड़े अधिकाधिक कर-संग्रह चाहते थे। ऐसा कर-संग्रह पिछड़े क्षेत्रों से हो सकता था और यह तभी संभव था जब जनजाति लोगों में खेती के नए तरीके चलाए जाएँ और उन्हें सिखा-पढाकर राजभक्त बनाया जाए। इस समस्या का समाधान जनजातीय क्षेत्रों में ऐसे उद्यमी ब्राह्मणों को भूमिअनुदान देकर किया गया जो जंगली इलाकों में बसनेवाले लोगों को वश में करके अनुशासित बना सकें।

पिछड़े हुए इलाकों में ब्राह्मणों और दूसरों को भूमिअनुदान देने से कृषि-पंचांग का ज्ञान फैला और आयुर्वेद का प्रचार हुआ जिससे कृषि-उत्पादन में समग्र रूप से वृद्धि हुई। लेखन-कला तथा प्राकृत और संस्कृत भाषाओं के व्यवहार का भी प्रसार हुआ। भूमिअनुदानों से सुदूर दक्षिण और सुदूर पूर्व में सभ्यता फैली, हालांकि इस दिशा में कुछ काम व्यापारियों ने तथा जैनों और बौद्धों ने पहले भी कर रखा था। भूमिअनुदानों से जनजातीय किसान भारी संख्या में ब्रह्मणीय समाज में आ गए, जिन्हें शूद्र वर्ग में रखा गया। इसीलिए पूर्व मध्यकाल के ग्रन्थों में शूद्रों को किसान और कृषक कहा जाने लगा। दूसरी ओर भूमिअनुदान से, खासकर विकसित क्षेत्रों में, स्वतंत्र वैश्य किसानों की दशा गिर गई। इस प्रकार गुप्तकाल के बाद वैश्य और शूद्र सामाजिक और आर्थिक दोनों पहलुओं में एक दूसरे के निकट आ गए। लेकिन भूमिअनुदान का सबसे अधिक महत्व का परिणाम हुआ किसानों की उपज पर पलने वाले भूस्वामियों के नये वर्ग का उदय। इसने पाँचवीं-छठी सदियों के आसपास ऐसी पृष्ठभूमि बनाई जिस पर सामन्ती ढंग का सामाजिक ढाँचा खड़ा हुआ।

सामन्ती ढाँचे में भूस्वामियों और योद्धाओं के वर्ग की स्त्रियों की दशा बिगड़ी। पूर्व मध्यकाल में राजस्थान में सती प्रथा जोर से चल पड़ी। लेकिन निचले वर्गों की स्त्रियों को आर्थिक क्रियाकलाप में भाग लेने और पुनर्विवाह करने की छूट थी।

सारांश

इसलिए प्राचीन भारत के समाज को कोई एक सिलसिला लगा देना संभव नहीं है। हमें इसके विकास के विविध चरणों पर नजर डालनी होगी। पहले पुरापाषाण युग का खाद्य-संग्राहक समाज था, तब उसकी जगह नवपाषाण युग और ताम्रपाषाण युग के खाद्य-उत्पादक समाज बने। धीरे-धीरे किसान

समुदाय विकास करते-करते हड़प्पाई नगर समाजों के रूप में परिणत हो गए। इसके बाद विकास की धारा कुछ रुकी और फिर अश्वारोही और पशुपालक समाज बना। ऋग्वेद में जो सामाजिक ढांचा दिखाई देता है वह अधिकांशतः पशुचारक और जनजातीय था। उत्तर वैदिक काल में जाकर पशुचारक समाज बदलकर कृषिमूलक समाज हो गया, लेकिन इसकी आदिकालीन कृषि अधिक उपज देने वाली नहीं थी, इसलिए शासक लोग किसानों का दोहन करके कुछ अधिक प्राप्त नहीं कर सकते थे। वर्ग-विभाजित समाज वैदिकोत्तर काल में पूरा-पूरा निखरा। यह वर्णव्यवस्था के नाम से विदित हुआ। इस सामाजिक ढाँचे के मूलाधार थे–शूद्रों और वैश्यों के उत्पादनात्मक कार्यकलाप। मोटे तौर पर यह सामाजिक व्यवस्था बुद्ध काल से गुप्त काल तक भली-भाँति चलती रही। इसके बाद कुछ आंतरिक खलबली के कारण बदलाव आया। पुरोहितों और अधिकारियों को उनके भरण-पोषण के लिए भूमि दी जाने लगी और धीरे-धीरे भूस्वामियों का वर्ग किसान और राज्य के बीच खड़ा हो गया। इससे वैश्यों की स्थिति बिगड़ गई और वर्णव्यवस्था में परिवर्तन हुआ।

अभ्यास

1. प्राचीन काल में भारतीय समाज किन-किन प्रमुख अवस्थाओं से गुजरते हुए विकसित हुआ?
2. हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद लगभग एक हजार वर्षों तक भारत में नगर का अभाव क्यों रहा?
3. ऋग्वेदकालीन समाज को पशुचारक और जनजातीय क्यों कहते हैं?
4. भारत की ऐतिहासिक गतिविधि पर लोहे के इस्तेमाल का क्या प्रभाव पड़ा?
5. उन कारकों का वर्णन करें जिनके चलते प्राचीन भारत में सामाजिक असमानताएँ उदित हुईं। ये असमानताएँ समाज के संघटन में किस तरह व्यक्त हुई हैं? किन-किन विशिष्ट विषयों में भारतीय समाज-व्यवस्था पश्चिम यूरोप की प्राचीन समाज व्यवस्थाओं से भिन्न है?
6. प्राचीन काल में भारतीय समाज के विकास में भूमिअनुदान की क्या भूमिका रही? इसका विवेचन करें।

अध्याय 29

विज्ञान और सभ्यता की विरासत

धर्म

प्रकृति के साथ मानव का सामना होने के परिणामस्वरूप बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। लोगों को अपनी जीविका प्राप्त करने में जंगल, पहाड़, कड़ी मिट्टी, सूखा, बाढ़, पशु आदि से होने वाली कठिनाइयों से निपटना पड़ा। इस काल में उन्होंने प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास किया लेकिन कई कठिनाइयों पर काबू पाना असंभव मालूम हुआ और प्रकृति की लीलाएँ समझ के बाहर प्रतीत हुईं। इसलिए अन्ततोगत्वा लोगों को प्रकृति के साथ समझौता कर लेना पड़ा। अपने सारे प्रयासों के बावजूद लोगों को प्रकृति के विविध वरदानों पर निर्भर रहना पड़ा, जैसे मिट्टी की उर्वरता, समय पर वर्षा होना आदि। प्रकृति की कृपालुता और क्रूरता दोनों ने मानव को धर्म और अलौकिक शक्ति के विषय में सोचने को बाध्य किया।

भारत में ब्राह्मण धर्म या हिन्दू धर्म पूर्व काल में प्रभावशाली रूप में विकसित हुआ। इसने कला और साहित्य के साथ समाज को भी प्रभावित किया। ब्राह्मणीय धर्म के साथ-साथ भारत में जैन और बौद्ध धर्म भी उदित हुए। यद्यपि ईसाई धर्म इस देश में ईसा की पहली सदी के आसपास ही आया, फिर भी प्राचीन काल में यह अधिक आगे नहीं बढ़ पाया। बौद्ध धर्म भी धीरे-धीरे इस देश से गायब हो गया, हालाँकि यह बढ़ते-बढ़ते पूरब में जापान तक और पश्चिमोत्तर में मध्य एशिया तक फैल चुका था। अपने प्रचार-प्रसार के क्रम में बौद्ध धर्म ने पड़ोसी क्षेत्रों को भारतीय कला, भाषा और साहित्य से उद्भासित किया। जैन धर्म भारत में टिका रहा और यहाँ की कला और साहित्य के विकास में प्रेरणा देता रहा। आज भी इस धर्म के अनुयायी लोग विशेष कर व्यापारी वर्गों में, राजस्थान, गुजरात और कर्नाटक में काफी संख्या में हैं।

वर्णव्यवस्था

भारत में धर्म के प्रभाव से विशेष प्रकार के सामाजिक वर्गों का गठन हुआ। अन्य प्राचीन समाजों में विभिन्न सामाजिक वर्गों के कर्त्तव्यों का निर्धारण कानून के ज़रिए हुआ और उसे अमल में लाने वाला राज्य था। परंतु भारत में वर्णसंबंधी नियमों को राज्य और धर्म दोनों का समर्थन प्राप्त था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के कर्त्तव्य तो विधि द्वारा सुपरिसीमित

किए हुए थे, और ऐसा विश्वास प्रचलित था कि यह वर्णव्यवस्था दैवी शक्ति द्वारा निश्चित की गई है। जो कोई अपने निर्धारित कर्त्तव्यों से च्युत होता था और अपराधी पाया जाता था उसे लौकिक दंड तो भोगना ही पड़ता था, साथ-साथ प्रायश्चित्त अर्थात् धार्मिक शुद्धि भी करनी पड़ती थी और ये दंड अपराधी के वर्ण के अनुसार भिन्न-भिन्न कोटि के होते थे। हर वर्ण की न केवल सामाजिक पहचान, बल्कि अनुष्ठानिक पहचान भी थी। धीरे-धीरे कानून और धर्म दोनों ने वर्णों और जातियों को कर्ममूलक से जन्ममूलक या आनुवंशिक बना दिया। यह सब इसलिए किया गया कि वैश्य उत्पादन करते और कर चुकाते रहें और शूद्र मज़दूरी में खटते रहें ताकि ब्राह्मण पुरोहितों के पद पर बने रहें और क्षत्रिय शासकों के पद पर। श्रम-विभाजन और व्यवसाय के विशेषीकरण के सिद्धांत पर टिकी यह अद्भुत वर्णव्यवस्था आरंभिक अवस्था में अवश्य ही सामाजिक और आर्थिक विकास में सहायक हुई। वर्णव्यवस्था का हाथ राज्य के विकास में भी रहा। उत्पादक वर्ग और श्रमिक वर्ग अर्थात् वैश्य और शूद्र दोनों अस्त्रहीन कर दिए गए, और धीरे-धीरे ऊँच-नीच के रूप में हर जाति दूसरी जाति के विरुद्ध इस तरह खड़ी कर दी गई कि शोषित वर्ग सुविधाभोगी वर्गों के खिलाफ एकजुट न होने पाएँ।

अपने-अपने कर्त्तव्यों में लगे रहने में ही कल्याण है ऐसी धारणा विभिन्न वर्गों के मन में इस तरह बद्धमूल हो गई थी कि सामान्यत: वे अपने धर्म से विचलित होने की बात सोच भी नहीं सकते थे। **भगवद्गीता** सिखाती है कि दूसरे का धर्म अपनाने के बदले धर्म की रक्षा के लिए मर जाना अच्छा है क्योंकि दूसरे धर्म को अपनाने का परिणाम संकटपूर्ण होता है। निम्न वर्णों के लोग अपने कठिन कर्त्तव्य का पालन इस दृढ़ विश्वास के साथ करते रहे कि अगले जन्म में वे सुख की जिन्दगी पाएँगे। इस विश्वास के फलस्वरूप एक ओर पैदा करके सबको खिलानेवालों और दूसरी ओर बिना कुछ किए मुफ्त का खानेवाले राजाओं, पुरोहितों, अधिकारियों, सेनानियों और बड़े-बड़े श्रेष्ठ व्यक्तियों के बीच लड़ाई-झगड़े बहुत ही कम हुए। इसीलिए निम्न वर्णों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती की सीधी कार्रवाई प्राचीन भारत में बहुत आवश्यक नहीं हुई। जो कुछ भी यूनान और रोम में गुलामों और अन्य उत्पादक वर्गों से कोड़े का डर दिखाकर कराया जाता था, वह यहाँ के वैश्य और शूद्र स्वत: करते थे, क्योंकि ब्राह्मण धर्म और वर्णव्यवस्था ने उनके दिमाग में ऐसी ही धारणा जमा दी थी।

दार्शनिक पद्धतियाँ

भारतीय चिन्तकों ने संसार को माया समझा तथा आत्मा और परमात्मा के बीच के संबंधों की गम्भीर विवेचना की। वास्तव में इस विषय का जितना गहन चिंतन भारतीय दार्शनिकों ने किया उतना किसी अन्य देश के दार्शनिकों ने नहीं। प्राचीन भारत दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में अपने योगदान के लिए प्रसिद्ध माना जाता है। परंतु भारत में जगत् के विषय में भौतिकवादी विचारधारा भी विकसित हुई। भारत में उदित छह दार्शनिक पद्धतियों के बीच हम भौतिकवादी दर्शन के तत्व सांख्य में पाते हैं, जिसके संस्थापक कपिल का जन्म 580 ई. पू. के आसपास हुआ था। उनके अनुसार आत्मज्ञान के साधन हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। सांख्यदर्शन में ईश्वर

का अस्तित्व नहीं माना गया है। इसके अनुसार संसार की सृष्टि ईश्वर ने नहीं, प्रकृति ने की है तथा संसार और मानव जीवन की नियामिका स्वयं प्रकृति है।

भौतिकवादी दर्शन को ठोस बनाने का सबसे बड़ा श्रेय चार्वाक को है, जो ईसा पूर्व छठी सदी के आसपास हुए थे। उन्होंने जिस दर्शन की स्थापना की वह **लोकायत** कहलाता है। उनका मत है कि जिसका अनुभव मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा नहीं कर सकता है उसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। लेकिन व्यापार, शिल्प और नगरीकरण में ह्रास होने के साथ ही दर्शन में प्रत्ययवाद की प्रमुखता हो गई। प्रत्ययवादी दर्शन बताता है कि संसार माया और भ्रम है। उपनिषदों में लोगों को उपदेश दिया गया है कि सांसारिक विषयों से दूर रहें और ज्ञान पाने की चेष्टा करें। पाश्चात्य चिंतकों ने उपनिषदों को अपनाया है क्योंकि वे आज के यान्त्रिक युग द्वारा खड़ी की गई समस्याओं का समाधान कर पाने में असमर्थ हैं। प्रख्यात जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर ने अपनी दार्शनिक विचारधारा में वेदों और उपनिषदों को भी स्थान दिया है। वह कहा करते थे कि उपनिषदों ने उन्हें इस जन्म में दिलासा दी है और मृत्यु के बाद भी देती रहेंगी।

शिल्प और प्रौद्योगिकी

यह कहना गलत होगा कि भारतीयों ने भौतिक संस्कृति में कोई प्रगति नहीं की। उन्होंने उत्पादन के कई क्षेत्रों में निपुणता प्राप्त की। भारतीय शिल्पी रंगाई करने तथा तरह-तरह के रंग बनाने में परम दक्ष थे। भारत में बनाए गए मूल रंग इतने चमकीले और पक्के होते थे कि अजंता और एलोरा के मोहक चित्र आज भी ज्यों के त्यों हैं।

इसी तरह भारत के लोग इस्पात बनाने में भी परम कुशल थे। इस्पात बनाने की कला सबसे पहले भारत में ही विकसित हुई। भारतीय इस्पात का अन्य देशों में निर्यात प्राचीन काल में होने लगा और बाद में आकर वह **उत्स** (Wootz) कहलाने लगा। विश्व का कोई अन्य देश इस्पात की वैसी तलवारें नहीं बना सकता था जैसी भारतीय शिल्पी बनाते थे। पूर्वी एशिया से लेकर पूर्वी यूरोप तक इन तलवारों की भारी माँग थी।

राजतंत्र

कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** से इस बात में कोई शंका नहीं रह गई है कि भारत के लोग विशाल साम्राज्य का प्रशासन चला सकते थे और जटिल समाज की समस्याओं को हल कर सकते थे। देश ने अशोक के रूप में महान शासक पैदा किया, जिसने कलिंग पर शानदार विजय पाकर भी शान्ति और अनाक्रमण की नीति अपनाई। अशोक और कई अन्य भारतीय राजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया और बताया कि अन्य धर्मों के अनुयायियों की भावना का आदर किया जाए। यूनान के अलावा भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ किसी-न-किसी प्रकार के गणतन्त्र का प्रयोग-परीक्षण किया गया हो।

विज्ञान और गणित

भारत का विज्ञान में महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्राचीन काल में धर्म और विज्ञान आपस में गुँथे-से

थे। इस देश में खगोल-विद्या में इसलिए बहुत प्रगति हुई कि ग्रह देवता माने जाने लगे थे और उनकी गति का गहन अवलोकन आरंभ हो गया। ग्रहों का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक हो गया कि उनका ऋतुओं और मौसमों के परिवर्तनों से संबंध था और इन परिवर्तनों की जानकारी खेती के काम में आवश्यक थी। व्याकरण और भाषाविज्ञान का उद्भव इसलिए हुआ कि ब्राह्मण पुरोहित वेद की ऋचाओं और मन्त्रों के उच्चारण की शुद्धता को बहुत महत्त्व देते थे। वास्तव में भाषा के संबंध में भारतीयों की वैज्ञानिक दृष्टि का प्रथम फल संस्कृत व्याकरण की रचना में पाया जाता है। ईसा-पूर्व चौथी सदी में संस्कृत भाषा के नियमों को सुव्यवस्थित रूप से संचित करके पाणिनि ने व्याकरण लिखा जो **अष्टाध्यायी** के नाम से प्रख्यात है।

ईसा-पूर्व तीसरी सदी में आकर गणित, खगोल-विद्या और आयुर्विज्ञान तीनों का विकास अलग-अलग आरंभ हुआ। गणित के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों ने तीन विशिष्ट योगदान किए—अंकन पद्धति, दाशमिक पद्धति और शून्य का प्रयोग। दाशमिक पद्धति के प्रयोग का सबसे पुराना उदाहरण ईसा की पाँचवीं सदी के आरंभ का है। भारतीय अंकन पद्धति को अरबों ने अपनाया और उसको पश्चिमी दुनिया में फैलाया। अंग्रेजी में भारतीय अंकमाला को अरबी अंक (अरेबिक न्यूमरल्स) कहते हैं, किन्तु अरबों ने स्वयं अपनी अंकमाला को **हिंदसा** कहा। पश्चिमी देशों में इस अंकमाला का प्रचार होने के सदियों पहले से भारत में इसका प्रयोग हुआ। इसका प्रयोग अशोक के अभिलेखों मे पाया जाता है, जो ईसा-पूर्व तीसरी सदी में लिखे गए।

दाशमिक पद्धति का प्रयोग सबसे पहले भारतीयों ने किया। प्रख्यात गणितशास्त्री आर्यभट (376-500 ई.) इससे परिचित थे। चीनियों ने यह पद्धति बौद्ध धर्मप्रचारकों से सीखी और पश्चिम जगत ने अरबों से सीखी जब वे भारत के संपर्क में आए। शून्य का आविष्कार भारतीयों ने ईसा-पूर्व दूसरी सदी में किया। जबसे इसका आविष्कार हुआ, भारतीय गणितज्ञ इसको पृथक् अंक समझने लगे और इस रूप में शून्य का प्रयोग अंकगणना में होने लगा। अरब देश में शून्य का प्रयोग सबसे पहले 873 ई. में पाया जाता है। अरबों ने इसे भारत से सीखा और यूरोप में फैलाया। बीजगणित में भारतीय और यूनानी दोनों का योगदान रहा है परन्तु पश्चिम यूरोप में उसका ज्ञान यूनान से नहीं, बल्कि अरब से मिला, जो अरब ने भारत से प्राप्त किया था।

हड़प्पा में बनी ईंट की इमारतों से प्रकट होता है कि पश्चिमोत्तर भारत में लोगों को मापन और ज्यामिति का अच्छा ज्ञान था। बाद में वैदिक लोगों ने इस ज्ञान से लाभ उठाया होगा, जो ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी के आसपास के **शुल्वसूत्रों** में दिखाई देता है। ईसा-पूर्व दूसरी सदी में राजाओं के उपयुक्त यज्ञवेदी बनाने के लिए आपस्तम्ब ने व्यावहारिक ज्यामिति की रचना की। इसमें न्यूनकोण, अधिककोण और समकोण का वर्णन किया गया है। आर्यभट ने त्रिभुज का क्षेत्रफल जानने का नियम निकाला जिसके फलस्वरूप त्रिकोणमिति का जन्म हुआ। इस काल की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है **सूर्यसिद्धांत**। समकालीन प्राचीन पूरब में इस तरह की कोई दूसरी कृति नहीं पाई गई है।

खगोल शास्त्र में आर्यभट और वराहमिहिर दो महान् विद्वान हुए। आर्यभट पाँचवीं सदी में हुए और वराहमिहिर छठी सदी में। आर्यभट ने बेबिलोनियाई विधि से ग्रह-स्थिति की गणना की। उसने चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के कारण का पता लगाया। उसने अनुमान के आधार पर पृथ्वी की परिधि का मान निकाला जो आज भी शुद्ध माना जाता है। उसने बताया कि सूर्य स्थिर है, पृथ्वी घूमती है। आर्यभट की पुस्तक का नाम **आर्यभटीय** है।

वराहमिहिर की सुविख्यात कृति है बृहत्संहिता। यह ईसा की छठी सदी की है। वराहमिहिर ने बताया कि चन्द्र पृथ्वी का चक्कर लगाता है और पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है। उसने ग्रहों के संचार और अन्य खगोलीय समस्याओं के अध्ययन में यूनानियों की अनेक कृतियों का सहारा लिया। यद्यपि भारतीय खगोल-शास्त्रियों ने यूनानियों के ज्ञान से लाभ उठाया तथापि उसने इस ज्ञान को आगे बढ़ाया और ग्रहों की गति के अवलोकन में इस ज्ञान का प्रयोग किया।

प्रायौगिक विज्ञान के क्षेत्र में, भारतीय शिल्पियों ने रसायनविद्या की प्रगति में बहुत योगदान दिया। भारतीय रंगरेजों ने टिकाऊ रंगों का विकास किया और नील का आविष्कार किया। पहले बताया जा चुका है कि भारतीय लोहारों ने किस प्रकार दुनिया में सबसे पहले इस्पात का निर्माण किया।

आयुर्विज्ञान

प्राचीन भारत में वैद्यों ने शरीर-रचना विज्ञान (एनेटॉमी) का अध्ययन किया। उन्होंने रोगों के निदान की विधियाँ बनाईं और इलाज के लिए औषधि (दवा) बताई। औषधों का उल्लेख सबसे पहले **अथर्ववेद** में मिलता है। परंतु अन्य प्राचीन समाजों की भांति, बताए गए उपचारों में जादू-टोना और तंत्र-मंत्र भी भर गए और आयुर्विज्ञान का विकास वैज्ञानिक रीति से नहीं हुआ।

ईसा की दूसरी सदी में भारत में आयुर्वेद के दो महान् विद्वान उत्पन्न हुए, सुश्रुत और चरक। अपनी **सुश्रुतसंहिता** में सुश्रुत ने मोतियाबिन्द, पथरी तथा और कई रोगों का शल्योपचार बताया है। उन्होंने शल्य-क्रिया के 121 उपकरणों का उल्लेख किया है। रोगों के इलाज के लिए उन्होंने आहार और सफाई पर जोर दिया है। चरक की **चरकसंहिता** भारतीय चिकित्साशास्त्र का विश्वकोश है। इसमें ज्वर, कुष्ठ, मिरगी और यक्ष्मा के अनेक भेदोपभेदों का वर्णन है। शायद चरक यह नहीं जानते थे कि इनमें कुछ बीमारियाँ छूत से भी फैलती हैं। इनकी पुस्तक में भारी संख्या में उन पेड़-पौधों का वर्णन है जिनका प्रयोग दवा के रूप में होता है। इस प्रकार यह पुस्तक न केवल भारतीय आयुर्विज्ञान के अध्ययन के लिए, बल्कि प्राचीन भारत के वनस्पति और रसायन शास्त्र के अध्ययन के लिए भी उपयोगी है। बाद की सदियों में भारत में आयुर्विज्ञान का विकास चरक के बताए मार्ग पर होता रहा।

भूगोल

भूगोल के अध्ययन में भी प्राचीन भारत के लोगों का कुछ योगदान है। उन्हें भारत से बाहर की दुनिया का भौगौलिक ज्ञान अत्यल्प था, परन्तु देश के विभिन्न प्रदेशों की नदियों, पर्वतों और तीर्थ

स्थलों का विशद वर्णन **रामायण, महाभारत** और पुराणों में मिलता है। यद्यपि भारत के लोग चीन और पश्चिमी देशों के बारे में कुछ-कुछ जानते थे, पर उन्हें इस बात का कोई विशेष ज्ञान नहीं था कि ये देश कहाँ और भारत से कितनी दूर हैं।

पूर्व काल में प्राचीन भारतीयों को समुद्रयात्रा का कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने जहाज़ बनाने की कला में कुछ योगदान दिया। परन्तु चूँकि बड़ी-बड़ी राजनीतिक शक्तियों के केन्द्रस्थल समुद्रतट से बहुत दूर थे और समुद्र की ओर से कोई खतरा नहीं था, इसलिए प्राचीन भारत के राजाओं ने नौपरिवहन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

कला और साहित्य

प्राचीन भारत के राजमिस्त्री और शिल्पी सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियाँ बनाते थे। अशोक द्वारा बनवाए गए अखंड प्रस्तर के स्तंभ अपनी चमकदार पालिश के लिए प्रसिद्ध हैं और उनकी पालिश की तुलना उत्तरी काले पालिशदार मृद्भांड (एन०बी०पी०डब्ल्यू) की पालिश से की जा सकती है। यह अब भी रहस्य बना हुआ है कि शिल्पकारों ने स्तंभों और मृद्भांडों पर कैसे इस तरह की पालिश की। मौर्यकालीन पालिशदार स्तंभों के शीर्ष पर पशुओं, विशेषकर सिंहों की मूर्तियाँ हैं। सिंह की मूर्ति वाले स्तंभशीर्ष को भारत सरकार ने राष्ट्रीय चिह्न स्वीकार किया है। अजन्ता के गुहा-मंदिरों और विख्यात चित्रों का उल्लेख यहाँ गौरव के साथ किया जा सकता है, जो ईसवी सन् के आरंभ काल के हैं। एक प्रकार से अजन्ता एशियाई कला का जन्मस्थान है। वहाँ ईसा-पूर्व दूसरी और ईसा की सातवीं सदियों के बीच अनेक गुहा-मंदिर बने जिनकी संख्या 30 तक है। चित्रों की रचना ईसा की दूसरी सदी में शुरू हुई। अधिकतर चित्र गुप्तकाल के बने हैं। उनके विषय **जातक** कथाओं और प्राचीन साहित्यों से लिए गए हैं। अजन्ता के चित्रकारों की उपलब्धियों की सराहना सभी कला-मर्मज्ञों ने मुक्त कंठ से की है। अजन्ता की रेखाएँ और रंग ऐसी निपुणता प्रदर्शित करते हैं जो यूरोपीय पुनर्जागरण के पहले संसार भर में कहीं नहीं पाई गई हैं। इतना ही नहीं, भारतीय कला भारत के भीतर ही नहीं समाई रही, वह एक ओर मध्य एशिया और चीन तक तथा दूसरी ओर दक्षिण-पूर्व एशिया तक फैल गई। अफगानिस्तान और मध्य एशिया के पड़ोसी भाग में भारतीय कला के प्रसार का केन्द्र-बिन्दु गंधार था। भारतीय कला और यूनानी कला दोनों के तत्वों के सम्मिश्रण से एक नई कला-शैली का जन्म हुआ जो गंधार शैली के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्ध की पहली प्रतिमा इसी शैली में बनी है। उनके नाक-नक्श तो भारतीय हैं, लेकिन उनके आकार में तथा सिर की रचना और वस्त्र-विन्यास में यूनानी प्रभाव दिखाई देता है। इसी प्रकार दक्षिण भारत में बने मंदिर तो दक्षिण-पूर्व एशिया में मंदिर-निर्माण के आदर्श ही बन गए। हम कम्बोडिया में अंकोरवट के मंदिर और जावा में बोरोबुदुर के मंदिर की चर्चा कर चुके हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में नालंदा का महाविहार उल्लेखनीय है। वहाँ न केवल भारत के विभिन्न भागों से, बल्कि तिब्बत और चीन से भी बौद्ध छात्र पढ़ने के लिए आते थे। परीक्षा का मानदण्ड कड़ा था। इसमें प्रवेश केवल उन्हीं का होता था

जो **द्वाारपण्डित** द्वारा ली गई परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे। नालंदा का महाविहार आवासीय-सह-शिक्षण संस्थान का सबसे प्राचीन उदाहरण है, जहाँ विद्या, दर्शन और ध्यान के प्रति समर्पित हजारों भिक्षु रहते थे।

साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों ने **ऋग्वेद** की रचना की जो हिन्द-आर्य साहित्य की सबसे पुरानी कृति है और जिसके आधार पर आर्य संस्कृति का स्वरूप अवधारित करने की चेष्टा की गई है। गुप्त काल में हम कालिदास की कृतियाँ पाते हैं। कालिदास के नाटक **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** का अनुवाद विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में हुआ है।

अभ्यास

1. प्राचीन भारत धर्म और दर्शन में हमें क्या दे गया?
2. सामाजिक संघटन की वर्णमूलक विशेषताओं का वर्णन करें।
3. बताएँ कि विज्ञान, गणित और चिकित्साशास्त्र में प्राचीन भारत का योगदान क्या है। इस विषय की एक समूह परियोजना के लिए ऐसी पुस्तकों का अवलोकन करें जो प्राचीन भारत के विज्ञान विषयक इतिहास पर लिखी गई हैं।
4. प्राचीन भारत में लिखी गई साहित्यिक कृतियों की सूची बनाएँ।
5. भाषा के अध्ययन में प्राचीन भारत का क्या योगदान है?
6. प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी या शिल्पकौशल में हुए विकासों का वर्णन करें।
7. चार्ट बनाकर दिखाएँ कि प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में ललितकला और वास्तुकला का विकास किस क्रम से हुआ।
8. विवेचन करें कि प्राचीन भारतीय कला और साहित्य में धर्म का क्या योगदान है।